Uttar Pradesh Rajarshi Tandon
Open University

# UGHY -104 /CSSHY-03

## भारत : 16 वीं से 18 वीं शताब्दी के मध्य तक

खंड

# 1

## उत्पादन और व्यापार


इकाई 21

कृषि उत्पादन 5

इकाई 22

गैर-कृषि उत्पादन 16

इकाई 23

आंतरिक और विदेशी व्यापार 29

इकाई 24

व्यापार के कार्मिक, और वाणिज्यिक गतिविधियां 43

इकाई 25

.यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियां 54

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें 71


NMDC-288

## विशेषज्ञ समिति

प्रो. के.एन. पणिक्कर (अध्यक्ष)
प्रो. बी.डी. चट्टोपाध्याय
प्रो. एम. भट्टाचार्य
इतिहास अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. त्रिजेन्द्र त्रिपाठी
भारतीय मैनेजमेंट इन्स्टीट्यूट
अहमदाबाद

प्रो. सुचेता महाजन
इतिहास विभाग
बंबई विश्वविद्यालय
बंबई

प्रो. सुधीर चंद्र
सामाजिक अध्ययन केंद्र
सूरत

प्रो. अभिजित रे
इल्नामी इतिहास तथा संस्कृति विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता

प्रो. ज्ञान पांडेय
इतिहास विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. आलोक कुमार सेन
इतिहास विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

डॉ. अख्तर रज़ा खान
इ.गां.रा.मु.वि.

प्रो. कपिल कुमार (संयोजक)
इ.गां.रा.मु.वि.
नई दिल्ली

## पाठ्यक्रम समिति

डा. अख्तर रज़ा खां
डा. आभा सिंह
सुश्री संगीता पांडे
} पाठ्यक्रम संयोजक

## खंड निर्माण समिति

| इकाई सं. | लेखक | संपादक मंडल |
|---|---|---|
| 21 | डा. ए. आर. खां<br>सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ<br>इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय<br>नई दिल्ली | डॉ. आभा सिंह<br>इ.गां.रा.मु.वि. |
| 22. | प्रो. सुरेन्द्र गोपाल<br>इतिहास विभाग<br>पटना विश्वविद्यालय<br>पटना | डा. ए. आर. खां |
| 23. | डॉ ए. आर. खां<br>सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ<br>इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय<br>नई दिल्ली | सुश्री संगीता पांडे |
| 24. | डॉ. ए. आर. खां<br>सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ<br>इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय<br>नई दिल्ली | डॉ. आभा सिंह |
| 25. | डॉ. आभा सिंह<br>सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ<br>इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय<br>नई दिल्ली | डॉ. ए. आर. खां |

पाठ्यक्रम संपादक
डॉ. ए. आर. खां
इतिहास विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय
अलीगढ़

## अनुवाद

श्रीमती सीमा कुमारी

संपादक मंडल
इ.गां.रा.मु.वि.
डा. अख्तर रज़ा खां
डा. आभा सिंह
सुश्री संगीता पांडे

## सामग्री निर्माण

प्रोफेसर पार्थ नायक
निदेशक
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

*मई, 1998 (पुनः मुद्रित)*

*© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1994*

ISBN-81-7263-634-2

*सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति बिना किसी मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।*

*इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के विषय में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के जनसंपर्क प्रभाग से, नई दिल्ली-110068 से प्राप्त की जा सकती है।*

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से डॉ0 अरूण कुमार गुप्ता, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित–2021

मुद्रक : के0सी0प्रिंटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी, मथुरा–281003.

NMDC-268

UGHY-104/CSSHY-03/2

# खण्ड 6 उत्पादन और व्यापार

खंड 5 : के समान यह खंड भी महत्व है। इस खंड में पांच इकाइयाँ हैं।
इकाइ 21 में आप कृषि उत्पादनक के क्षेत्र में फसलों आदि के बारे में पढ़ेंगे। यूरोपीय भारत में कुछ नयी फसलें ( उदाहरण के लिए तम्बाकू ) लेकर आए थे। यूरोप में माँग बढ़ने के कारण नील जैसी स्थापित फसलों के उत्पादन में का वृद्धि हुई।

इकाई 22 में गैर कृषि उत्पादन की चर्चा की गई है। यह गौर करने की बात है कि अधिकांश गैर कृषि क्षेत्र का उत्पादन कृषि क्षेत्र पर निर्भर करता था। मसलन कपड़ा के लिए कपास, नीले रंग के लिए नील, चीनी के लिए गन्ना, तिलहन से तेल आदि। इस इकाई में हीरा खनन, गोरा और धातु विज्ञान आदि की भी चर्चा की गई।

इकाई 23 में आंतरिक ( प्रांतीय और अंतर प्रांतीय ) और विदेशी व्यापार थल और जल मार्ग ) की चर्चा की गई है।

इकाई 24 में इस मुद्दे को आगे बढ़ाते हुये विभिन्न व्यापारिक समुदायों ( महाजनों, सर्राफों दलालों, छोटे और बड़े कारोबारियों ) पर विचार किया गया है। इस अध्ययनके दौरान आप व्याज की दर, साँझेदारी और बीमा जैसी वाणिज्यिक प्रथ. ाओं और अन्य व्यापारिक संस्थाओं की भी जानकारी प्राप्त करेंगे।

इस खंड की इकाई 25 में आप 16 वीं और 17वीं शताब्दी के दौरान भारत में सक्रिय यूरोप की पारंपरिक कम्पनियों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
इसमें इनकी स्थापना, उद्देश्य, आंतरिक संगठन और भारत के वाणिज्यिक और राजनैतिक क्षेत्र में उनकी भूमिका पर भी प्रकाश डाला जायेगा।

NMDC-268

NMDC-268

# इकाई 21 कृषि उत्पादन

## इकाई की रूपरेखा


21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 खेती का विस्तार
21.3 खेती और सिंचाई के साधन
  21.3.1 खेती के साधन और तरीके
  21.3.2 सिंचाई के साधन
21.4 कृषि उत्पाद
  21.4.1 खाद्यान्न उत्पादन
  21.4.2 नगदी फसल
  21.4.3 फल, सब्जी और मसाले
  21.4.4 उत्पादकता और उपज
21.5 पशु और पशुधन
21.6 सारांश
21.7 शब्दावली
21.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 21.0 उद्देश्य

इस इकाई में अध्ययनरत काल में भारत के कृषि उत्पादन के बारे में विचार किया जाएगा। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- अध्ययनरत काल में खेती के प्रसार का उल्लेख कर सकेंगे;
- खेती और सिंचाई के साधनों और तरीकों को रेखांकित कर सकेंगे;
- उपजाई जाने वाली प्रमुख फसलों की जानकारी दे सकेंगे; और
- पशुधन तथा पशु पालन की स्थिति पर प्रकाश डाल सकेंगे।

## 21.1 प्रस्तावना

भारत के विस्तृत भू-भाग में विभिन्न प्रकार के भौगोलिक क्षेत्र हैं। इसके पूरे इतिहास में कृषि सर्वप्रमुख उत्पादक गतिविधि रही है। मुगल काल में भी भू-भाग के विस्तृत क्षेत्रों में खेती की जाती थी। इस काल के भारतीय और विदेशी लेखकों ने भारतीय मिट्टी की उर्वरता की प्रशंसा की गई है।

इस इकाई में हम कृषि के विभिन्न आयामों के साथ-साथ खेती के विस्तार अर्थात् जोती जाने वाली भूमि पर भी विचार करेंगे। भारत में कई प्रकार की खाद्यान्न फसल, फल, सब्जी और नगद फसलें उपजाई जाती थीं। हमारे लिए इन सभी पर विचार कर पाना संभव नहीं होगा अतः हम कुछ प्रमुख फसलों का ही उल्लेख करेंगे। खेती के तरीके के साथ-साथ खेती में काम आने वाले औजारों और सिंचाई तकनीक की भी चर्चा करेंगे। यहां हम मुगल नियंत्रण में पड़ने वाले क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित करने के साथ-साथ इसके नियंत्रण के बाहर पड़ने वाले क्षेत्रों की भी चर्चा करेंगे।

NMDC-268

## 21.2 खेती का विस्तार

विस्तृत आंकड़ों के अभाव में जोती जाने वाली कुल भूमि का ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन है। फिर भी उपलब्ध आंकड़े की सहायता से मुगल काल में खेती की जाने वाली भूमि का एक अंदाज लगाया जा सकता है।

अबुल फज़ल ने अपनी कृति **आइन-ए अकबरी** में बंगाल, थट्टा और कश्मीर को छोड़कर उत्तर भारत के सभी मुगल प्रांतों से संबद्ध क्षेत्रीय माप के आंक़ड़े प्रस्तुत किए हैं। दिल्ली, आगरा, अवध, लाहौर, मुल्तान, इलाहाबाद और अजमेर जैसे अधिकांश प्रांतों के मामले में प्रत्येक परगना (कुछ अपवादों को छोड़कर) के लिए अलग से आंकड़े उपलब्ध हैं।

**आइन-ए अकबरी** में दिए गए आंकड़े 1595 ई. के आसपास के है। 1686 ई. की लेखा संबंधी एक नियम पुस्तिका में 17वीं शताब्दी के विभिन्न प्रांतों के क्षेत्र संबंधी आंकड़े उपलब्ध हैं। **चहार गुलशन** (1739-40) ई.) नामक ऐतिहासिक कृति में भी ये आंकड़े पुनः प्रस्तुत किए गए हैं। इस नियम-पुस्तिका में प्रत्येक प्रांत के मापित क्षेत्र के आंकड़े दिए गए हैं। प्रत्येक प्रांत में गांवों की कुल संख्या दी गई है इसमें मापित और गैर मापित गांवों की संख्या भी उपलब्ध है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है **आइन-ए अकबरी** में अधिकांश मामलों में प्रत्येक परगना का क्षेत्र संबंधी आंकड़ा दिया गया है पर यह कहना मुश्किल है कि परगना के कितने क्षेत्र को वास्तविक रूप में मापा गया था। औरंगजेब के शासनकाल से मिले आंकड़ों से तस्वीर ज्यादा स्पष्ट रूप में उभरती है। इनसे पता चलता है कि 1686 ई. तक लगभग पचास प्रतिशत गांवों की मापी नहीं हुई थी।

औरंगजेब के शासनकाल के उपलब्ध आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि इस काल में **आइन** (1595 ई.) की तुलना में मापित इलाके का फैलाव बढ़ा था। पर यह कहना मुश्किल है कि मापी गयी भूमि में यह बढ़ोतरी खेती के विस्तार के कारण हुई थी। ऐसा भी हो सकता है कि पहले आंकड़ों में कुछ खेती होने वाली भूमि की माप शामिल नहीं थी और बाद में इस भूमि को माप कर आंकड़ों में शामिल कर लिया गया हो।

विद्वानों के बीच यह विवाद का विषय है कि इन माप संबंधी आंकड़ों से वस्तुतः क्या परिलक्षित होता है। इनसे उठने वाले कुछ प्रश्न हैं: क्या इन आंकड़ों से वास्तविक रूप से जोती गई भूमि का पता चलता है, या कुल खेती योग्य भूमि या कुल मापे गये क्षेत्र का बोध होता है। डब्ल्यू-एच-मोरलैंड का मानना था कि ये आंकड़े इस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें फसल बोई जाती थी।

इरफान हबीब का मानना है कि इसमें कृषि योग्य ऐसी भूमि जिमसें कुछ बोया नहीं गया हो तथा रहने वाले इलाके, झील, तालाब, जंगल के कुछ भागों आदि को भी शामिल किया गया होगा। शीरीन मूसवी इरफान हबीब के मत का समर्थन करती है और गणना क़रके बताती है कि मापे गये इलाके में दस प्रतिशत खेती योग्य परती जमीन भी शामिल होती थी। लेकिन वे यह महसूस करती हैं कि इस दस प्रतिशत को निकालने के बावजूद शेष क्षेत्र को कुल फसल क्षेत्र के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता है क्योंकि खेती की जाने वाली भूमि का काफी हिस्सा मापा नहीं जा सका था। उनका यह भी मानना है कि खरीफ और रबी फसलों की भूमि को कई बार अलग-अलग मापा जाता था और बाद में दोनों को जोड़कर मापा गया क्षेत्र अंकित किया जाता था।

इस स्थिति में, खेती के प्रसार को जानने के लिए मुगल काल के केवल माप संबंधी आंकड़ों से बहुत मदद नहीं मिलती है। इरफान हबीब और शीरीन मूसवी ने कुछ राजस्व प्रपत्रों में उपलब्ध विस्तृत आंकड़ों, जमा (अनुमानित राजस्व) आंकड़ों और दस्तूर दरों (नगद राजस्व दरों) जैसे स्रोतों का भी सहारा लिया है। इन्होंने बीसवीं शताब्दी के आरंभ में वास्तविक जोती गई भूमि के आंकड़ों से इनकी तुलना की है।

NMDC-268

उनके प्राक्कलन के अनुसार 16वीं शताब्दी से 20वीं शताब्दी के बीच खेती की गई भूमि का फैलाव लगभग दोगुना हो गया। बिहार, अवध और बंगाल के कुछ भागों में जंगलों को साफ करने से खेती योग्य भूमि में विस्तार हुआ। पंजाब और सिंध में नहर सिंचाई व्यवस्था के विकास होने से खेती का विस्तार हुआ।

## 21.3 खेती और सिंचाई के साधन

मिट्टी की प्रकृति और फसलों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए भारतीय किसान कई प्रकार के औजार और तकनीकों का सहारा लिया करते थे। इसी प्रकार, विभिन्न प्रांतों में सिंचाई के विभिन्न साधन उपलब्ध थे।

### 21.3.1 खेती के साधन और तरीके

प्रमुख रूप से हल में दो बैलों को जोतकर खेत जोता जाता था। हल लकड़ी का बना होता था जिसमें लोहे का फाल लगा होता था। यूरोप की तरह भारत में घोड़ों या बैल द्वारा खींचे जाने वाली पहियेदार हल और सांचा पट्ट का उपयोग नहीं होता था। भारत में क्षेत्रीय विभिन्नताओं के कारण हल के आकार और वजन में फर्क होता था। हलके हल (इतने हलके जिन्हें) किसान अपने कंधों पर भी उठा सकता था से लेकर काफी भारी हलों का उपयोग किया जाता था। कड़ी मिट्टी के लिए अधिकांशः भारी हलों का प्रयोग होता था। हलकी मिट्टी वाले क्षेत्र में हल के फाल में लोहा नहीं लगाया जाता था क्योंकि लोहे की कीमत भी ज्यादा होती थी। कई समकालीन यूरोपीय यात्रियों ने यह देखकर आश्चर्य प्रकट किया है कि भारतीय हलों द्वारा केवल मिट्टी को उलट दिया जाता था और गहरी जोताई नहीं की जाती थी। ऐसा लगता है कि यह भारतीय महाद्वीप के अनुकूल था क्योंकि गहरी जोताई करने से मिट्टी की नमी कम होने का खतरा रहता था। इसके अलावा केवल ऊपरी सतह ही अधिक उपजाऊ होती थी। मिट्टी के ढेलों को तोड़ने के लिए अलग तरीका अपनाया जाता था। इस कार्य के लिए पटेला कही जाने वाले लकड़ी के तख्ते का प्रयोग किया जाता था। हल की तरह इस चपटे तख्ते को भी दो बैलों की सहायता से खींचा जाता था। आमतौर पर वजन डालने के लिए इस पर एक आदमी खड़ा हो जाता था। खेत में पटेला को बैल खींचते थे।

बीजारोपण का काम आमतौर से बीजों की खेत में हाथ से छीट कर किया जाता था। सोलहवीं शताब्दी में तटीय क्षेत्रों में बारबोसा धान रोपने के लिए एक प्रकार के बीज बरमे के उपयोग का विवरण देता है।

कृत्रिम तरीकों से मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने के लिए विभिन्न तरीकों का प्रयोग किया जाता था। दक्षिण में बकरों और भेड़ के झुंडों का इस कार्य के लिए खूब उपयोग किया जाता था। आमतौर पर इन पशुओं के झुंड को रात भर के लिए खेत में छोड़ दिया जाता था जहां वे अपना मल त्याग करते थे और यह अच्छी खाद का काम करता था। यह माना जाता था कि अगर 1000 का झुंड एक **कानी** खेत (1.32 एकड़) में पांच-छह दिन व्यतीत करे तो यह अगले छह-सात वर्षों के लिए खेत को उपजाऊ रखने के लिए उपयुक्त होता है। **(कैम्ब्रीज इक्नॉमिक हिस्ट्री, खंड 1, पृष्ठ 231)**। इसी प्रकार की प्रथा आमतौर पर उत्तरी भारत में भी प्रचलित थी। तटीय प्रदेशों में मछली की खाद भी उपयोग में लायी जाती थी।

पूरे वर्ष भूमि का अधिकतम उपयोग करने के लिए फसलों को बदल-बदल कर उगाया जाता था। मिट्टी की उत्पादकता की दृष्टि से भी इसे अच्छा माना जाता था। परम्परागत अनुभव से किसान फसल को बदल बदलकर बोने की सार्थकता से परिचित हो चुके थे। वे यह निर्णय किया करते थे कि अच्छे उत्पादन के लिए किस फसल के बाद कौन सी फसल लगाई जानी चाहिए।

NMDC-268

फसल काटने के लिए अर्द्ध वृत्ताकार हंसुए का उपयोग किया जाता था। अनाज को अलग करने के लिए काटी गई फसल को जमीन पर फैला दिया जाता था। हमारे स्रोतों में इस फसल से दाना अलग करने के दो तरीकों का जिक्र मिलता है: पहले तरीके में फसल को डंडे से पीटा जाता था, दूसरे तरीके में फैली हुई फसल पर जानवरों को धुमाया जाता था। जानवरों के भार और चलने फिरने से अनाज फसल से अलग हो जाता था। अलग किया हुआ अनाज टोकरी में भर दिया जाता था और एक नियंत्रित गति के साथ उसे गिराया जाता था। हवा के प्रभाव से भूंसा बिखर जाता था और अनाज जमीन पर गिर जाता था।

## 21.3.2 सिंचाई के साधन

भारतीय कृषि बहुत हद तक वर्षा पर निर्भर करती थी। किसी क्षेत्र विशेष में फसलों को लगाने से पहले वर्षा के जल की उपलब्धता को मुख्य रूप से ध्यान में रखा जाता था। वर्षा जल के अतिरिकत सिंचाई के कृत्रिम साधनों का भी उपयोग किया जाता था।

पूरे देश में कुएं द्वारा सिंचाई की जाती थी। कुएं से पानी को निकालने के लिए विभिन्न उपलब्ध तकनीकों का इस्तेमाल किया जाता था। यह तकनीक इस बात पर भी निर्भर करती थी कि कुंआ कितना गहरा है।

ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03 के खंड 6 में पानी खींचने के कई तरीकों पर विचार किया गया है। यहां हम पानी खींचने के तरीकों का संक्षेप में उल्लेख करने जा रहे हैं।

उत्तर भारत में कच्चे और पक्के दोनों प्रकार के कुंए खोदे जाते थे। कच्चे कुएं अधिक टिकाऊ नहीं होते थे और इनमें हर साल कुछ खुदाई करनी पड़ती थी। पक्के कुंए टिकाऊ होते थे और इन कुओं से पानी निकालने की तकनीक का आसानी से उपयोग किया जा सकता था। पक्के कुएं की दीवारें उठी होती थी और उनके ऊपर एक घेरा या चबूतरा बना होता था। कुओं कि दीवारें बनाने के लिए पत्थर या ईंटों का प्रयोग होता था। इन कुओं के बनाने में पक्की हुई मिट्टी के वृत्ताकार घेरों या छल्लों को एक के ऊपर एक कुंए की गोलार्द्ध में बिठाया जाता था इन्हें वृत्तीय कुएं भी कहते थे। इन कुओं से पानी खींचने के लिए अनेक तरीके अपनाए जाते थे।

i) रस्सी और बाल्टी के सहारे हाथों से पानी निकालना सबसे आसान तरीका था जिसमें किसी प्रकार के यंत्र की सहायता नहीं ली जाती थी। अपनी सीमित क्षमता के कारण इसका उपयोग बड़े खेतों की सिंचाई के लिए नहीं किया जा सकता था।

ii) दूसरे तरीके में कुंओं के ऊपर धुरी लगा दी जाती थी। धुरी में रस्सी और बाल्टी को लगा दिया जाता था और पहले तरीके की तुलना में शक्ति का उपयोग कर अधिक पानी निकाला जा सकता था। इन दोनों तरीकों का उपयोग घरेलू आपूर्ति और बहुत छोटे खेतों की सिंचाई के लिए किया जाता था।

iii) एक तीसरे तरीके में रस्सी और धुरी के तरीके से पानी निकालने में बैलों का भी उपयोग किया जाता था। इस प्रणाली में पशु शक्ति का उपयोग करने से बड़े क्षेत्रों की सिंचाई संभव हो सकी।

iv) चौथी प्रणाली में उतोलक (लीवर) सिद्धांत का उपयोग किया जाता था। इस प्रणाली के एक लम्बे पेड़ के तने या बांस को एक पेड़ की दो शाखाओं के बीच इस प्रकार फंसा देते हैं कि वह झूले के समान हो जाता था। उसके एक सिरे पर कसकर रस्सी बांध दी जाती थी और पिछले हिस्से में एक भारी पत्थर लटका दिया जाता था। अगले हिस्से की रस्सी में बाल्टी को बांध दिया जाता था। पिछले हिस्से का वजन पानी भरी बाल्टी से अधिक होता था। इसे एक आदमी चला सकता था। (विवरण के लिए पाठयक्रम ई.एच.आई.-03 का खंड 6 देखिए)।

v) पांचवी प्रणाली में चक्के का उपयोग किया जाता था। आरंभ में चक्के के ऊपर वर्तन लगा दिये जाते थे जिसे जानवर की सहायता से घुमाया जाता था। इस प्रकार के चक्के से केवल छिछले स्तर से ही पानी निकाला जा सकता था और कुंओं के लिए

NMDC-268

इसका कोई उपयोग नहीं था। चक्के या पहिए के परिवर्तित रूप का उपयोग कुंए से पानी निकालने के लिए भी किया जाता था। इसमें कई बर्तनों की माला सी बनाई जाती थी और इसमें तीन चक्कों के गेयर की तकनीक और पशु शक्ति की सहायता ली जाती थी। (विवरण के लिए ई.एच.आई.-03 का खंड 6 पढ़िए) इसकी सहायता से बड़े खेतों में काफी मात्रा में पानी पहुंचाया जा सकता था। इससे गहरे कुंओं से भी पानी निकाला जा सकता था। जटिल यंत्र और पशु शक्ति के उपयोग के कारण यह तरीका खर्चीला होता होगा। अतः इसका उपयोग सम्पन्न किसान ही किया करते होंगे।

पूरे देश में झीलों, तालाबों और जलाशयों का उपयोग एक समान होता था। दक्षिण भारत में यह अधिक लोकप्रिय प्रणाली थी। यहां नदियों के ऊपर बांध बनाए गए। इन जलाशयों का निर्माण व्यक्तिगत उद्यम से नहीं हो सकता था। अतः इस प्रकार की सुविधाएं उपलब्ध कराना राज्य, स्थानीय सरदारों और मंदिर प्रबंधन की जिम्मेदारी थी। विजयनगर के शासकों द्वारा बनवाई गई विशाल मडग झील उस समय के नागरिक अभियंत्रिकी का उत्तम नमूना थी। इसे तुंगभद्र नदी को तीन तरफ से घेरकर बनाया गया था। इसके लिए तीन पहाड़ियों के बीच तीन बांध बनाए गए थे। भरी होने पर यह झील 10-15 मील लंबी थी। इन तीनों बांधों में बड़े-बड़े पत्थरों से निर्मित जलद्वार बने हुए थे।

राजस्थान में भी पानी जमा करने के लिए जलाशयों का निर्माण किया जाता था। **आइन-ए अकबरी** के अनुसार मेवाड़ की धेबर झील 36 मील में फैला हुई था। कहा जाता है उदय सागर 12 मील के क्षेत्र में फैला था, राजसमंद और जयसंमंद 17वीं शताब्दी में मेवाड़ में बनी अन्य महत्वपूर्ण झीलें थी। मारवाड़ और आमेर प्रातों में बांधों की सहायता से क्रमशः बालसमंद और मानसागर नामक जलाशयों का निर्माण किया गया। लगभग सभी गांवों में जलाशय और झील बने थे जहां वर्षा का पानी एकत्र किया जाता था। हमारे स्रोतों से पता चलता है कि 1650 के दशक में मुगल प्रशासन ने खानदेश और बरार में सिंचाई के लिए बांध निर्माण करने हेतु किसानों को 40,000-50,000 रुपये तक अग्रिम देने का प्रस्ताव रखा था। यह एक रोचक तथ्य है कि आज भी खानदेश में ऐसे छोटे बांधों का उपयोग किया जाता है और ये इस क्षेत्र की मोसम, गिरना, केन, पंजबरा, शिवान नामक पांच प्रमुख नदियों के द्रोणी क्षेत्र को सिंचित करते हैं।

उत्तरी मैदानी भागों में नहरों का उपयोग सिंचाई के प्रमुख साधन के रूप में किया जाता था हम ऐच्छिक पाठ्यक्रम 3 के खंड 6 में चौदहवीं शताब्दी में सुल्तान फिरोज तुगलक द्वारा बनवाई गई नहरों के बारे में पढ़ चुके हैं। यह प्रवृति मुगलों के काल में भी जारी रही। शाहजहां ने 150 मील लंबी फैज नामक नहर बनवाई थी। इसके द्वारा यमुना का जल विस्तृत क्षेत्र में पहुंचाया जाता था। इसी प्रकार लाहौर के निकट रावी नदी से 100 मील लंबी नहर निकाली गई थी। पूरे सिंधु नदी के मुहाने में कई नहरों के अवशेष पाए जाते हैं। इरफान हबीब का मानना है कि मुगल नहरों में सबसे बड़ी कमी यह थी कि वे अक्सर आसपास के स्तर से ऊपर नहीं उठी होती थीं अतः उनसे की गई सिंचाई इस बात पर निर्भर करती थी कि उनसे कितना पानी निकाला जा सकता था। इस क्षेत्र में नहरों की संख्या लगातार बढ़ती रही। दक्षिण भारत में नहरों की जानकारी नहीं मिलती है।

**बोध प्रश्न 1**

1) मुगल काल में उपयोग में लाए जाने वाले हलों पर तीन पंक्तियां लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

NMDC-268

2) मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने के लिए अपनाई गई तीन विधियों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) खेतों की सिंचाई करने के लिए कुंओं से पानी निकालने की तीन विधियों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

4) सिंचाई के काम में आनेवाली तीन झीलों या बांधों का नाम बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 21.4 कृषि उत्पाद

भारत के विस्तृत भू-भाग, विभिन्न प्रकार की मिट्टियों और पर्यावरणीय वातावरण के कारण यहां कई प्रकार के कृषि उत्पादों का उत्पादन होता है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम इन कृषि उत्पादों को तीन हिस्सों—खाद्यान्न फसल, नगदी फसल और फल, सब्जी और मसालों में बांटकर विचार करेंगे।

### 21.4.1 खाद्यान्न उत्पादन

उत्तर भारत की अधिकांश मौसमी फसलें दो प्रमुख फसल ऋतुओं खरीफ (शरद) और रबी (बसंत) में उगाई जाती थी। कुछ किसान इनके बीच लघु अवधि की फसलें उगाकर कभी-कभी तीन फसलें भी उपजा लिया करते थे। प्रमुख खरीफ धान या चावल और प्रमुख रबी फसल गेहूं थी। दक्षिण भारत में इस प्रकार का विभाजन नहीं था जिसमें अलग मौसमों में अलग फसल उपजाई जाती हो। यहां सिंचित भूमि पर धान (चावल) की एक फसल जून-जुलाई से दिसम्बर/जनवरी और दूसरी फसल जनवरी/फरवरी से अप्रैल/मई तक उगाई जाती थी। उत्तरी आर्कोट में भूमि पर मई से सितम्बर/अक्टूबर तक सूखी फसलें (कुम्बु, लाल चना, घोड़ा चना और अरंडी) बोई जाती थी और इन्हें अगस्त से दिसम्बर/जनवरी तक काटा जाता था, अगस्त सितम्बर में रागी और छोलम तथा फरवरी/मार्च में धान की फसलें काटी जाती थी (**कैम्ब्रिज इक्नॉमिक हिस्ट्री, पृ० 229**)।

गेहूं और चावल पूरे देश की दो महत्वपूर्ण फसलें थी। अधिक वर्षा (40" से 50") वाले क्षेत्रों में धान का उत्पादन अधिक होता था। सम्पूर्ण उत्तर पूर्व, पूर्वी भारत (बिहार, बंगाल, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग), गुजरात का दक्षिणी तटीय प्रदेश और दक्षिण भारत प्रमुख धान उत्पादक क्षेत्र थे। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है दक्षिण भारत में चावल

उत्पादन के **कुद्दपाह-कर** और **साम्बा-पेशानम** दो प्रमुख मौसम थे। इनका नामकरण गर्मी और जाड़े के मौसम में उपजाउ जानेवाले मुख्य धान के प्रकार पर आधारित था।

पंजाब और दक्खन के सिंचित इलाकों से भी धान की खेती की जानकारी मिलती है। प्रत्येक क्षेत्र में अलग किस्म का मोटा, साधारण और अच्छी कोटि का धान या चावल उपजाया जाता था। बंगाल और बिहार क्षेत्रों में उत्तम कोटि का चावल उपजाया जाता था।

चावल के समान गेहूं के भी कुछ खास इलाके थे। पंजाब, सिंध, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और अन्य कम वर्षा वाले क्षेत्र में गेहं उपजाया जाता था। बिहार, गुजरात, दक्खन और यहां तक कि बंगाल के कुछ भागों में भी इसके उत्पादन का हवाला मिलता है।

इन दोनों फसलों के अतिरिक्त मध्य मैदानी भागों में जौ का खूब उत्पादन होता था। **आइन-ए अकबरी** में इलाहाबाद, अवध, आगरा, अजमेर, दिल्ली, लाहौर और मुल्तान आदि में भी जौ के उत्पादन का उल्लेख मिलता है।

कुछ अपवादों को छोड़कर गेहूं वाले इलाकों में ज्वार और बाजरा भी उपजाया जाता था।

विभिन्न प्रांतों में दालों के उगाए जाने की भी जानकारी मिलती है। इनमें चना, अरहर, मूंग मोठ, उड़द और खेसाड़ी (अंतिम काफी मात्रा में बिहार और आधुनिक मध्यप्रदेश के इलाके में उपजाया जाता था) की दालें प्रमुख हैं। हालांकि अबुल फजल बताता है कि खिसाड़ी का सेवन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता था। आधुनिक शोध भी इसे प्रमाणित करते हैं।

काफी समय तक यह समझा जाता था कि 17वीं शताब्दी में भारत में मकई या मक्का का उत्पादन नहीं होता था। कुछ नए शोधों से यह साबित हो चुका है कि 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में से राजस्थान और महाराष्ट्र में निश्चित रूप से और संभवतः अन्य प्रांतों में भी यह उपजाया जाता था।

### 21.4.2 नगदी फसल

मुख्य रूप से बाजार के लिए उपजाई जाने वाली फसलों को आमतौर पर नगदी फसल कहते थे। फारसी विवरणों में इन्हें **जिन्स-ए कामिल** या **जिन्स-ए आला** (सर्वोतम कोटि की फसल) कहा गया है। खाद्यान्न फसलों के विपरीत ये पूरे वर्ष खेतों में खड़ी रहती थी। 16वीं-17वीं शताब्दी की नगदी फसलों में गन्ना, कपास, नील और अफीम प्रमुख थे।

ये सभी फसलें भारत में पुरातन काल से उपजाई जा रही थीं। 17वीं शताब्दी में कारीगर उत्पादन और वाणिज्यिक गतिविधियों के बढ़ने के कारण उनकी मांग में वृद्धि हुई थी। इस काल में इन वस्तुओं के लिए एक विशाल विदेशी बाजार का द्वार भी खुल गया। भारतीय किसानों ने बाजार की मांग को तेजी से पहचाना और इन फसलों का उत्पादन तेज कर दिया।

इस काल में नगदी फसलों में सबसे ज्यादा खेती गन्ने की होती थी। **आइन-ए अकबरी** के अनुसार आगरा, अवध, लाहौर, मुल्तान और इलाहाबाद के अधिकांश राजस्व क्षेत्रों (**दस्तूर** प्रखंडों) में गन्ना उगाया जाता था। बंगाल में उगाया जाने वाला गन्ना सर्वोतम कोटि का माना जाता था। 17वीं शताब्दी के दौरान मुल्तान, मालवा, सिंध, खानदेश, बरार और दक्षिण भारत के क्षेत्रों में भी गन्ना उपजाया जाता था।

इसके अलावा एक और नगदी फसल, कपास, पूरे भारत में उपजाई जाती थी। आज के महाराष्ट्र, गुजरात और बंगाल के इलाके में उस समय वृहद् पैमाने पर कपास की खेती की जाती थी। समकालीन स्रोत अजमेर, इलाहाबाद, अवध, बिहार, मुल्तान, थट्टा (सिंध) लाहौर और दिल्ली में भी इसके उत्पादन का हवाला देते हैं।

मुगलों के शासनकाल में नील (एक नगदी फसल) का भी बृहद् पैमाने पर उत्पादन होता था। इस पौधे से नील निकलता था जिसकी मांग भारत के साथ-साथ यूरोपीय बाजारों में

NMDC-268

भी थी। अवध, इलाहाबाद, अजमेर, दिल्ली, आगरा, लाहौर, मुल्तान और सिंध के दस्तुर प्रखंडों में नील उगाए जाने की सूचना मिलती है। गुजरात, बिहार, बंगाल मालवा और दक्षिण भारत में कोरोमंडल और दक्खन में इसके उत्पादन का हवाला मिलता है। बयाना और सरखेज के उत्पाद की मांग सबसे ज्यादा थी। आगरा के निकट बयाना में उगाई जाने वाली नील को उत्तम कोटि का माना जाता था और इसका मूल्य भी ज्यादा होता था। इसके बाद अहमदाबाद के निकट सरखेज में उपजाये जाने वाले नील का स्थान आता था और यह भी ऊंचे दामों में बिकता था। खुर्जा और अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश), सेहवान (सिंध) और तेलंगाना (दक्खन) में भी उच्च कोटि के नील का उत्पादन होता था।

भारत के कई भागों में अफीम की खेती होने की भी सूचना मिलती है। मुगल प्रांतों बिहार और मालवा में अच्छी कोटि की अफीम का उत्पादन होता था। यह अवध, दिल्ली, आगरा, लाहौर, बंगाल, गुजरात और राजस्थान में मारवाड़ और मेवाड़ में भी उगाया जाता था।

ऐसा लगता है कि कम अवधि में ही भारत में तम्बाकू का उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा। **आइन-ए अकबरी** में किसी **दस्तूर** प्रखंड या किसी अन्य क्षेत्र में इस फसल का उल्लेख नहीं किया जाता है। ऐसा लगता है कि 16वीं शताब्दी में पुर्तगाली इसे अपने साथ भारत लाए। शीघ्र ही इसकी खेती देश के लगभग सभी भागों में होने लगी (खास कर सूरत और बिहार में)।

ऐसा लगता है कि 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में काफी का उत्पादन शुरू हो गया था पर हमारे अध्ययन काल में चाय का उल्लेख नहीं मिलता है। सन रेशे वाला एक पौधा होता है जो मुगल साम्राज्य के मुख्य प्रातों (अवध, इलाहाबाद, आगरा लाहौर, अजमेर, आदि) में उपजाया जाता था।

बंगाल, असम, कश्मीर और पश्चिम तटीय प्रदेशों में रेशम का उत्पादन किया जाता था। हालांकि बंगाल मुख्य उत्पादन क्षेत्र था।

तिलहन खाद्यान्न के साथ-साथ नगदी फसल भी थी। इससे तेल निकाला जाता था। तोरी का बीज, अरंडी, तीसी प्रमुख तेलहन फसलें थीं। यह इलाहाबाद से लेकर मुलतान और बंगाल सहित सभी प्रांतों में उपजाई जाती थी। तिलहन के अन्य प्रकारों को कम ही उपजाया जाता था।

### 21.4.3 फल, सब्जी और मसाले

मुगल काल में बागबानी अपने चरम शिखर पर थी। मुगल सम्राटों और सामंतों ने भव्य फलोद्यान लगवाए थे। लगभग सभी प्रभावशाली सामंतों के पास अपने शहर के बाहर एक बागान हुआ करता था। इन फलोद्यानों और निकुंजों को सावधानीपूर्वक योजनाबद्ध ढंग से निर्मित किया जाता था। आज भारत में उपलब्ध बहुत से फलों का आगमन 16वीं-17वीं शताब्दी में ही हुआ था। अनानास एक ऐसा ही फल है जो भारत में पुर्तगालियों द्वारा लैटिन अमेरिका से लाया गया था। कम समय में यह फल लोकप्रिय हो गया और पूरे भारत में बड़े पैमाने पर उगाया जाने लगा।

पपीता और काजू भी यही अपने साथ लेकर आए थे पर इसका विस्तार धीमी गति से हुआ। लीची और अमरूद का आगमन बाद में हुआ। काबुल से चेरी लाई गई और कलम लगाकर इसे कश्मीर में उपजाया गया। कलम की तकनीक से कई फलों की किस्म में सुधार हुआ। कलम के द्वारा संतरा, गलगल (नींबू वंश) खूबानी, आमों और अन्य कई फलों की किस्मों में सुधार लाया गया। नारियल केवल तटीय प्रदेशों में ही नहीं बल्कि अंदरूनी इलाकों में भी उगाया जाता था।

काबुल से खरबूजे और अंगूर के विभिन्न प्रकारों के बीज लाए गए और उन्हें सम्राटों और राजाओं के बागीचों में सफलतापूर्वक उगाया गया। साधारण किस्म का खरबूजा किसानों द्वारा नदी के किनारे हर जगह उपजाया जाता था।

NMDC-268

कई तरह की सब्जियां पूरे देश में उपजाई जाती थी। उस समय उपयोग में आने वाली सब्जियों की लंबी सूची **आइन-ए अकबरी** में दी गयी है ऐसा लगता है कि आलू और टमाटर का आगमन 17वीं शताब्दी और उसके बाद हुआ।

शताब्दियों से भारत अपने मसालों के लिए जाना जाता था। भारत के दक्षिण तट से एशिया और यूरोप के विभिन्न देशों को बड़े पैमाने पर मसाले का निर्यात किया जाता था। काली मिर्च, लौंग, इलायची का खूब उत्पादन होता था। अदरख और हल्दी भी बड़े पैमाने पर उपजाया जाता था। डच और अंग्रेज इसे बड़ी मात्रा में खरीदकर निर्यात करते थे। केसर कशमीर में उगाया जाता था जो अपने रंग और सुगंध के लिए जाना जाता था। पान का उत्पादन कई इलाकों में होता था। बिहार का मगही पान और बंगाल में उपजाए जाने वाले अन्य प्रकार प्रसिद्ध थे। तटीय प्रदेशों में सुपारी का भी उत्पादन होता था।

विशाल वन सम्पदा से भी कई महत्वपूर्ण वाणिज्यिक वस्तुएं प्राप्त होती थी। लिग्नम का उपयोग दवा बनाने के लिए होता था और लाख बड़ी मात्रा में निर्यातित होता था।

### 21.4.4 उत्पादकता और उपज

शीरीन मूसवी ने मुगल भारत में फसल की उत्पादकता और प्रति बीघा उपज पर प्रकाश डाला है (**द इकनॉमी ऑफ मुगल अम्पायर, अध्याय 3**) इस भाग में हम उनके शोधों के आधार पर ही आपको निम्न जानकारी दे रहे हैं। **आइन-ए अकबरी** में फसल उपज की तालिका और **जब्ती** प्रांतों (लाहौर, मुल्तान, आगरा, इलाहाबाद, अवध और दिल्ली), की राजस्व दरों का उल्लेख किया गया है। उच्च, मध्यम और निम्न कोटि की फसलों की उपज का अलग से उल्लेख किया गया है। इनके आधार पर औसत उपज निकाली जा सकती है। हालांकि अबुल फजल इन तीनों कोटियों के आधार के बारे में हमें कुछ नहीं बताता है। ऐसा लगता है कि कम उत्पादकता वाली फसल का संबंध गैर सिंचित क्षेत्र से और शेष दोनों प्रकार की फसलों का संबंध सिंचित क्षेत्र से था।

शीरीन मूसवी ने 16वीं शताब्दी के प्राप्त आंकड़ों को आधार बनाकर कृषि उत्पादकता के क्षेत्र में रोशनी डाली है। उनके आकलन के अनुसार कुछ प्रधान फसलों की उपज (उच्च, मध्यम और निम्न उपज का औसत) इस प्रकार थी :

**औसत फसल उपज : 1595-96 ई.**
**(मन-ए अकबरी प्रति बीघा-ए इलाही)**

| | | |
|---|---|---|
| गेहूं : 13.49 | जौ : 12-93 | चना : 9.71 |
| बाजरा : 5.02 | ज्वार : 7.57 | कपास : 5.75 |
| गन्ना : 11.75 | सरसों : 5.13 | तिल : 4.00 |

**(इकनॉमी ऑफ मुगल एम्पायर लगभग 1595, एक सांख्यिकीय अध्ययन, पृष्ठ 82)।**

शीरीन मूसवी ने **आइन-ए अकबरी** में दी गयी उपज की तुलना 19वीं शताब्दी के आसपास की उपज के साथ की है। उनका मानना है कि इन दो कालों के बीच खाद्यान्न फसलों की उत्पादकता में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ था। हालांकि जहां तक नगदी फसलों का संबंध है इसमें 19वीं शताब्दी के दौरान उत्पादकता में निश्चित रूप से वृद्धि हुई थी।

## 21.5 पशु और पशुधन

हमारे काल के कृषि उत्पादन में पशुओं की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। हल जोतने और सिंचाई करने में उनसे सहायता ली जाती थी और उनके गोबर का खाद के रूप में उपयोग होता था। दुग्ध उत्पादन के अतिरिक्त कृषि सम्बन्धी उत्पादन में भी ये काफी योगदान देते थे। आमतौर पर किसान और कुछ खास जाति के लोग पशु पालन का कार्य करते थे।

NMDC-268

कृषि कार्यों में बड़े पैमाने पर पशुओं के योगदान से यह पता चलता है कि पशुधन की संख्या भी काफी रही होगी। प्रति व्यक्ति भूमि के ऊंचे अनुपात के कारण चारागाह भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रहा होगा। समकालीन यूरोपीय यात्री भारतीय खेतों में बड़ी संख्या में जानवरों की उपस्थिति का उल्लेख करते हैं। इरफान हबीब का मानना है कि आज की तुलना में मुगल भारत में प्रति व्यक्ति पशुओं की संख्या अधिक थी। कहा जाता है कि आम आदमी भी मक्खन और घी का उपयोग करता था, इससे भी बड़ी संख्या में पशुओं के होने का पता चलता है। बैलों का उपयोग बैलगाड़ी खींचने या भारवाही पशु के रूप में होता था। बंजारों (घुमंतु व्यापारी समुदाय) के पास सैंकड़ों-हजारों जानवर होने का उल्लेख मिलता है। भेड़ों और बकरियों को भी हजारों के झुंड में पाला जाता था।

**बोध प्रश्न 2**

1) छह मुख्य खाद्यान्न फसलों के नाम बताइए :

   1. ..... 2. .....

   3. ..... 4. .....

   5. ..... 6. .....

2) खाद्यान्न फसल, नगदी फसल और तेलहन फसल से आप क्या समझते हैं?

   .....

   .....

   .....

   .....

   .....

3) चार प्रमुख नगदी फसलों का उल्लेख कीजिए :

   1) ..... 2) .....

   3) ..... 4) .....

4) बाहर से भारत में लाए गए चार फलों का नाम बताइए?

   1) ..... 2) .....

   3) ..... 4) .....

## 21.6 सारांश

समकालीन विदेशी पर्यवेक्षक कृषि औजारों की पुरातनता और सरलता की बात करते हैं पर यह भारतीय कृषि के अनुकूल था। कृषि मुख्य रूप से वर्षा जल पर निर्भर थी पर कृत्रिम सिंचाई के तरीके भी अपनाए जाते थे। कुंओं से पानी निकालने के लिए ढेकली, चरस और **साकिया** (कुएँ से पानी निकालने की पारसी विधि) फारसी जैसे तरीकों का उपयोग किया जाता था। तालाब और जलाशयों के अतिरिक्त कुछ सीमा तक नहर सिंचाई के प्रमुख स्रोत थे।

भारतीय किसान कई प्रकार के खाद्यान्न और नगदी फसलें उपजाया करते थे। कुछ खेतों में दो या उससे अधिक फसल उगाई जाती थी। फसलों को बदल-बदल कर लगाना और बाजार की आवश्यकताओं के अनुरूप नगदी फसल की खेती करना इस युग की खास विशेषताएं हैं। गुणवता और परिमाण दोनों ही मानदण्डों पर इस काल के फल उच्च कोटि के थे।

19वीं शताब्दी की आधुनिक उपज और उत्पादन की तुलना में भी उस समय की उत्पादकता और उपज खरी उतरती है। मुगल काल में पशु और पशुधन की प्रति व्यक्ति जनसंख्या भी काफी अच्छी थी।

## 21.7 शब्दावली

**बीघा-ए इलाही** : 60 वर्ग **गज-ए इलाही** (अकबरी गज) **गज-ए इलाही** की लंबाई लगभग 32 इंच होती थी। एक **बीघा-ए इलाही** में एक एकड़ का लगभग 60 अंश होता था।

**दस्तूर प्रखंड** : ऐसा क्षेत्र जिसमें अलग-अलग फसलों के लिए कुछ नगद राजस्व दर लगाई जाती थी, पूरा प्रांत विभिन्न **दस्तूर** प्रखंडों में विभक्त होता था, प्रत्येक दस्तूर में राजस्व दरें अलग होती थीं।

**दस्तूर दरें** : विभिन्न फसलों के प्रति इकाई क्षेत्र के लिए नगद राजस्व दरें।

**जमा** : आकलित या अनुमानित आय

**मन-ए अकबरी** : वजन मापने की इकाई जो 55 पौंड के आसपास होती थी।

**हल का फाल** : हल का नुकीला निचला हिस्सा जिससे खेत जोता जाता था। यह लोहे या कड़ी लकड़ी का बना होता था।

## 21.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) आमतौर पर बैलों द्वारा खींचे जाने वाले हलके हल का उपयोग होता था। देखिए उपभाग 21.3.1

2) आप इसमें फसलों के बदलाव और विभिन्न प्रकार के उर्वरकों के उपयोग आदि का उल्लेख कर सकते हैं। देखिए उपभाग 21.3.1

3) पढ़िए उपभाग 21.3.2 आप कम मात्रा में पानी निकालने की विधियों को छोड़कर शेष का उल्लेख कर सकते हैं।

4) देखिए उपभाग 21.3.2

**बोध प्रश्न 2**

1) उपभाग 21.4.2 पढ़िए और उत्तर दीजिए।

2) बाजार के लिए उत्पादित फसल को नगदी फसल कहते थे। खाद्यान्न फसल बाजार में भी बेची जाती थी और इनका उपभोग स्वयं के भोजन के लिए भी किया जाता था। तिलहन फसलों से खाद्य तेल निकाला जाता था। देखिए भाग 21.4

3) देखिए उपभाग 21.4.2

4) देखिए उपभाग 21.4.3

NMDC-268

# इकाई 22 गैर-कृषि उत्पादन

## इकाई की रूपरेखा


22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 कृषि आधारित उत्पादन
  22.2.1 वस्त्र उद्योग
  22.2.2 नील
  22.2.3 चीनी, तेल आदि
22.3 खनिज, खनन और धातु
  22.3.1 खनिज उत्पादन
  22.3.2 धातु
22.4 काष्ठ आधारित शिल्प
22.5 अन्य शिल्प
22.6 उत्पादन का संगठन
22.7 सारांश
22.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 22.0 उद्देश्य

हमारे अध्ययन के काल के दौरान भारत में उच्च कोटि का शिल्प उपलब्ध था। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भारत में उत्पादित विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के बारे में जानकारी दे सकेंगे;
- खास-खास शिल्पों के प्रमुख केन्द्रों का उल्लेख कर सकेंगे;
- देश के विभिन्न भागों में पाए जाने वाले खनिजों की जानकारी हासिल कर सकेंगे;
- कुछ वस्तुओं के उत्पादन में अपनाई जाने वाली तकनीकों के बारे में जान सकेंगे; और
- कुछ शिल्पों के उत्पादन के संगठन की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

## 22.1 प्रस्तावना

हम जिस काल का अध्ययन कर रहे हैं उस काल में शिल्प उत्पादन का स्तर काफी ऊंचा था। यह शिल्प उत्पादन व्यापार और वाणिज्य की पद्धति से जुड़ा हुआ था। हम मुख्य वाणिज्यिक केन्द्रों में और उसके आसपास उत्पादन संबंधी गतिविधियों में एक प्रकार की सक्रियता पाते हैं।

फारसी ऐतिहासिक अभिलेखों से शिल्प और उत्पादन की तकनीक की कम जानकारी मिलती है। इस क्षेत्र में यूरोपीय यात्रियों के वृत्तांतों और दस्तावेजों तथा विभिन्न यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों के पत्र व्यवहार से ज्यादा व्यापक सूचना मिलती है। ये कम्पनियां उत्पादन की प्रक्रिया और उत्पादन की गुणवत्ता का गौर से निरीक्षण करती थी।

शिल्प उत्पादन मूल रूप से घरेलू बाजार की मांग और खपत से निर्देशित होता था। 17वीं शताब्दी में विदेशी बाजारों से मांग बढ़ने लगी और इससे यहां की उत्पादन गतिविधि प्रभावित होने लगी।

NMDC-268

इस इकाई में हम प्रमुख शिल्प, उनके केन्द्रों, उपयोग में आने वाले कच्चे मालों और जहां संभव होगा उत्पादन की तकनीकों की भी चर्चा करेंगे। हम खनिजों की उपलब्धता और उनके उत्पादन पर भी विचार करेंगे। हम कुछ चुने हुए शिल्पों में उत्पादन के संगठन का भी विश्लेषण करेंगे।

## 22.2 कृषि आधारित उत्पादन

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि आज के संदर्भ में कृषि आधारित उद्योगों का इस्तेमाल कुछ विशिष्ट प्रकार के उद्योगों के लिए होता है। यहां हम इसका प्रयोग उन उद्योगों के लिए कर रहे हैं जिनमें कच्चा माल कृषि उत्पादों से आता था।

जिस काल का हम अध्ययन कर रहे हैं उस काल में अधिकांश उत्पादन इन क्षेत्रों में था जिनमें कच्चे माल की आपूर्ति कृषि उत्पाद से होती थी। इकाई 21 पढ़ते समय हमने गौर किया था कि हमारे यहां कपास, गन्ना, नील, तम्बाकू जैसी उच्च कोटि की फसलों का उत्पादन होता था। अतः इनसे जुड़े शिल्पों का विकाय स्वाभाविक था। आइए पहले कपड़ा उत्पादन पर विचार करें।

### 22.2.1 वस्त्र उद्योग

वस्त्र उद्योग के अन्तर्गत हम मुख्य रूप से सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्रों के उत्पादन का अध्ययन करेंगे।

**सूती कपड़ा**

उप हिमालय क्षेत्र को छोड़कर लगभग पूरे भारत में सूती कपड़ा बनाया जाता था क्योंकि कपास की पैदावार लगभग हर जगह होती थी। अबुल फ़जल ने सूती कपड़े के उत्पादन के विभिन्न केन्द्रों का नामोल्लेख किया है।

गुजरात वस्त्र उत्पादन के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में से एक था। यहां अहमदाबाद, भड़ौंच, बड़ौदा, कैम्बे, सूरत आदि जैसे प्रमुख उत्पादन केन्द्र थे। राजस्थान में अजमेर, सिरोंज और कई छोटे शहरों में कपड़ा बनाया जाता था। उत्तरप्रदेश में लखनऊ और इसके आसपास के कई शहरों जैसे बनारस, आगरा, इलाहाबाद आदि में कपड़े का उत्पादन होता था। उत्तर में दिल्ली, सिरहिंद, समाना, लाहौर, सिआलकोट, मुलतान और थट्टा जैसे क्षेत्रों में उत्तम कोटी का कपड़ा बनाया जाता था। बंगाल, बिहार और उड़ीसा में सोनारगांव, ढाका, राजमहल, कासिम बाजार, बालासोर, पटना और कई छोटे-छोटे शहरों में कपड़ा बनाया जाता था।

दक्खन में, बुरहानपुर और औरंगाबाद में उत्तम कोटि के सूती वस्त्र निर्मित किए जाते थे। महाराष्ट्र के पश्चिमी तट पर चोल और भिवण्डी कपड़ा बनाने के प्रमुख केन्द्र थे। दक्षिण में कोयम्बटूर और मालाबार में भी अच्छी कोटि के वस्त्र बनाए जाते थे।

कई केन्द्रों में केवल सूत काता जाता था और उसे बुनाई केन्द्रों में और यहां तक कि विदेश में भी भेजा जाता था। इस प्रकार धागे की कताई एक विशेषीकृत व्यवसाय बन गया। वस्त्र उत्पादन के प्रमुख केन्द्रों और उसके आसपास के इलाकों में किसानों और महिलाओं ने इसे अपनी आय का अतिरिक्त साधन बना लिया और बुनकरों को धागे की आपूर्ति करने लगे।

मैसूर, विशाखापट्टनम और गंजम में महिलाएं बड़ी संख्या में सूत काता करती थीं। भड़ौंच, कासिम बाजार और बालासोर धागे की बिक्री के प्रमुख बाजार थे। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गुजरात बंगाल को सूत की आपूर्ति किया करता था। ढ़ाका मलमल के लिए परिष्कृत सूत की जरूरत होती थी जिसे महिलाएं तकली की सहायता से काता करती थीं।

NIOS/EC/2688

कपड़े की कई कोटियां उपलब्ध थी हमीदा नकवी ने मुगल साम्राज्य के पांच प्रमुख उत्पादन केन्द्रों में उत्पादित उनचास प्रकार के कपड़ों का नामोल्लेख किया है। यूरोपीय दस्तावेजों में एक सौ से अधिक नामों का उल्लेख है। देश में उत्पादित होने वाले सूती कपड़ों की सभी कोटियों का उल्लेख करना बहुत मुश्किल है। प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्टताएं थी।

इनमें से कुछ प्रकारों की चर्चा यहां की जा सकती है। **आइन-ए अकबरी** मे **बाफ्ता** नामक उच्च कोटि के सूती वस्त्र का उल्लेख हुआ है जो आमतौरपर सफेद या एक रंग का होता था। यूरोपीय सभी प्रकार के सूती वस्त्रों के लिए ''कैलिकों'' शब्द का प्रयोग करते थे। इसका मतलब मोटा उजला कपड़ा भी होता था। **ताफता** रेशमी कपड़ा होता था जिसमें कभी-कभी सूती धागे भी बुने गए होते थे। **जरतरी** कपड़े में सोने या चांदी के तार बुने होते थे। मलमल मोटे सूती कपड़े का एक उत्तम प्रकार था। छींट सूती कपड़े में फूल-पत्ती या अन्य प्रकार के डिजाइन बने होते थे। **खासा** मलमल का ही एक प्रकार था। यह उत्तम कोटि का महंगा कपड़ा था। (इरफान हबीब ने कपड़ों की शब्दावली की विस्तृत सूची प्रस्तुत की है, देखिए **एन एटलस ऑफ द मुगल अम्पायर**, पृष्ठ 69-70)

कुछ कपड़ों का नाम उनके उत्पादन स्थल पर आधारित था जैसे दरियाबादी और खैराबादी, समिआना (समाना), लखौरी (पटना के निकट लखावर) आदि। कुछ प्रदेशों में खास प्रकार के कपड़े ही बनाये जाते थे, गुजरात में **बाफता**, सोनारगांव और ढ़ाका में मलमल आदि इस प्रकार की विशेषता के उदाहरण हैं। इंग्लिश, डच और फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनियों, आदि से यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों की गतिविधियों में तेजी आई और उसके कारण सत्रहवीं शताब्दी में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

सूती वस्त्रों में उच्च कोटि के उजला सादे सूती कपड़े की मांग सबसे ज्यादा थी। इसे विभिन्न नामों से जाना जाता था—बिहार और बंगाल में **अम्बरती**, गुजरात में **बाफता** आदि। बंगाल का मलमल जिसको **खासा** कहते थे छींट, रंगीन वस्त्र और रेशम के धागों को मिलाकर बनाए गए कपड़े, कुछ महत्वपूर्ण कोटियां थी। अहमदाबाद अपने रंगीन कपड़े छींट के लिए प्रसिद्ध था।

कपड़ा उत्पादन में कई चरणों से गुजरना होता था। सबसे पहले ओटाई होती थी जिसमें कपास से बीज अलग किया जाता था। बाद में धुनियां अपने धनुषाकार यंत्र से कपास या रूई को साफ करता था इसके बाद तकली पर इस रूई से धागा बनाया जाता था। बुनकर करघे पर इस धागे से वस्त्र बुनते थे। आमतौर पर प्रचलित करघा क्षैतिज होता था जिसे पैर के पास लगे पैडल से चलाया जाता था।

बना हुआ कपड़ा अभी भी अपरिष्कृत रूप में होता था। उपयोग में लाने के पहले इसका रंग उड़ाया जाता था (सफेद किया जाता था) या रंगा जाता था। यह काम एक अलग समुदाय द्वारा सम्पन्न किया जाता था। हालांकि यह प्रक्रिया हर जगह अपनाई जाती थी पर कुछ केन्द्र प्रसिद्ध हो गए। पानी की खासियत की वजह से गुजरात में भड़ौंच कपड़ों को विरंजित (रंग उड़ाने के लिए) करने के लिए प्रसिद्ध हो गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी आगरा, लाहौर आदि से **बाफता** खरीदती थी और उसे भड़ौंच और नौसारी में विरंजित करने के बाद ही निर्यात करती थी। अहमदाबाद, सूरत, पटना सोनारगांव, ढ़ाका, मसूलीपट्टम आदि शहरों में भी बड़े पैमाने पर कपड़ों को विरंजित करने का काम किया जाता था।

कपड़ों के विरंजन के लिए उन्हें पानी में सोखा जाता था (उत्कृष्ट कपड़े) या विशेष घोल में उबाला जाता था।

रंगाई और छपाई भी विशेषीकृत व्यवसाय हो गए थे। कपड़ा रंगने वाले को **रंगरेज** कहते थे और उन्हें एक अलग जाति का माना जाता था। आमतौर पर सब्जियों के रंगों का उपयोग किया जाता था। लाल रंग चै या लाख से और नीला रंग नील से प्राप्त किया जाता था।

NMDC-268

### रेशम (सिल्क)

रेशम से भी कपड़ा बनाया जाता था। अबुल फजल बताता है कि कश्मीर में बड़ी मात्रा में रेशम के कपड़े बनाए जाते थे। पटना और अहमदाबाद भी रेशम वस्त्र के लिए जाने जाते थे। बनारस का भी इस क्षेत्र में नाम था। सत्रहवीं शताब्दी में बंगाल में रेशम का सबसे ज्यादा उत्पादन हुआ जिसे विदेश और भारत के अन्य हिस्सों में निर्यातित किया गया। बंगाल में कासिम बाजार और मुर्शिदाबाद में रेशम के वस्त्र बनाए जाते थे। 17वीं शताब्दी के मध्य के आसपास 25 लाख पाउंड के करीब प्रति वर्ष उत्पादन होने का अनुमान लगाया गया था। लगभग साढ़े सात लाख पाउंड केवल डच व्यापारी ही अपरिष्कृत रूप में ले जाते थे। 1681 ई. में लंदन के रेशम बुनकरों ने इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा इसके आयात पर प्रतिबंध लगाने के लिये ब्रिटिश संसद को एक प्रतिवेदन दिया। 1701 ई. में बंगाल के रेशम वस्त्रों का आयात रोक दिया गया। इसके बावजूद बंगाल रेशम और रेशम वस्त्र उत्पादन का महत्वपूर्ण केन्द्र बना रहा।

### ऊन

कपड़ा बनाने के लिए ऊन का भी उपयोग किया जाता था। इसमें कश्मीर की शॉल सबसे प्रसिद्ध थी जिसे पूरी दुनियां में निर्यातित किया जाता था। इन शॉलों में उपयोग में लाया जाने वाला उत्कृष्ट ऊन तिब्बंत से आयातित किया जाता था उत्कृष्ट कोटि के ऊनी वस्त्रों का आयात यूरोपीय व्यापारी आमतौर पर उच्च वर्ग के लिए किया करते थे। लगभग पूरे उत्तर भारत में ऊन से कम्बल बनाए जाते थे।

इसके अलावा सूती दरियां, कालीन (रेशमी और ऊनी) तम्बू और रजाइयां आदि भी बनाई जाती थीं। कालीन बुनाई कपड़ा उत्पादन की एक अन्य शाखा थी। उत्तर में बिहार (दाउदनगर, ओबरा आदि) दिल्ली, आगरा, लाहौर, मिर्जापुर आदि इसके प्रमुख केन्द्र थे। दक्षिण में वारंगल भी कालीन बनाने का प्रसिद्ध केन्द्र था। कोरोमंडल तट पर स्थित मसूलीपट्टम में भी कालीन बनाई जाती थी। कालीन काफी मात्रा में नहीं बनाए जाते थे और अभी भी ईरानी कालीनों का ही उपयोग होता था अकबर ने ईरानी ढंग के रेशमी कालीनों को राजकीय कारखाने में बनवाने में रुचि दिखाई।

तम्बुओं का उपयोग मुख्य रूप से सम्राट और उनके सरदार किया करते थे। इसलिए उनकी भी जरूरत पड़ती थी। अबुल फ़जल ने ग्यारह प्रकार के तम्बुओं का उल्लेख किया है। उनके आकार प्रकार में काफी विभिन्नता होती थी।

विभिन्न प्रकार के कपड़ों की सूती रेशमी या चांदी और सोने के धागे से कढ़ाई भी कपड़ा उद्योग से जुड़ा एक शिल्प था। काफी संख्या में शिल्पियों ने यह व्यवसाय अपना रखा था।

## 22.2.2 नील

पूरे देश में और विदेश में भी इसकी मांग काफी अधिक थी। जैसा कि हमने इकाई 21 में पढ़ा है कि नील की खेती बड़े पैमाने पर की जाती थी।

केवल पहाड़ी क्षेत्रों को छोड़कर पूरे देश में नील की खेती की जाती थी इसकी उत्कृष्ट कोटि आगरा के निकट बयाना में पाई जाती थी। इसके बाद अहमदाबाद के निकट सरखेज का स्थान आता है यह नीले रंग का होता था और रंगाई के काम आता था, इसलिए पूरे देश में और विदेश में भी इसकी मांग थी।

गुजरात में जम्बुसार, भड़ौच, बड़ौदा आदि में भी नील से रंगाई होती थी। उत्तर भारत में आगरा और लाहौर में बड़ी मात्रा में नील की खरीद बिक्री होती थी। कोरोमंडल तट पर मसूलीपट्टम भी नील का प्रमुख बाजार था।

इसमें से रंग निकालना काफी आसान था। पौधों को पानी में रख दिया जाता था। जब नील पानी में घुल जाता था तोउसे दूसरे हौज में डाल दिया जाता था। जहां नील तल में बैठ जाता था। इसे छान कर ठिक्की के रूप में सुखा लिया जाता था। अधिकांशतः किसान ही नील निकालने का काम किया करते थे।

NMDC-268

### 22.2.3 चीनी, तेल आदि

पूरे देश में गन्ना उपजाया जाता था और बड़े पैमाने पर इससे चीनी निकाली जाती थी। आमतौर पर गन्ने से तीन प्रकार के उत्पाद निकाले जाते थे: गुड़, चीनी और मिसरी। सभी गन्ना उत्पादक क्षेत्रों में गुड़ बनाया जाता था और स्थानीय तौर पर इसका उपभोग किया जाता था। अन्य दो प्रकार मुख्य रूप से बंगाल, उड़ीसा, अहमदाबाद, लाहौर, मुल्तान और उत्तरी भारत के हिस्सों में बनाए जाते थे। 17वीं शताब्दी के दक्खन के बारे में लिखते हुए थिविनो बताता है कि गन्ना उपजाने वाले सभी किसानों के पास अपनी भट्टी होती थी। अबुल फ़जल के अनुसार एक मन चीनी का मूल्य लगभग 128 दाम था जबकि मिसरी का मूल्य प्रति मन 220 दाम था।

गन्ने को कोल्हू में दबाकर उससे रस निकाला जाता था, यह कोल्हू या तो हाथों से चलाया जाता था या फिर पशुओं की सहायता ली जाती थी। गुड़ या चीनी बनाने के लिए गन्ने के रस को चौड़े बर्तनों में भट्टी पर चढ़ा दिया जाता था। रस को उबालने के दौरान ही विभिन्न प्रकार के गुड़ या चीनी बनाई जाती थी। बंगाल की चीनी उत्तम कोटि की मानी जाती थी और यूरोप तथा ईरान मे इसकी व्यापक मांग थी।

तेल भी अधिकांशतः ग्रामीण आधारित उद्योग में ही आता था। तेल के बीज को कोल्हू में डाल दिया जाता था और बीज से तेल निकल आता था। कोल्हू हाथों से भी चलाया जाता था और इसे चलाने में पशुओं की भी सहायता ली जाती थी। तेल निकालने वाली जाति को तेली कहते थे। बचा हुआ उत्पाद (खल्ली) जानवरों को खिलाया जाता था।

**बोध प्रश्न 1**

1) कपड़ा उत्पादन के महत्वपूर्ण केन्द्रों का नाम बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में रेशम उत्पादन पर संक्षेप में टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) भारत में पैदा होने वाले नील के मुख्य प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 22.3 खनिज, खनन और धातु

16वीं और 17वीं शताब्दी के दौरान भारत में गहरा खनन नहीं किया जाता था बल्कि विभिन्न प्रकार के खनिजों और धातुओं के लिए धरती के ऊपरी स्तर में ही खनन किया जाता था।

### 22.3.1 खनिज उत्पादन

नमक एक अनिवार्य खाद्य वस्तु थी और भारत इसमें आत्म निर्भर था। राजपूताना में सम्भर झील, पंजाब में नमक पत्थर की खानें और समुद्र का पानी इसका मुख्य स्रोत था। सिंध, कच्छ, गुजरात के तटवर्ती प्रदेशों, मालावार, मैसूर,बंगाल, आदि में समुद्र के पानी से नमक बनाया जाता था। नमक हर जगह नहीं पाया जाता था अतः यह प्रांतीय और अन्तर्प्रान्तीय व्यापार की एक मुख्य वस्तु था।

शोरा एक प्रमुख खनिज पदार्थ था। यूरोप में इसकी खूब मांग थी। इससे बारूद बनाया जाता था। आरंभ में शोरा अहमदाबाद, बड़ौदा आदि में ही निकाला जाता था। पर बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए दिल्ली-आगरा क्षेत्र में भी इसका निर्माण शुरू हो गया। सत्रहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बिहार में पटना शोरा बनाने का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया। पटना के आसपास के क्षेत्रों में शोरा इकट्ठा किया जाता था और उसे नाव द्वारा गंगा के रास्ते हुगली और फिर यूरोप ले जाया जाता था।

मिट्टी मिले शोरे से शोरा निकालना एक आसान विधि थी। जमीन पर छिछले हौज बनाए जाते थे उसमें मिट्टी मिले शोरा को डाल दिया जाता था। शोरा पानी में घुल जाता था और मिट्टी नीचे जम जाती थी। इसके बाद बड़े बर्तनों में शोरा पानी को उबाला जाता था, पानी वाष्प बनकर उड़ जाता था और शोरा प्राप्त किया जाता था। भारतीय कारीगर मिट्टी का बर्तन उपयोग करते थे। टैवर्नियर (17वीं शताब्दी) के अनुसार डच हॉलैंड से आयातित तांबे के बर्तनों में उबालने का काम करते थे। एक स्रोत के अनुसार एक वर्ष (1688 ई.) में केवल बिहार में ही दो लाख मन से ज्यादा शोरा का उत्पादन होता था।

छोटे पैमाने पर फिटकरी और अभ्रक जैसे अन्य खनिजों का भी उत्पादन होता था।

### 22.3.2 धातु

सही मायने में भारत में सोने और चांदी की खानें नहीं थीं। कोलार की प्रसिद्ध सोने की खान का पता नहीं लग पाया था। नदी तल से थोड़ी बहुत मात्रा में सोना निकाला जाता था पर इसमें इसके मूल्य से लागत ज्यादा हो जाती थी। फिच (1584) ने बिहार में नदी की रेत से सोना निकालने की विधि का उल्लेख किया है। इसी प्रकार दूसरे प्रांतों में भी नदी तलों में सोना पाया जाता था।

चांदी की आपूर्ति अधिकांशतः आयात से ही होती थी। सिक्का बनाने के लिए सोने और चांदी का उपयोग किया जाता था। गहना बनाने के लिए भी इनका खूब उपयोग होता था तथा लोग इसे बहुमूल्य धातु के रूप में अपने पास जमा भी रखते थे।

राजस्थान ताम्र उत्पादन का प्रमुख केन्द्र था। खेतरी में तांबे की खानें थीं। इनमें ज्यादातर तांबे का उपयोग सिक्का बनाने के लिए किया जाता था। इससे छोटे बड़े बर्तन और घरेलू उपयोग की वस्तुएं बनाई जाती थी।

भारत में लोहा काफी मात्रा में पाया जाता था। लोहे की खानें भारत के उत्तर, पूर्व, पश्चिम, मध्य और दक्षिण भागों में पाई जाती थी। अबुल फजल ने बंगाल, इलाहाबाद, आगरा, बिहार, गुजरात, दिल्ली और कश्मीर को प्रमुख लौह उत्पादक क्षेत्र बताया है। बिहार में छोटानागपुर और इससे लगे उड़ीसा के इलाकों में लोहा बड़ी मात्रा में पाया जाता था। दक्षिण में पाए जाने वाले लोहे से इस्पात बनाया जाता था।

NMDC-268

लोहे का उपयोग हल, कुल्हाड़ी, कील, पेंच, तलवार, खंजर आदि बनाने के लिए किया जाता था। दक्षिण, खासकर गोलकुंडा में बनाए जाने वाले इस्पात से तलवारें बनाई जाती थी जिसकी सारी दुनियां में मांग थी।

कुछ दूसरे धातु भी थोड़ी मात्रा में उत्पादित किए जाते थे। उत्तर और पश्चिमी भारत में सीसा पाया जाता था।

**हीरे का खनन**

भारत के कुछ हिस्सों में हीरों का खनन किया जाता था पर गोल-कुंडा की खान सर्वाधिक प्रसिद्ध थी। दूसरे स्थानों में बरार में बीरागढ़, मध्यप्रदेश में पन्ना, बिहार में छोटानागपुर या खोखरा उल्लेखनीय है।

## 22.4 काष्ठ आधारित शिल्प

लकड़ी से कई प्रकार के शिल्प जुड़े हुए थे। लकड़ी निर्मित आवागमन के साधनों में पालकी और बैल गाड़ी प्रमुख थे। इन्हें कई शैलियों में बनाया जाता था और अमीर लोग इसमें नक्काशी करवाते थे, और सुसज्जित करवाते थे। भारत में लंबा तटीय प्रदेश था और उत्तर भारत में कई नदियां थी इस कारण भारत में हमेशा से नौकाओं और जहाजों की जरूरत रही है।

कई प्रकार की नौकाओं का निर्माण किया जाता था। छोटी आकार की नौकाओं से लेकर बड़ी-बड़ी भारवाहक नौकाओं का निर्माण किया जाता था।

अरब सागर और बंगाल की खाड़ी के बंदरगाहों जैसे थाट्टा, सूरत, बसीन, गोआ, क्रैगनोर, कोचिन, मसूलीपट्टम, नारस-हरिहरपुर, सतगांव और चटगांव प्रमुख जहाज निर्माण केन्द्र थे। जब यूरोपवासियों की गतिविधियों में तेजी आई तो उन्होंने अपने जहाजों की इन्हीं केन्द्रों में मरम्मत करवानी शुरू कर दी। यहां बने जहाज उन्हें पूर्वी समुद्रों के लिए उपयुक्त लगे और उन्होंने भारत में बने जहाज भी खरीदे। इस प्रकार यूरोपवासियों की इस बढ़ती मांग के कारण 17वीं-18वीं शताब्दी में जहाज निर्माण उद्योग में तेजी से प्रगति हुई। दरवाजा, खिड़की और घरेलू लकड़ी के सामान जैसे बकसे, खाट आदि बनाने में भी लकड़ी का उपयोग होता था। समृद्ध लोग उत्कृष्ठ कोटि की लकड़ी का फर्नीचर बनवाते थे।

**बोध प्रश्न 2**

1) भारत में शोरा उत्पादन पर दस पंक्तियां लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित के प्रमुख क्षेत्रों का उल्लेख कीजिए :

i) हीरा खनन .....

.....

.....

ii) जहाज निर्माण : .....

.....

.....

.....

## 22.5 अन्य शिल्प

प्रत्येक क्षेत्र का अपना विशेष शिल्प होता था। यहां उन सभी शिल्पों पर विस्तार से विचार करना संभव नहीं इसलिए हम केवल कुछ महत्वपूर्ण शिल्पों का ही जिक्र करेंगे।

पत्थर कटाई एक महत्वपूर्ण शिल्प था क्योंकि इसका उपयोग घर, महल, किला, मन्दिर, आदि बनाने में किया जाता था। भारतीय पत्थर शिल्पी अपनी कारीगरी के लिए प्रसिद्ध थे।

गैर कृषि उत्पादों में चमड़े की वस्तुओं जैसे जूता, चप्पल, पुस्तकों की जिल्द आदि का विशेष महत्व है। इनका निर्माण पूरे देश में होता था।

**कागज**

विवेच्य काल में अहमदाबाद, दौलताबाद, लाहौर, सिआलकोट, पटना के निकट बिहार शरीफ, आदि स्थानों पर कागज बनाया जाता था। अहमदाबाद में भी कई प्रकार के कागज बनाए जाते थे और इसे अरब देशों, तुर्की और फारस को निर्यातित किया जाता था। कश्मीर का कागज भी प्रसिद्ध था।

उत्तर भारत में कई स्थानों पर कागज बनाया जाता था और उसका स्थानीय उपयोग होता था। दक्षिण भारत में इसका उत्पादन कम होता था। अधिकांश कागज हाथ का बनाया होता था और यह साधारण कोटि का होता था।

**मिट्टी के बर्तन**

समकालीन दस्तावेजों को देखने से पता चलता है कि उस समय लोग खाना बनाने, पानी और अनाज रखने आदि के लिए मिट्टी के बर्तन का उपयोग करते थे। इसके अतिरिक्त सभी घरों की छत खपड़ैल की हुआ करती थी। मिट्टी से बने बर्तनों की मांग अवश्य ही काफी अधिक थी। भारत के प्रत्येक बड़े गांव में एक कुम्हार होता था जो प्रतिदिन काम में आनेवाले मिट्टी के बर्तन बनाया करता था।

साधारण मिट्टी के बर्तनों के अलावा चीनी मिट्टी के परिष्कृत बर्तन भी बनते थे। मनूकी (1663 ई.) बताता है कि खानपान के लिए बने मिट्टी के परिष्कृत बर्तन शीशे से ज्यादा बारीक और उत्कृष्ट और कागज से ज्यादा हल्के हुआ करते थे। मार्शल (1670 ई.) ने भी उत्कृष्ट खानपान के बर्तनों का उल्लेख किया है।

देश के कई भागों में शीशे का सामान भी बनाया जाता था। भारतीय कारीगर साबुन, हाथी दांत और सीप की वस्तुएं तथा सींघ से भी विभिन्न चीजें आदि बनाया करते थे।

कई शिल्प वन आधारित थे। इनमें से एक लाख था। लाख का उपयोग चूड़ी बनाने, दरवाजों, खिड़कियों, खिलौने को रंगने और लाल रंग बनाने के लिए किया जाता था। यह

NMDC-268

बंगाल, बिहार, असम, उड़ीसा, मालवा, गुजरात मालाबार आदि के जंगलों से निकाला जाता था। बंगाल लाख सबसे अच्छा माना जाता था। सूरत में लाख की चूड़ियां और खिलौने बनाए जाते थे। यह मुहर लगाने के काम भी आता था।

कई समकालीन स्रोत दक्षिण तट पर समुद्र से मोती निकालने के व्यवसाय का भी उल्लेख करते हैं।

## 22.6 उत्पादन का संगठन

विवेच्य काल में भारत में कारीगरों के व्यक्तिगत प्रयास से लेकर कारखाने तक की व्यवस्था मौजूद थी। शिल्प की जरूरतों और आवश्यकताओं के अनुरूप विभिन्न शिल्पों और उद्योगों में उत्पादन के संगठन में विभिन्नताएं थीं।

**ग्रामीण कारीगर** : जैसा कि हम इकाई 17 में देख चुके हैं गांवों की जरूरतों को पूरा करने वाली वस्तुओं का निर्माण कारीगर करता था और वह जजमानी व्यवस्था नामक ग्रामीण व्यवस्था का एक नियमित अंग था। इनमें लोहार, कुम्हार और चर्मकार की महत्वपूर्ण भूमिका थी। आमतौर पर उन्हें उनकी सेवा के बदले अनाज दिया जाता था। वे कृषि से जुड़े औजार उपलब्ध कराते थे और उनकी मरम्मत करते थे। दक्खन और महाराष्ट्र में यह व्यवस्था ज्यादा संगठित थीं जहां ग्रामीण कारीगरों और सेवकों को बलूतेदार कहा जाता था। दक्खन में अलूतेदार नामक एक और समुदाय था जिन्हें भी कई प्रदेशों में गांव के कारीगरों की श्रेणी में शामिल किया गया था।

ग्रामीण इलाकों में मुद्रा अर्थव्यवस्था के प्रवेश और इसकी बढ़ती मांग के कारण जीवन यापन संबंधी दृष्टिकोण में अंतर आ गया तपन राय चौधरी के अनुसार कम से कम सत्रहवीं शताब्दी एक गुजर बसर पर आधारित अर्थव्यवस्था में फर्क आया। इस पद्धति में कारीगर अपना माल बनाया करता था और उसे उपज का एक हिस्सा मिलता था। अब वह अपना सामान नगद बेचने लगा और अतिरिक्त काम के लिए अलग से नगद या वस्तु रूप में भुगतान लेने लगा। पर इसके साथ-साथ ग्रामीण उत्पाद में हिस्सा या राजस्व मुक्त जमीन का एक भाग देने की प्रथा भी कायम थी।

तपन राय चौधरी बताते हैं कि संभवतः अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक लंबी और मध्यम दूरी के व्यापार के लिए सारा उत्पादन इन कारीगरों पर निर्भर था जो जजमानी व्यवस्था में पूरी तरह गुंथे हुए थे।

मांग बढ़ने के साथ ग्रामीण कारीगर शहरी बाजारों में भी अपना माल भेजने लगे। ग्रामीण कारीगर इधर उधर घूमते रहते थे और एक गांव से दूसरे गांव या पास के शहर में जाते रहते थे।

### बाजार के लिए उत्पादन

कारीगर स्वतंत्र और व्यक्तिगत तौर पर बाजार के लिए उत्पादन करता था। अलग-अलग वस्तुएं अलग-अलग कारीगर बनाया करते थे। और उन्हें बाजार में बेचा जाता था। एक डच यात्री पेल्सर्ट (1623 ई.) बताता है कि विभिन्न शिल्पों से जुड़े कारीगरों की लगभग सौ विशेषीकृत श्रेणियां थी। वस्त्र उद्योग में उच्च कोटि की विशेषता देखने को मिलती है। वस्त्र के उत्पादन के प्रत्येक चरण से एक अलग समुदाय जुड़ा था। मसलन रूई धुनना, सूत कातना, कपड़ा बुनना, सिल्क का धागा बनाना, विरंजन, रंगाई, छपाई से अलग-अलग विशेषीकृत समुदाय जुड़ा हुआ था। गांव के किसान भी कई प्रकार की चीजें बनाते थे और इसमें उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। कृषि आधारित सभी उद्योगों जैसे नील, चीनी, रेशम और सूती, धागों की कताई, नमक और शोरा का निर्माण, से वे सक्रिय रूप में जुड़े हुए थे।

उत्पादन की स्थानीयता एक महत्वपूर्ण विशेषता थी। जैसाकि पहले जिक्र किया जा चुका है, प्रत्येक क्षेत्र में किसी खास प्रकार के शिल्प का ही उत्पादन होता था। यूरोपीय

NMDC-268

व्यापारियों के अनुसार उन्हें अलग-अलग सामान लेने के लिए अलग-अलग जगह जाना पड़ता था। केवल मसूलीपट्टम और बनारस में सात-सात हजार बुनकर थे। इसी प्रकार कासिम बाजार में 2500 रेशमी बुनकर थे।

कारीगर व्यक्तिगत स्तर पर उत्पादन करने के लिए कच्चा माल खुद प्राप्त करता था और बने माल को खुद ही बेचने की भी व्यवस्था करता था। कारीगर या शिल्पी अपने घर में ही निर्माण कार्य करता था। इन कारीगरों के पास पूंजी कम होती थी। अतः व्यक्तिगत तौर पर वे कम माल तैयार कर पाते थे और व्यापारियों को इनसे माल लेने के लिए काफी प्रयास करना पड़ता था। माल की गुणवता में भी अंतर होता था।

**दादनी**

इन समस्याओं के कारण उत्पादन के नए तरीके दादनी का जन्म हुआ। इसमें व्यापारी कारीगरों को अग्रिम राशि दे दिया करते थे और कारीगर दिए हुए समय पर माल देने का वादा करता था। यहां व्यापारी अपनी पसंद कारीगर को बता सकता था। कपड़ा उद्योग में यह प्रथा इतनी जम गयी थी कि कारीगरों को अग्रिम दिए बिना कपड़ा प्राप्त करना मुश्किल था। सत्रहवीं शताब्दी में दक्खन में बुनकर उद्योग पर व्यापारी हावी हो गए। ऐलोव के अनुसार दक्षिण भारत में "शिल्प उद्योगों पर व्यापारिक पूंजी का प्रभाव काफी फैल चुका था। वस्तुतः कोरोमंडल तट के पास बसे सभी कारीगरों पर एक या दूसरे व्यापारी का नियंत्रण था। 17वीं शताब्दी में, कासी वीरन्ना सबसे बड़ा व्यापारी था। पुलिकट को छोड़कर मद्रास से लेकर आलमगांव तक का पूरा तटीय प्रदेश उसके नियंत्रण में था। इस क्षेत्र की बुनकर बस्तियों को वीरन्ना गांवों के नाम से जाना जाता था।

दादनी व्यवस्था में उत्पादित वस्तु की गुणवता और मात्रा निर्धारित करने में खरीदार महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। कारीगरों को कच्चा माल खरीदने के लिए पर्याप्त पूंजी मिल जाती थी। उनके माल की बिक्री का भी आश्वासन मिल जाता था पर बिक्री पर उसका नियंत्रण नहीं रह जाता था।

**उत्पादक केन्द्र (कारखाने)**

1620-21 में अंग्रेजों ने पटना में इस प्रकार की पहली इकाई स्थापित की जहां रेशम के धागे बनाए जाते थे और इसमें 100 मजदूर काम करते थे। कासिम बाजार में डच कम्पनी ने अपने रेशम के कारखाने में 700-800 बुनकरों को काम दे रखा था। पर इस प्रकार की व्यवस्था इक्का दुक्का स्थानों पर ही उपलब्ध थी (देखिए ए.जे. कैसर "द रोल ऑफ ब्रोकर्स इन मेडिवल इंडिया")। जहाज निर्माण और गृह निर्माण भी ऐसा क्षेत्र था जहां एक साथ काफी लोग काम करते थे। दक्खन और दक्षिण भारत के लगभग सभी जहाज निर्माण केन्द्रों में एक छत के नीचे और एक निगरानी तहत अनेक कारीगर और मजदूर काम करते थे। गृह निर्माण में भी जहाज निर्माण की तरह कई लोग एक निगरानी में काम करते थे। (देखिए ए.जे. कैसर, 'Ship Building in the Mughal Empire during the 17th Century' तथा Building Construction in Mughal India, the Evidence from Painting).

दो अन्य उत्पादक क्षेत्रों में भी काफी संख्या में कार्मिक (हालांकि वे बहुत निपुण नहीं होते थे) एक साथ कार्य करते थे। पहला, गोलकुंडा और दक्खन की हीरे की खानों में 30,000 से 60,000 लोग काम करते थे। यहां खान निरीक्षक शासक से जमीन के टुकड़े किराए पर ले लेता था। ये सभी अपने जमीन के टुकड़ों पर 200 से 300 खनिकों से काम करवाते थे। इन खनिकों को प्रतिदिन के हिसाब से मजदूरी मिलती थी। इसी प्रकार खनन के मौसमः (दिसम्बर-जनवरी) में बिहार के हीरे की खानों में लगभग 8000 आदमी काम करते थे। आमतौर पर ये किसान या खेतिहर मजदूर होते थे जो अपने खेतों में फसल रोपकर यहां आते थे।

शोरा के उत्पादन में भी एक साथ कई लोग काम करते थे। इस मामले में भी एक मालिक के निरीक्षण में छोटे समूहों में कई लोग काम करते थे। बिहार में इन्हें नूनियां कहा जाता

NMDC-268

था। बढ़ती मांग को पूरा करने के लिए डच और अंग्रेजों ने शोरा निकालने के लिए अपनी इकाइयां स्थापित की। शोरे की इन शोधक इकाइयों में यूरोपीय कम्पनियां सारे साधन उपलब्ध कराती थीं और कार्मिक उनके साधनों से ही काम करते थे।

### शाही कारखाने

विवेच्य काल में शाही कारखाने उत्पादन की एक प्रमुख विशेषता थे। ये कारखाने 14-15वीं शताब्दियों में भी कार्यरत थे। ये कारखाने राजकीय व्यवस्था का हिस्सा थे और कुलीन वर्गों के लोग भी अपने कारखाने चलाते थे। इनमें बनी चीजों का निर्माण राजकीय घरेलू आवश्यकताओं और दरबार के लिए हुआ करता था। कई उच्चस्थ कुलीनों के अपने कारखाने हुआ करते थे। आमतौर पर इनमें महंगी और विलास की वस्तुओं का उत्पादन होता था। निपुण कारीगर एक छत के नीचे काम करते थे और उत्पादन करते थे। राज्य के अधिकारी उनका निरीक्षण करते थे। कारीगारों के पास इतनी पुंजी नहीं थी कि वे राजकीय जरूरतों के अनुसार वस्तुओं का निर्माण कर सकें। इस जरूरत को पूरा करने के लिए कारखानों का निर्माण हुआ। इन बहुमूल्य वस्तुओं के निर्माण के लिए बहुमूल्य कच्चे माल की जरूरत होती थी और शासन नहीं चाहता था कि ये बहुमूल्य वस्तुएं कारीगर अपने घर ले जाकर रखें। यहां हम इन कारखानों की कार्य पद्धति पर विस्तार से विचार नहीं करने जा रहे हैं क्योंकि इनमें बाजार के लिए नहीं बल्कि राजकीय और व्यक्तिगत जरूरतों को पूरा करने के लिए उत्पादन होता था।

हमने देखा कि विवेच्य काल के दौरान उत्पादन की प्रक्रिया में परिवतन आ रहा था। तपन राय चौधरी के कथन से इसका निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा सकता है "मुगल भारत में उत्पादन का संगठन अपरिवर्तित नहीं रहा। बहुत कुछ घटित हो रहा था, पर यह सब बहुत सीमित था। नये विकास हुए पर अतीत से नाता नहीं टूट सका। परम्परागत प्रक्रिया अभी भी जारी थी। इसके बावजूद तकनीक की अपेक्षा संगठन में अधिक आधारभूत बदलाव आया"।

### बोध प्रश्न 3

1) **जजमानी** व्यवस्था का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित में से प्रत्येक पर पांच पंक्तियां लिखिए।

i) **दादनी :** .....

.....

.....

.....

.....

ii) **कारखाने**

.....

.....

.....

.....

.....

iii) **शाही कारखाना**

.....

.....

.....

.....

.....

## 22.7 सारांश

इस इकाई में हमने भारत में गैर-कृषि उत्पादन पर विचार किया यह क्षेत्र काफी विकसित था और इसकी अलग पहचान थी। यहां वस्त्र उद्योग सबसे बड़ा उत्पादक क्षेत्र था। सूती वस्त्र की काफी मांग थी और इससे इस उद्योग को काफी बढ़ावा मिला। नील और चीनी कृषि आधारित उद्योग थे।

नमक के उत्पादन से घरेलू आवश्यकता की पूर्ति हो जाती थी। शोरा उद्योग में भी बड़े पैमाने पर उत्पादन होता था। इसे निर्यात भी किया जाता था। लोहे और तांबे का भी उत्पादन होता था। चांदी का उत्पादन इसके मुकाबले कम होता था। इस काल के दौरान जहाज निर्माण उद्योग का भी उल्लेखनीय विकास हुआ।

यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि गैर-कृषि क्षेत्र में कारीगर व्यक्तिगत स्तर पर उत्पादन करता था। कुछ क्षेत्रों, जैसे शोरा और हीरा खनन में एक साथ एक निगरानी में काफ़ी लोग काम किया करते थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने रेशम के धागों को निकालने के लिए कुछ कारखाने स्थापित करने का काम किया। पर उन्हें कम ही सफलता मिली। कारीगरों को अग्रिम राशि देने की प्रथा पूरी तरह विकसित थी। राजकीय कारखानों में राजपरिवार और कुलीन वर्गों की जरूरतों को पूरा करने के लिए उत्पादन किया जाता था।

## 22.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) गुजरात, बंगाल और उत्तर प्रदेश के कुछ भाग प्रमुख कपड़ा उद्योग केन्द्र थे। देखिए उपभाग 22.2.1

2) बंगाल में काफी मात्रा में रेशम का धागा बनाया जाता था और उसे देश के अन्य भागों में बुनने के लिए भेजा जाता था। देखिए उपभाग 22.2.1

3) बयाना और सरखेज की दो महत्वपूर्ण कोटियां देखिये उपभाग 22.2.2

NMDC-268

**बोध प्रश्न 2**

1) 17वीं शताब्दी में बिहार, बंगाल और गुजरात में बड़ी मात्रा मे उत्पादन होता था। देखिए उपभाग 22.3.1

2) देखिए उपभाग 22.3.1 और 22.3.2

**बोध प्रश्न 3**

1) **जजमानी** व्यवस्था में कारीगरों को उनकी सेवा के लिए ग्राम समुदाय द्वारा भुगतान किया जाता था। देखिए 22.5

2) देखिए भाग 22.6

NMDC-268

# इकाई 23 आंतरिक और विदेशी व्यापार

## इकाई की रूपरेखा


23.0 उद्देश्य
23.1 प्रस्तावना
23.2 आंतरिक व्यापार
23.2.1 स्थानीय और प्रांतीय व्यापार
23.2.2 अंतरप्रांतीय व्यापार
23.2.3 तटीय व्यापार
23.3 विदेशी व्यापार
23.4 व्यापार मार्ग और यातायात के साधन
23.5 प्रशासन और व्यापार
23.6 सारांश
23.7 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 23.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम मुगलकालीन भारत के आंतरिक और विदेशी व्यापार पर विचार विमर्श करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- स्थानीय, प्रांतीय, और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की पद्धति के बारे में जान सकेंगे;
- आंतरिक व्यापार में विनिमय की प्रमुख वस्तुओं का नाम बता सकेंगे;
- समुद्र और जमीन के रास्ते होने वाले भारतीय विदेश व्यापार की पद्धति की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे; और
- आयात और निर्यात होने वाली प्रमुख वस्तुओं का नाम बता सकेंगे।

## 23.1 प्रस्तावना

इस खंड की इकाई 21 और 22 में हमने भारत के कृषि और गैर-कृषि उत्पादनों पर विचार विमर्श किया है। इन दोनों इकाइयों में हमने साम्राज्य के विभिन्न प्रांतों में वस्तुओं के उत्पादन की चर्चा की है। हमने यह भी देखा कि वस्तुओं का उत्पादन स्थानीय खपत से ज्यादा होता था। इस अधिशेष उत्पादन ने व्यापारिक गतिविधियों के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

यह व्यापारिक गतिविधि खेत में अनाज उत्पादन के साथ ही शुरू हो जाती थी। इसी प्रकार शिल्प उत्पादन के क्षेत्र में व्यापारिक गतिविधि कारीगर के घर से ही आरंभ हो जाती थी। यह गतिविधि स्थानीय, प्रांतीय, अंतर प्रांतीय और देश के बाहर कई स्तरों पर घटित होती थी। इस इकाई में हम अपने अध्ययन काल के दौरान देशी और विदेशी व्यापार पर विचार विमर्श करेंगे।

राजनैतिक स्थिरता और उत्पादन में हुई वृद्धि के कारण इस काल में व्यापारिक गतिविधि में काफी तेजी आई। व्यापार में कई गुना वृद्धि हुई। इस दौरान भारत की व्यापारिक गतिविधियों में कई यूरोपीय देश भी शामिल हुए। सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में ही भारत के पश्चिमी भागों में पुर्तगाली आकर बस चुके थे। सत्रहवीं शताब्दी के दौरान फ्रांसीसी, डच और अंग्रेज व्यापारी भी व्यापारिक गतिविधियों में शामिल हुए।

NMDC-268

इस इकाई में हम दो मुद्दों पर विचार करेंगे i) आंतरिक और विदेशी व्यापार की पद्धति; और ii) आयात और निर्यात होने वाली प्रमुख वस्तुएं।

वाणिज्यिक गतिविधियों के विकास से व्यापार में हिस्सा लेने वाले कुछ विशेषीकृत समुदायों का उदय हुआ। इसी के साथ-साथ कुछ आधारभूत वाणिज्यिक प्रथाएं भी स्थापित हुई। इन मुद्दों की चर्चा इकाई 24 में की जाएगी। इकाई 25 में यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों के संगठन पर भी विचार किया जाएगा। आइए, पहले आंतरिक व्यापार की चर्चा की जाए।

## 23.2 आंतरिक व्यापार

जैसा कि हमने पहले बताया है कि हम स्थानीय, प्रांतीय, तटीय और अंतर प्रांतीय स्तरों पर आंतरिक व्यापार की चर्चा करेंगे।

### 23.2.1 स्थानीय और प्रांतीय व्यापार

जैसा कि इकाई 16 में बताया जा चुका है : भू-राजस्व नगद में वसूल किया जाता था। इसका अर्थ यह हुआ कि अधिशेष कृषि उत्पाद को बेचा जाता था। इसका अधिकांश हिस्सा गांव में ही बेचा जाता था। इनमें से अधिकांश बंजारों (परम्परागत अनाज व्यापारी) द्वारा खरीद लिया जाता था और वे इसे दूसरे शहरों और बाजारों में ले जाया करते थे। टेवर्नियर नामक फ्रांसीसी यात्री 17वीं शताब्दी में भारत आया था, वह बताता है कि लगभग प्रत्येक गांव में चावल, आटा, मक्खन, दूध, सब्जी, चीनी और विभिन्न प्रकार की मिठाइयां खरीदी जा सकती थीं। यहां तक कि कई गांवों में भेड़, बकरी, मुर्गा आदि भी उपलब्ध होते थे। उसके अनुसार प्रत्येक बड़े गांव में एक सर्राफ या मुद्रा विनिमयदाता होता था। इसके अलावा क्षेत्र विशेष के प्रत्येक शहर में एक बाजार होता था जहां आसपास के लोग सामानों की खरीद-बिक्री किया करते थे। इन नियमित बाजारों के अतिरिक्त **हाट** या **पेंठ** भी लगते थे जहां गांव के लोग रोजमर्रा की वस्तुओं का आदान-प्रदान कर सकते थे या खरीद-बेच सकते थे। **हाट** नियतकालिक बाजार होते थे जो सप्ताह में किसी खास दिन लगाए जाते थे। इस प्रकार के कुछ **हाट** किसी खास वस्तु के व्यापार के लिए भी होते थे।

इन स्थानीय बाजारों में साधारणतया अनाज, नमक, कृषि और घरेलू उपयोग के लिए लकड़ी और लोहे के बने साधारण औजार और मोटे सूती कपड़े उपलब्ध होते थे।

इस प्रकार के बाजार सभी छोटे कस्बों और बड़े गांवों में अवस्थित होते थे। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य के जौनपुर के बारे में बनारसी दास लिखते हैं कि इसमें 52 परगने, 52 बाजार और 52 थोक बाजार या मंडी थीं। इस विवरण से ऐसा लगता है कि प्रत्येक परगने में कम से कम एक बाजार और एक मंडी या थोक बाजार होता था।

इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में छोटे और बड़े बाजारों यथा **हाट, पेंठ,** मंडी और व्यक्तिगत रूप से व्यापारियों के माध्यम से व्यापारिक गतिविधियां चलती रहती थीं। तपन राय चौधरी के अनुसार प्रत्येक गांव और उसमें स्थित मंडी विनिमय और वस्तुओं के वितरण की कड़ी के रूप में काम करती थी।

ये स्थानीय व्यापारिक केंद्र उस क्षेत्र के बड़े वाणिज्यिक केंद्रों से जुड़े होते थे। प्रत्येक मुगल प्रांत में एक बड़ा वाणिज्यिक केंद्र होता था जहां सूबा के विभिन्न हिस्सों में उत्पन्न वस्तुओं का व्यापार होता था। आमतौर पर ये बड़े शहर **सूबा** के प्रशासनिक मुख्यालय हुआ करते थे। पटना, अहमदाबाद, सूरत, ढाका, आगरा, दिल्ली, लाहौर, मुल्तान, अजमेर, थट्टा, बुरहानपुर, मसूलीपट्टम, बीजापुर, हैदराबाद, कालिकट, कोचीन, आदि इस प्रकार के व्यापारिक केंद्रों के कुछ उदाहरण हैं। हमारे स्रोतों से पता चलता है कि इन वाणिज्यिक केंद्रों में केवल उस प्रांत की वस्तुएं ही नहीं मिलती थीं, बल्कि यहां दूसरे प्रांतों और विदेशों में बनी वस्तुएं भी उपलब्ध होती थीं। प्रत्येक शहर में कई बाजार होते थे। केवल

NMDC-268

अहमदाबाद और उसके आसपास लगभग 19 मंडियां थीं। बाजार पर लगाये गये वाणिज्यिक कर को बाजार के आकार का सूचकांक माना जा सकता है। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अहमदाबाद से प्रति वर्ष 42,8600 दाम वाणिज्य कर वसूला जाता था। इसी प्रकार दिल्ली, आगरा, ढाका और लाहौर में अलग-अलग वस्तुओं के लिए अलग बाजार होता था। यह कहा जाता है कि दिल्ली में बड़े कुलीनों के लड़के बिना किसी परेशानी के एक दिन में एक लाख रुपये खर्च कर सकते थे। 17वीं शताब्दी के अंत के गोवा के बारे में लिखते हुए जे. लिशोटन बताते हैं कि शहर के मुख्य मार्ग पर प्रतिदिन नीलामी होती थी। वह यह भी बताता है कि एक मार्ग पर बहुत सी दूकानें थीं जिनमें सभी प्रकार के रेशमी, मखमली, साटन, के कपड़े, चीन के बने चीनी मिट्टी के बर्तन, सिल्क और सभी प्रकार के वस्त्र मिलते थे। इन शहरों में बड़ी संख्या में व्यापारी, दलाल और सर्राफ रहते थे। बाहरी व्यापारियों के रहने के लिए इन शहरों में **सरायों** की व्यवस्था थी।

इन केंद्रों में पास के शहरों, कस्बों और गांवों से चीजें बिकने के लिए आती थीं, मसलन पटना में रेशम, बैकंठपुर से सूती वस्त्र, नंदनपुर और सालिमपुर से और सूबा के अन्य भागों से सब्जियां, अफीम और चीनी आती थी।

कुछ शहर कुछ खास चीजों के व्यापार के लिए विशेष बाजार समझे जाते थे। मसलन बुरहानपुर (कपास मंडी), अहमदाबाद (कपड़ा), कैम्बे (रत्न बाजार), सूरत सरखेज (नील), आगरा बयाना (नील) आदि।

इन सभी वाणिज्यिक केंद्रों में टकसाल होते थे जिनमें चांदी, तांबे और कभी-कभी सोने के सिक्के भी ढाले जाते थे। टकसालों के बारे में आप इकाई 20 में विस्तार से अध्ययन करेंगे।

## 23.2.2 अंतरप्रांतीय व्यापार

विवेच्य काल में भारत का अंतरप्रांतीय व्यापार काफी विकसित था। यातायात के खर्च और आवागमन में लगने वाले समय को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि अंतर प्रांतीय व्यापार का परिमाण काफी ऊंचा था। व्यापार के लिए वस्तुएं एक जगह से दूसरी जगह सैकड़ों और कभी-कभी हजारों मील दूर ले लाई जाती थीं। अंतर प्रांतीय व्यापार में अनाज और विभिन्न प्रकार के कपड़ों का विशेष स्थान था। लम्बी दूरी के व्यापार में विलास की वस्तुओं, धातु और अस्त्र भी शामिल होते थे। इन सभी वस्तुओं की सूची प्रस्तुत करना संभव नहीं है। यहां हम कुछ महत्वपूर्ण वस्तुओं की संक्षिप्त जानकारी देंगे।

पूर्व में, बंगाल का भारत के सभी हिस्सें से व्यापार संबंध काफी विकसित था। हुगली, ढाका, मुर्शिदाबाद, मालदा, सतगांव, टांडा, हिजली, श्रीपुर, सोनार गांव बंगाल के महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र थे। इनमें हुगली व्यापार का सर्वप्रमुख केंद्र था।

यहां बिहार, उड़ीसा और बंगाल के कुछ भागों से माल लाया जाता था। बंगाल पूरे देश को अनाज की आपूर्ति करता था। पटना से चावल और चीनी बंगाल के बाजारों में आता था। पटना के निकट लखावर कपड़ा उत्पादन का प्रमुख केंद्र था। यहां भारत के विभिन्न हिस्सों और यहां तक कि विदेश से आए व्यापारी माल खरीदते थे। बंगाल में बना कपड़ा पटना से लेकर गुजरात में अहमदाबाद तक उपलब्ध था। गुजरात और बिहार में बड़े पैमाने पर रेशम (सिल्क) बनाया जाता था पर इसके लिए कच्चा माल बंगाल से आता था। इस कच्चे माल से बना रेशम वस्त्र देश के सभी हिस्सों में तथा विदेश भेजा जाता था। कश्मीर का केसर आसानी से बंगाल और बिहार के बाजारों में मिल जाता था। बुरहानपुर में बनने वाला छींट का कपड़ा भी बंगाल के बाजारों में मिलता था। बंगाल का आगरा, बनारस और उत्तर भारत के अन्य शहरों के साथ नियमित व्यापारिक संबंध था।

पश्चिम में, अहमदाबाद और सूरत सबसे बड़े वाणिज्यिक केंद्र थे, यहां के बाजारों में भारत के दक्षिण, उत्तर और पूर्वी भागों में बने कपड़े उपलब्ध होते थे। बेचने के पहले यहां उन्हें सुखाया और रंगा जाता था। बंगाल के कच्चे रेशम से गुजरात में रेशम का वस्त्र बनाया जाता था और उसे उत्तर के बाजारों में ले जाया जाता था। गुजरात को काली मिर्च और मसाले मालाबार तट से प्राप्त होते थे। गुजरात से कपड़ा मुल्तान और लाहौर ले जाया

NMDC-268

जाता था। गुजरात में लाख बंगाल से आता था, अपनी गुणवत्ता के लिए प्रसिद्ध सरखेज नील गुजरात से भारत के विभिन्न प्रांतों में भेजा जाता था। गुजरात, कोंकण और मालाबार के शहरों के बीच व्यापक पैमाने पर व्यापार होता था।

उत्तर में, आगरा में काफी मात्रा में रेशम बंगाल से आता था। अवध क्षेत्र से कालीन और कपड़े, गुजरात, बंगाल, पटना, लाहौर और मुल्तान ले जाये जाते थे। कश्मीर का केसर, लकड़ी का सामान, फल, ऊनी शॉल आदि उत्तर, पश्चिम और पूर्वी भारत में पाया जाता था। कश्मीर से मुल्तान, आगरा और दिल्ली तक बर्फ भेजी जाती थी। शाहजादपुर (इलाहाबाद के पास) से भारत के सभी हिस्सों में कागज भेजा जाता था। बयाना (आगरा के निकट) का प्रसिद्ध नील लाहौर, मुल्तान और दक्षिणी भागों में भेजा जाता था। राजस्थान का प्रसिद्ध संगमरमर देश के सभी हिस्सों, खासकर आगरा और दिल्ली में भेजा जाता था। उत्तर से अनाज गुजरात तक ले जाया जाता था।

दक्षिण में होने वाला अधिकांश व्यापार तटों के समीप होता था। बंगाल में उत्पन्न नील को काफी मात्रा में मसूलीपट्टम में बेचा जाता था। मालाबार तट से काली मिर्च और मसाले बीजापुर, कोरोमंडल और कोंकण तट तक ले जाए जाते थे और मसूलीपट्टम से गुजरात का तम्बाकू बंगाल ले जाया जाता था। गोलकुंडा की खानों से पूरे भारत को हीरे की प्राप्ति होती थी।

खनिज और धातु किसी खास जगह ही प्राप्त होते थे, मुगल भारत में देश के सभी भागों में उन्हें व्यापारियों द्वारा पहुंचाया जाता था। नमक का उत्पादन मुख्य रूप से राजस्थान और पंजाब में होता था पर उन्हें उत्तरी और दक्षिणी भारत के सभी हिस्सों में पहुंचाया जाता था। तटीय प्रदेशों में समुद्र से नमक प्राप्त किया जाता था। मध्य भारत में ग्वालियर लोहे का प्रमुख स्रोत स्थान था। इसके अलावा राजस्थान, पंजाब और सिंध में भी लोहा पाया जाता था। अच्छी कोटि का इस्पात गुजरात में कच्छ, दक्खन और दक्षिण भारत के कुछ क्षेत्रों में पाया जाता था। तांबे का उत्पादन राजस्थान, बिहार, सिंध, और उत्तर भारत के कई हिस्सों में होता था।

### 23.2.3 तटीय व्यापार

लंबी दूरी और यातायात के तीव्र गति के साधनों के अभाव के कारण अंतर प्रांतीय व्यापार समुद्र के रास्ते होता था जिनमें कई तटीय इलाके शामिल होते थे। पश्चिमी तट पर तटीय व्यापार ज्यादा गतिशील था, हालांकि पूर्वी तट पर भी काफी व्यापारिक गतिविधियां होती थीं। दोनों तटों पर व्यापारिक गतिविधियां विभिन्न तरीकों से संगठित की जाती थीं। पश्चिमी तट पर समुद्री डाकुओं का खतरा गंभीर था। अतः इस रास्ते से जाने वाले जहाज एक कारवां में जाते थे जबकि पूर्वी तट पर पूरे वर्ष छोटी बड़ी नौकाओं द्वारा व्यापार होता रहता था।

पश्चिमी तट पर मई और सितम्बर के बीच सुरक्षा के साथ कारवां बनाकर व्यापारियों के जहाज गोवा से कोचिन और गोवा और खंभात के बीच दो से तीन बार चक्कर लगा लेते थे। खंभात जाने वाले कारवां में विभिन्न आकारों के लगभग 200-300 जहाज और नौकाएं होती थीं। ये गेहूं, तेल, दाल, चीनी, कपड़े और विभिन्न फुटकल वस्तुएं ले जाती थीं। कोचिन और गोवा के बीच जाने वाले कारवां इतने बड़े नहीं होते थे पर इसमें बहुत अधिक प्रकार के सामान ले जाये जाते थे। मलक्का और पूरब से आने वाले जहाज श्रीलंका के आसपास कहीं मिलते थे और फिर बंगाल और कोरोमंडल तट से आई नौकाएं इन्हें सुरक्षित रूप से कोचिन पहुंचा देती थीं। बंगाल के तटीय शहरों में तांबा, जिंक, टीन, तम्बाकू, मसाले और छींट के कपड़ों से लदी नावें कोरोमंडल तट से आती थीं। इसके बदले कोरोमंडल तट पर तांबा, पारा, हिंगुल, काली मिर्च, आदि गुजरात से और मसाले मालाबार से पहुंचते थे। उड़ीसा के तटीय शहरों का भी कोरोमंडल और मालाबार के तटों से संबंध था। विजयनगर और गोलकुंडा से लाया गया कपड़ा, अनाज, लोहा, इस्पात और अन्य धातुएं कोरोमंडल के रास्ते बंगाल पहुंचती थीं। बंगाल के तट से चावल, कपड़े और अन्य

वस्तुएं पश्चिमी तट तक पहुंचाई जाती थी। सिंधु-खंभात, गुजरात-मालाबार, बंगाल-कोरोमंडल, और मालाबार-कोरोमंडल के बीच तटीय व्यापार काफी मात्रा में होता था।

**बोध प्रश्न 1**

1) स्थानीय व्यापार में **हाट** और **पेंठ** की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) प्रांतीय व्यापार के दस प्रमुख केंद्रों का नाम बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) देश के अन्य हिस्सों से गुजरात में होने वाले अंतर प्रांतीय व्यापार का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 23.3 विदेशी व्यापार

शताब्दियों से भारत का व्यापारिक संबंध अन्य देशों के साथ रहा है। कालांतार में व्यापार की पद्धति और व्यापार में शामिल वस्तुओं में परिवर्तन होता रहा। 16वीं और 17वीं शताब्दी के दौरान भी भारत का अन्य देशों के साथ समृद्ध व्यापारिक लेने-देन कायम था। इस काल के विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषता यूरोपियों का भारत में आगमन था। इससे भारत के विदेश व्यापार में कई गुना वृद्धि हुई। इस विदेशी व्यापार में भारतीय माल का निर्यात बहुत अधिक था जबकि आयात की मात्रा काफी कम थी। इस भाग में हम इसी विदेश व्यापार पर प्रकाश डालेंगे। इस पर हम निर्यात और आयात शीर्षक के अंतर्गत विचार करेंगे।

### i) निर्यात

मुख्य रूप से कपड़ा, शोरा और नील का निर्यात किया जाता था। चीनी, अफीम, मसाले और अन्य विभिन्न उत्पाद निर्यात की अन्य वस्तुएं थीं।

**कपड़ा**

जैसा कि हम इकाई 21 में पढ़ चुके हैं इस काल के दौरान भारत में कपड़ा उत्पादन अपने उत्कर्ष पर पहुंचा हुआ था। निर्यात बढ़ने से उत्पादन में काफी तेजी से वृद्धि हुई।

NMDC-268

यूरोपीय व्यापारियों के आने से पहले मुगल, खोरासानी, इराकी और आरमेनियन भारतीय कपड़े के मुख्य खरीददार थे। ये इन कपड़ों को मध्य एशिया, फारस और तुर्की ले जाते थे। भारत के विभिन्न भागों से खरीदी गई इन वस्तुओं को लौहौर के रास्ते थल मार्ग से ले जाया जाता था। व्यापार के कुल परिमाण का अनुमान लगाना कठिन है। 17वीं शताब्दी के बाद से ही डच और अंग्रेजों ने भारतीय कपड़ों का व्यापार करना शुरू कर दिया था। व्यापार के लिए कपड़ों की कई किस्में उपलब्ध थीं जैसे **बाफता, समानी, खैराबादी, दरियाबादी, अमबर्ती, कैयमखानी,** अन्य कई तरह के सूती कपड़े और मलमल। बाद में पूर्वी तट से भी सूती वस्त्रों के कई प्रकार प्राप्त किए जाने लगे। छींट और रंगीन कपड़ों की विदेशों में खूब मांग थी। गुजरात, जौनपुर और बंगाल के कालीनों का भी निर्यात होता था।

गुजरात और बंगाल के रेशमी वस्त्रों का भी निर्यात होता था। तैयार कपड़े के अलावा सूती और रेशमी सूत की भी मांग थी। मोरलैंड की गणना है कि केवल इंग्लिश कम्पनी की मांग 1625 में 200,000 थान, 1628 में 1,50,000 थान और 1630 में लगभग 1,20,000 थान की थी। गुजरात में 1630 में पड़े अकाल से इस पर प्रभाव पड़ा पर 1638-41 में सूरत से प्रतिवर्ष लगभग 50,000 थान जहाजों द्वारा ले जाए जाने के विवरण मिलते हैं। 1650 के बाद पूर्वी तटों से भी व्यापार शुरू हुआ और मद्रास से प्रतिवर्ष 50,000 थानों की आपूर्ति हुई। डचों की मांग भी प्रतिवर्ष 50,000 थानों से अधिक थी। 1661 के एक दस्तावेज से पता चलता है कि आरमेनियनों ने 10 लाख रुपये का कपड़ा खरीद कर उसे ईरान भेजा था। उपर्युक्त आंकड़े निर्यात का मोटा खाका प्रस्तुत करते हैं, फिर भी इनसे कपड़े के विपुल मात्रा में निर्यात की जानकारी मिलती है।

### शोरा

शोरा से बारूद बनाया जाता था और यूरोप में इसकी काफी मांग थी। 16वीं शताब्दी के दौरान इसके निर्यात का कोई हवाला नहीं मिलता है। 17वीं शताब्दी में, डच कम्पनी ने कोरोमंडल से इसका निर्यात आरंभ किया। इसके बाद अंग्रेजों ने भी इस पथ का अनुगमन किया। सत्रहवीं शताब्दी के दौरान डच और अंग्रेज कोरोमंडल, गुजरात और आगरा से इसका काफी मात्रा में निर्यात कर रहे थे। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बिहार से उड़ीसा होकर और बंगाल के तटों से इसका निर्यात आरंभ हुआ। जल्दी ही बिहार महत्वपूर्ण निर्यातक बन गया।

1658 के बाद अंग्रेज केवल बंगाल के तटों से प्रतिवर्ष 25,000 मन शोरा निर्यात कर रहे थे। 1680 के बाद यह मात्रा और भी बढ़ गई। डच कम्पनी की मांग इससे लगभग चार गुना अधिक थी। 18वीं शताब्दी के दौरान भी अंग्रेज शोरा की मांग करते रहे।

### नील

अधिकांश उत्तरी भारत, पंजाब, सिंध और गुजरात में नील का उत्पादन होता था। इसका उपयोग रंगाई के लिए नीले रंग के रूप में होता था। निर्यात के लिए सरखेज (गुजरात) और बयाना (आगरा के निकट) में बनाई जाने वाली नील की काफी मांग थी। पहले यह गुजरात से फारस की खाड़ी और लाहौर से एलेप्पो के बाजारों में भेजा जाता था। बाद में यूरोपीय कम्पनियां भी इसका व्यापार करने लगीं। 16वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से पुर्तगाली इसका निर्यात करने लगे थे। ऊनी कपड़ों की रंगाई के लिए यूरोप में इसकी मांग काफी अधिक थी। सत्रहवीं शताब्दी के दौरान डच और अंग्रेजों ने इसका निर्यात करना आरंभ किया। आरमेनियन भी इसे काफी मात्रा में खरीदते थे। इसके अलावा ईरान के व्यापारी इसे एशिया के बाजारों और पूर्वी यूरोप के लिए खरीदते थे। सत्रहवीं शताब्दी के दौरान इसे प्राप्त करने के लिए डच, अंग्रेजों, ईरानियों, मुगलों और आरमेनियनों के बीच प्रतिद्वंद्विता शुरू हो गई। 17वीं शताब्दी के मध्य के आसपास डच और अंग्रेज प्रतिवर्ष लगभग 15,000 या 30,000 मन नील प्राप्त कर रहे थे। बाद के वर्षों में यह मांग बढ़ती चली गई।

### अन्य वस्तुएं

ऊपर उल्लिखित वस्तुओं के अलावा भारत से और भी कई चीजों का निर्यात होता था।

फ्रांसीसी, डच और अंग्रेज कम्पनियां अफीम खरीदा करती थीं। मुख्य रूप से बिहार और मालवा से इसकी आपूर्ति होती थी। डच और इंग्लिश कम्पनी बंगाल से भारी मात्रा में चीनी की भी खरीद करती थीं। डच यूरोप को अदरख का निर्यात करते थे। आरमेनियन हल्दी, अदरख और सौंफ का निर्यात करते थे। गुजरात और इंडोनेशियाई द्वीप समूह के बीच बड़े पैमाने पर व्यापारिक गतिविधियां होती थीं। यहां से थोक मात्रा में कपड़ा इंडोनेशिया ले जाया जाता था और बदले में मसाला लाया जाता था। भारत में बने सूती रंगीन और छींट के कपड़ों की खूब मांग थी। बाद में यह व्यापार कोरोमंडल तट से होने लगा, यहां से कपड़े का निर्यात और मसालों का आयात होने लगा।

### ii) आयात

भारत में होने वाले निर्यात की तुलना में आयात कुछ चुनी हुई वस्तुओं तक ही सीमित था। मुख्य रूप से चांदी का आयात होता था। यूरोपीय कम्पनियां और यूरोप और एशिया के व्यापारी यहां से सामान खरीदकर चांदी से भुगतान करते या चांदी का आयात करते थे। थोड़ा बहुत तांबे का भी आयात होता था। भारत में सीसा और पारे का भी आयात होता था। अंग्रेज चीन से भारत में रेशम और चीनी मिट्टी के बर्तन का आयात करते थे। फारस से अच्छी किस्म की शराब, कालीन और इत्र का आयात होता था। यूरोप में निर्मित शीशों, घड़ियों, चांदी के बर्तनों और छोटे औजारों की भारत के कुलीन वर्ग में मांग थी। सैन्य उपयोग के लिए मध्य एशिया से घोड़ों का आयात किया जाता था। राज्य घोड़ों का प्रमुख खरीददार होता था। इसके अतिरिक्त भारत का पड़ोसी पहाड़ी राज्यों से भी व्यापारिक संबंध था। भूटान और नेपाल से कस्तूरी भारत लाया जाता था यहां से यूरोपीय व्यापारी इसे खरीदते थे। नेपाल और तिब्बत से सुहागा का आयात किया जाता था। इन पहाड़ी राज्यों को इसके बदले में अनाज और लोहा भेजा जाता था।

**बोध प्रश्न 2**

1) यूरोप के बाजारों में निर्यात की जाने वाली प्रमुख वस्तुओं का नाम बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत से नील निर्यात पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) भारत में आयात की जाने वाली कुछ प्रमुख वस्तुओं का नाम बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

NMDC-268

## 23.4 व्यापार मार्ग और यातायात के साधन

अंतर प्रांतीय और विदेश व्यापार के लिए व्यवस्थित व्यापारिक मार्ग और विकसित यातायात व्यवस्था की बहुत आवश्यकता थी। इस भाग में हम इन दो मुद्दों पर विचार विमर्श करेंगे, जिनका वाणिज्यिक गतिविधियों के लिए खास महत्व था।

### अंतर्देशीय व्यापारिक मार्ग

सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में भारत के विभिन्न वाणिज्यिक स्थलों के व्यापारिक मार्गों से जोड़ने में मुगल सम्राटों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। आमतौर पर सड़कों की देखभाल राज्य या क्षेत्र विशेष के राजा किया करते थे। इन मार्गों के बीच में कई नदियां पड़ती थीं। जिनको घाटों पर नाव द्वारा पार किया जाता था और कभी-कभी बड़े पुल भी बनाए जाते थे। इनका निर्माण और देख-रेख राज्य या कुलीन वर्ग किया करता था। वर्षा ऋतु में इन सड़कों पर यात्रा करना कठिन कार्य होता था क्योंकि मानसून के दौरान सड़कें खराब हो जाती थीं। कई यात्रियों ने बरसात के दौरान सूरत-बुरहानपुर मार्ग की बिगड़ी स्थिति का उल्लेख किया है। सड़कों की पहचान बताने और दूरी बताने के लिए राज्य ने जगह-जगह पर कोस मीनारें बनवाई थीं। पर हमारे स्रोत बताते हैं कि उन्हीं मार्गों पर **कोस** मीनारें बनाई जाती थीं जो अधिक उपयोग में आते थे। सभी प्रमुख मार्गों पर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर सरायें होती थीं। व्यापारी और यात्री इन सरायों में ठहरा करते थे। रहने के अलावा बड़ी सरायों में यात्रियों के सामान को ज्यादा दिनों तक सुरक्षित रखने की भी व्यवस्था थी।

आपकी जानकारी के लिए हम नीचे कुछ प्रमुख व्यापारिक मार्गों की चर्चा कर रहे हैं।

**आगरा–दिल्ली–काबुल मार्ग**

आगरा–फरीदाबाद–दिल्ली–सोनीपत–पानीपत–करनाल–अम्बाला–लुधियाना–फतेहपुर–लाहौर–रोहतास किला–रावलपिंडी–शमसाबाद–पेशावर–फतेहाबाद–काबुल।

**आगरा–बुरहानपुर–सूरत मार्ग**

आगरा–धौलपुर–ग्वालियर–नरवर–सिरोंज -हँडिया–बुरहानपुर–तलनेर–नन्दुरबार–किर्का–सूरत।

**सूरत-अहमदाबाद–आगरा**

सूरत–भडौंच–बड़ौदा–अहमदाबाद–पालमपुर–जालोर–मेर्ता–लुदाना–हिन्दुआना–फतेहपुर सीकरी–आगरा।

**आगरा–पटना–बंगाल मार्ग**

आगरा–फिरोजाबाद–इटावा–सराय शाहजादा–इलाहाबाद–बनारस–सासाराम–दाउदनगर–पटना–मुंगेर–भागलपुर–राजमहल–दामपुर–ढाका।

आगरा से लेकर बंगाल तक नदी मार्ग थल मार्ग के लगभग समानांतर था।

### विदेशी व्यापार के लिए मार्ग

विदेशी और भारतीय व्यापारी जल और थल दोनों मार्गों का उपयोग करते थे।

**i) थल मार्ग**

मध्य काल का सबसे प्रमुख थल मार्ग "बृहद रेशम मार्ग" (Great Silk Route) था। यह "रेशम मार्ग" बीजिंग से शुरू होकर काशघर, समरकन्द, बल्ख और काबुल होते हुए मध्य एशिया से गुजरता था। भारतीय थल मार्ग इस बड़े मार्ग से लाहौर में जाकर मिलता था। मुल्तान और कांधार से गुजरता हुआ यह यज्द और इस्फहान, बगदाद होते हुए फारस में प्रवेश करता था और यूफरेट्स को पार करने के बाद यह अलेप्पो पहुंचता था। वहां से यूरोपवासी वस्तुओं को जाहाजों में लाद कर ले जाया करते थे।

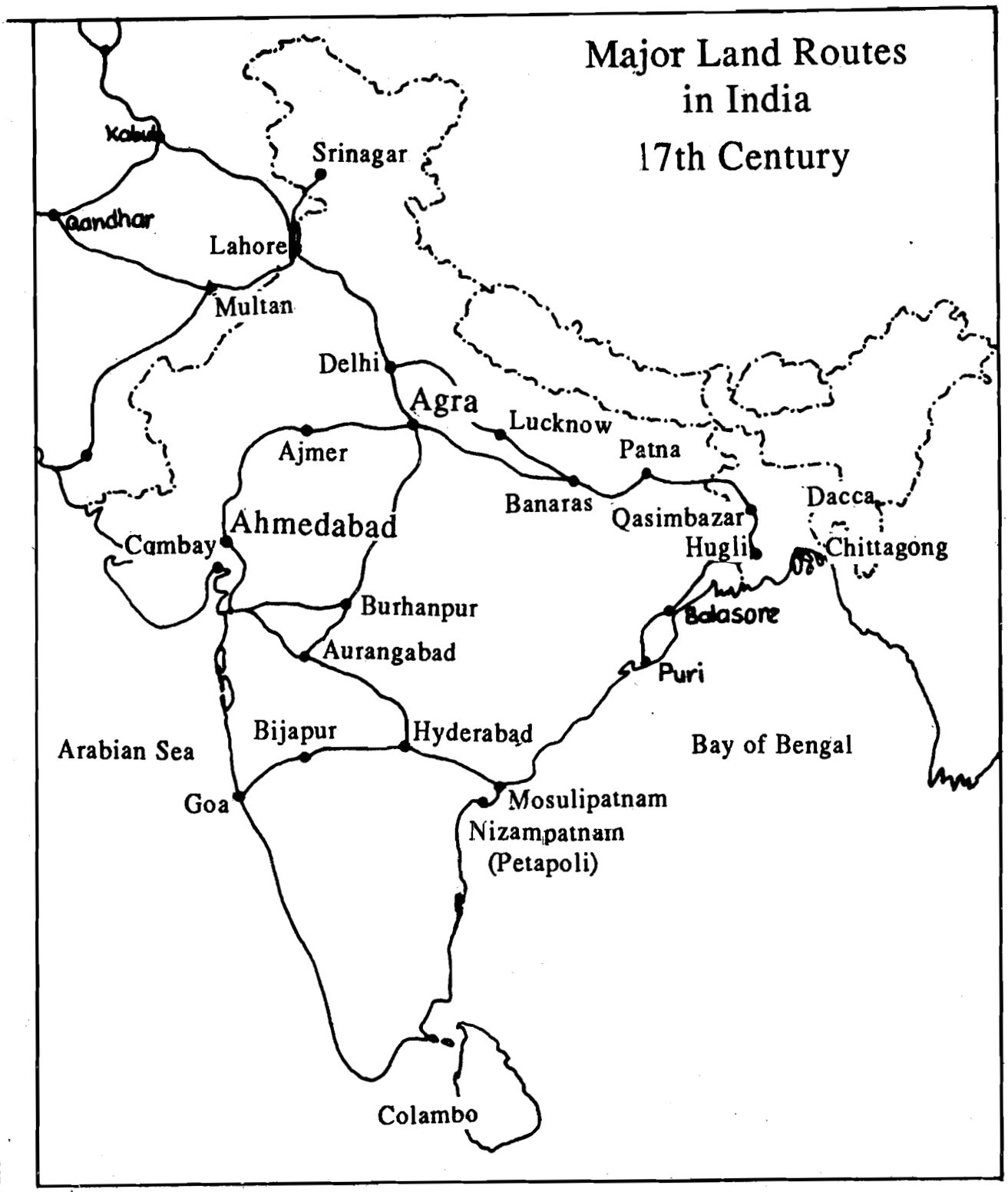
Major Land Routes
in India
17th Century
Kabul
Srinagar
Qandhar
Lahore
Multan
Delhi
Agra
Lucknow
Patna
Ajmer
Banaras
Dacca
Qasimbazar
Ahmedabad
Cambay
Hugli
Chittagong
Burhanpur
Balasore
Aurangabad
Puri
Bijapur
Hyderabad
Arabian Sea
Bay of Bengal
Goa
Mosulipatnam
Nizampatnam
(Petapoli)
Colambo

NMDC-268

### ii) समुद्र मार्ग

अरब सागर और बंगाल की खाड़ी प्रमुख समुद्र मार्ग थे। आशा अन्तरीप (Cape of Good Hope) के रास्ते समुद्र मार्ग की खोज के पहले उत्तर से आने वाला समुद्री मार्ग खम्बात, सूरत, थट्टा से होकर फारस की खाड़ी और लाल समुद्र में मिलता था, दूसरा मार्ग दाभोर, कोचिन, कलकत्ता से होकर अदन और मोछा पहुंचता था। मोछा में वस्तुओं को लाल समुद्र और उसके बाद थल मार्ग से अलेक्जेंड्रिया होते हुए काहिरा पहुंचाया जाता था। अलेक्जेंड्रिया से भी यूरोपीय देशों को वस्तुओं की आपूर्ति की जाती थी। उत्तम आशा अन्तरीय की खोज के बाद यूरोप के देशों को नये अवसर प्राप्त हुए। अब उन्हें अलेक्जेंड्रिया या एलेप्पो पर निर्भर नहीं रहना पड़ा। इसके बदले वे भारत और दक्षिण एशियाई देशों से सीधे व्यापार करने लगे।

पूर्वी समुद्रों के रास्ते भारतीय व्यापारी काफी समय से चीन और इन्डोनेशियाई द्वीप समूहों के साथ व्यापार करते आ रहे थे। हुगली, मसूलीपट्टम और पुलिकट से वस्तुएं सीधे अचिन, बटाविया और मलक्का भेजी जाती थीं। मलक्का जल मार्ग के जरिए व्यापारी चीन में मकाओ और कैंटन तक चले जाते थे।

### यातायात के साधन

यहां यातायात के साधनों पर विचार करते हुए हम केवल वाणिज्य के काम में आने वाले साधनों पर ही विचार करेंगे।

### थल यातायात

इसमें बैलों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। उन पर सामान लाद कर ढ़ोया जाता था। इस काल में इस बात का हवाला मिलता है कि बंजारों के एक व्यापारिक कारवां में 10,000--20,000 ढ़ोने वाले जानवर शामिल होते थे जो अनाज ढ़ोते थे। इन्हें टंडा कहते थे। बंजारों के अतिरिक्त दूसरे व्यापारी भी माल ढ़ोने के लिए इनका उपयोग करते थे। एक बैल चार मन और एक बैलगाड़ी चालीस मन तक माल ढ़ो सकती थी। बैलगाड़ियों को खींचने वाले बैल 20 से 30 दिन तक बिना किसी रूकावट के और प्रतिदिन 20 से 30 मील चल सकते थे। देश के पश्चिमी हिस्से में सामान ढ़ोने के लिए ऊंटों का उपयोग किया जाता था। वे जमीन के रास्ते माल ढ़ोकर फारस और मध्य एशिया तक पहुंचाते थे।

ऊंचे पहाड़ी इलाकों पर पहाड़ी घोड़ों, खच्चरों और गधों का उपयोग किया जाता था। यहां आदमी भी माल ढ़ोते थे।

### नदी यातायात

भारत में नदियों की बहुलता थी और इनका व्यापारिक मार्ग के रूप में उपयोग होता था। बंगाल और सिंध में नौकाओं का खूब उपयोग होता था। आगरा और बंगाल के बीच नौकाओं से काफी माल आता जाता था। आगरा से चली नौकायें यमुना के रास्ते इलाहाबाद पहुंचती थी वहां संगम पर वह गंगा मार्ग पकड़ कर बंगाल पहुंच जाती थीं। समकालीन स्रोत आगरा और बंगाल के बीच बड़ी संख्या में नौकाओं के चलने की सूचना देते हैं और यह बताते हैं कि राजमहल में लगभग 2000 नौकाएं तट पर खड़ी देखी जा सकती थीं। हमारे स्रोतों के अनुसार सिंध में चालीस हजार नावें प्रयोग में आती थीं।

पटना और हुगली के बीच चलने वाले "पटेला" (एक प्रकार की चपटी नांव) पर 120 से 200 टन तक माल लादा जा सकता था। माल ढ़ोने वाली नौकाएं 1000 से 2000 मन तक सामान ढ़ो सकती थीं। नदी के वेग के साथ चलते समय इनकी गति तेज होती थी। ऐसे में आमतौर पर इसमें थल मार्ग की अपेक्षा आधा समय लगता था। इसके अलावा नदी यातायात सस्ता भी था। उदाहरण के लिए नदी के जरिए मुल्तान से थाट्टा तक माल जाने का खर्च 3-4 रुपये प्रति मन और स्थल मार्ग से इससे कम दूरी के लिए यह खर्च 2 रुपये प्रति मन होता था।

NMDC-268

NMDC-268

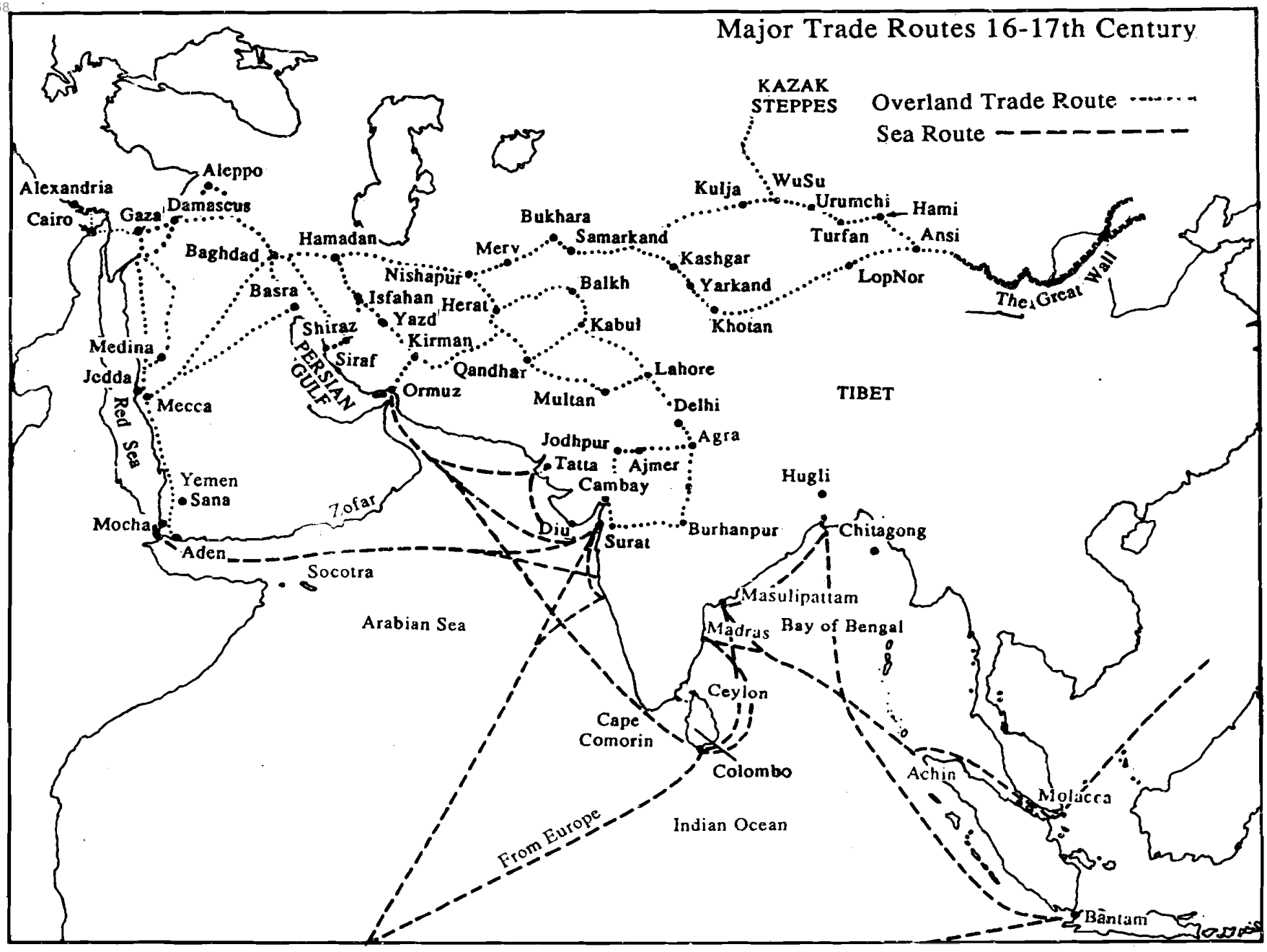
Major Trade Routes 16-17th Century
KAZAK STEPPES
Overland Trade Route
Sea Route
Alexandria
Cairo
Aleppo
Gaza
Damascus
Baghdad
Basra
Hamadan
Bukhara
Merv
Samarkand
Kulja
WuSu
Urumchi
Hami
Turfan
Ansi
Kashgar
Yarkand
LopNor
The Great Wall
Nishapur
Isfahan
Herat
Balkh
Kabul
Khotan
Yazd
Kirman
Shiraz
Siraf
PERSIAN GULF
Ormuz
Qandhar
Lahore
Multan
Delhi
TIBET
Agra
Jodhpur
Tatta
Ajmer
Cambay
Hugli
Medina
Jedda
Mecca
Red Sea
Yemen
Sana
Zofar
Mocha
Aden
Socotra
Diu
Surat
Burhanpur
Chitagong
Masulipattam
Madras
Bay of Bengal
Arabian Sea
Ceylon
Cape Comorin
Colombo
Achin
Molacca
Indian Ocean
From Europe
Bantam

## 23.5 प्रशासन और व्यापार

मुगल सम्राट व्यापारिक गतिविधियों में रुचि लिया करते थे। वे व्यापार को बढ़ावा देते थे और समय-समय पर व्यापारियों को रियायतें देते थे।

**सीमा शुल्क और सड़क कर :**

इकाई 20 में हम पहले ही व्यापारियों पर लगाए गए सीमा शुल्क और सड़क कर की चर्चा कर चुके हैं। हम आपको यह बता देना चाहते हैं कि ये कर समय-समय पर बदलते रहते थे। कभी-कभी कुछ वस्तुओं पर सीमा शुल्क हटा दिया जाता था। उदाहरण के लिए जहांगीर ने काबुल और कांधार के साथ होने वाले व्यापार में कुछ वस्तुओं पर सीमा शुल्क हटा लिया था। गुजरात में पड़े अकाल के समय वहां कुछ वस्तुओं पर सीमा शुल्क हटा दिया गया था। 1659 ई. में गद्दी पर बैठने के बाद औरंगजेब ने खाद्यान्नों पर लगे कर और शुल्क हटा लिए।

समय-समय पर कई प्रकार की वस्तुओं पर कर और शुल्क हटा लिया जाता था। इस सन्दर्भ में कई राजकीय आदेश पारित किए जाते थे। सीमा शुल्क से छूट पाने के लिए सभी यूरोपीय कम्पनियां—ब्रिटिश, डच और फ्रांसीसी-सीमा शुल्क में छूट के लिए राजकीय आदेश प्राप्त करने के लिए निवेदन करती थीं। एक अवसर पर औरंगजेब ने सभी प्रकार का सड़क शुल्क समाप्त कर दिया। सम्राटों के राजकीय आदेशों के अनुसार व्यापार के प्रति राज्य उदारवादी दृष्टिकोण अपनाता था पर व्यवहार में स्थिति इससे अलग थी।

**प्रशासन का दृष्टिकोण**

प्रांतीय राज्यपाल, बाजार के अधिकारी और सीमा शुल्क अधिकारी ज्यादातर उदारवादी नीति लागू करने के मार्ग में बाधाएं उत्पन्न किया करते थे। वे हमेशा व्यापारियों से कुछ न कुछ वसूल करने की ताक में रहते थे। कभी-कभी वसूल की गई राशि अधिकारी अपने पास ही रख लेते थे। अधिकारियों द्वारा स्वयं व्यापार करने से स्थिति और भी उलझ जाती थी। कुलीन वर्ग के सदस्य और उच्चस्थ पदाधिकारी अक्सर कुछ वस्तुओं पर एकाधिकार स्थापित करने की कोशिश करते थे।

शाहजहां के पुत्र राजकुमार शुजा व्यापार में खूब रुचि लेते थे। एक बड़े कुलीन मीर जुमला ने बंगाल में कुछ वस्तुओं पर अपना एकाधिकार स्थापित करने का प्रयत्न किया। अंग्रेजों ने पहले इसका विरोध किया पर अंततः उन्होंने शोरा उसी के माध्यम से लेना स्वीकार कर लिया। एक अन्य महत्वपूर्ण कुलीन शाइस्ता खां ने अंग्रेजों को बाध्य किया कि वे अपना माल और चांदी उसी को बेचें और उन्हें शोरा की असीमित आपूर्ति का आश्वासन दिया। शाइस्ता खां की प्रतिदिन की आय दो लाख रुपये होने का अनुमान था। उसका पुत्र बुजुर्ग उमेद खां भी बृहद पैमाने पर विदेशों से व्यापार करता था।

इन उच्चस्थ कुलीनों के अलावा मातहत पदाधिकारी भी व्यापार करते थे। वैधानिक तौर पर पदाधिकारियों और कुलीनों को व्यापार में हिस्सा लेने की मनाही नहीं थी। समस्या यह थी कि इस प्रतियोगिता में सत्ता में रहने वाले लोग दमन और शोषण का सहारा लेने लगते थे।

इन उच्चस्थ पदाधिकारियों के दमन के खिलाफ विदेशी कम्पनियों, व्यापारियों और व्यक्तियों की याचिकायें और प्रतिवेदन मिलते हैं। रियायत देने के संदर्भ में कई राजकीय आदेशों की भी जानकारी मिलती है। संचार के विकसित साधनों का अभाव और लंबी दूरी के कारण कई बार रियायतें लागू करने में विलंब हो जाता था और कभी-कभी तो ये आदेश लागू ही नहीं हो पाते थे। यह संघर्ष पूरे काल के दौरान चलता रहा। इन बाधाओं के बावजूद व्यापार बढ़ता रहा और कई देशों के व्यापारी यहां आकृष्ट होते रहे।

NMDC-268

**बोध प्रश्न 3**

1) आगरा-अहमदाबाद और आगरा-ढ़ाका मार्ग में स्थित मुख्य शहरों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारतीय तट से यूरोप जाने वाले समुद्री मार्ग का विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) वाणिज्य संबंधी राजकीय आदेशों का पूर्ण रूप से पालन क्यों नहीं हो पाता था?

.....

.....

.....

.....

.....

## 23.6 सारांश

इस इकाई में हमने विवेच्य काल के देशी और विदेशी व्यापारिक गतिविधियों की चर्चा की है। स्थानीय और प्रांतीय स्तर पर अनाज, मोटे कपड़े, नमक, रोजमर्रा के सामानों आदि का व्यापार होता था। इन वस्तुओं की खरीद बिक्री हाटों या पेंठों के जरिए होती थी। छोटे शहरों के बाजार की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। इस मामले में हम पाते हैं कि वस्तुएं गांव से शहर लाई जाती थीं। भारत के विभिन्न प्रांतों के बीच व्यापारिक गतिविधियां काफी विकसित थीं। जमीन और नदी के रास्ते वस्तुएं एक जगह से दूसरी जगह ले जाई जाती थीं। तटीय प्रदेशों से समुद्र मार्ग के ज़रिए व्यापार होता था। पश्चिमी तट पर तटीय व्यापार ज्यादा सक्रिय था।

विदेश व्यापार का संतुलन भारत के पक्ष में था। एशिया और यूरोप के विभिन्न हिस्सों में भारतीय माल ले जाया जाता था। मुख्य रूप से कपड़ों, नील, शोरा, चीनी आदि का निर्यात किया जाता था। अंग्रेजों के आने के बाद विदेश व्यापार, खासकर नील और शोरा, में काफी वृद्धि हुई। भारत में आयात काफी सीमित था। चांदी, ऊनी कपड़ा और विलास की कई वस्तुओं का आयात किया जाता था।

मुगल प्रशासन व्यापार की सभी वस्तुओं पर कर और शुल्क लगाया करता था। मुगल शासक यूरोप की कम्पनियों को रियायतें दिया करते थे। मुगल कुलीन वर्ग के सदस्यों और

उच्चस्थ पदों पर आसीन पदाधिकारियों के व्यापार में संलग्न होने से बहुत बार व्यापारियों और यूरोपीय कम्पनियों को कठिनाई का सामना करना पड़ता था।

## 23.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) स्थानीय स्तर पर वस्तुओं के वितरण में हाटों और पेंठों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। यहां विनिमय की जाने वाली वस्तुओं के लिए 23.2.1 देखें।

2) पटना, अहमदाबाद, ढ़ाका, सूरत, आगरा, लाहौर आदि का उल्लेख कर सकते हैं। देखिए उपभाग 23.2.1

3) गुजरात में अहमदाबाद और सूरत सबसे बड़े वाणिज्यिक केंद्र थे जहां देश के सभी भागों से माल आता था। विस्तार के लिए 23.2.2 देखिए।

**बोध प्रश्न 2**

1) रेशम और सूती वस्त्र, शोरा, नील, चीनी आदि। देखिए भाग 23.3।

2) चांदी, कांच का सामान, छोटे अस्त्र और ऊनी वस्त्र आयात की जाने वाली प्रमुख वस्तुएं थीं।

**बोध प्रश्न 3**

1) 23.4 में अंतर्देशीय व्यापार मार्ग देखिए और उत्तर दीजिए।

2) 23.4 में विदेश व्यापार मार्ग देखिए।

3) पदाधिकारियों और कुलीनों के भ्रष्टाचार और स्वयं व्यापार में भाग लेने के कारण राजकीय आदेशों का ईमानदारी से पालन नहीं हो पाता था। देखिए भाग 24.5

NMDC-268

# इकाई 24 व्यापार के कार्मिक, और वाणिज्यिक गतिविधियां

## इकाई की रूपरेखा


24.0 उद्देश्य
24.1 प्रस्तावना
24.2 व्यापार के कार्मिक
  24.2.1 व्यापारी
  24.2.2 महाजन और सर्राफ
  24.2.3 दलाल
24.3 वाणिज्यिक गतिविधियां
  24.3.1 हुंडी
  24.3.2 बैंकिंग
  24.3.3 सूदखोरी और ब्याज की दर
  24.3.4 भागीदारी
  24.3.5 बीमा
24.4 व्यापारी, व्यापारिक प्रतिष्ठान और राज्य
24.5 सारांश
24.6 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 24.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस काल के व्यापार में संलग्न व्यापारी वर्ग और वाणिज्यिक गतिविधियों के बारे में जान सकेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- व्यापारिक गतिविधियों में संलग्न प्रमुख व्यापारिक समुदायों के बारे में जान सकेंगे;
- वाणिज्य में दलालों, सर्राफों और महाजनों की भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे; और
- हुंडी, वाणिज्यिक ऋण, ब्याज की दर और व्यापारिक भागीदारी जैसे पक्षों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

## 24.1 प्रस्तावना

विवेच्य काल के अंतर्देशीय और विदेशी व्यापार का आप पहले ही अध्ययन कर चुके हैं। देश में स्थानीय रूप से व्यापार करने वाले छोटे व्यापारी भी थे और समुद्र व्यापार में संलग्न बड़े व्यापारी भी मौजूद थे। पूरी वाणिज्यिक प्रक्रिया में, व्यापारियों के खास विशेषीकृत समुदाय, दलाल और सर्राफ विभिन्न स्तरों पर अपनी भूमिका निभाते थे।

बड़े पैमाने पर व्यापार होने के कारण कुछ मौजूद प्रथाएं और संस्थाएं मजबूत हुईं और कुछ नये रूप सामने आए। बैंकिंग व्यवस्था, हुंडी और ऋण लेना तथा देना कुछ प्रमुख विशेषताएं थी। व्यापारिक भागीदारी और बीमा का भी प्रचलन था।

## 24.2 व्यापार के कार्मिक

इस भाग में हम भारतीय बाजारों में काम कर रहे व्यापारियों, सर्राफों, महाजनों और

NMDC-268

दलालों पर विचार करेंगे। व्यापारिक गतिविधियों के बढ़ने से इन व्यवसायों की ओर काफी लोग आकृष्ट हुए। हालांकि उपर्युक्त व्यापारिक समुदायों का विभाजन बिल्कुल अलंध्य नहीं था। एक ही साथ एक व्यक्ति दो या अधिक भूमिकाएं निभा सकता था। यहां हम इस काल के व्यापार और वाणिज्य में इन समुदायों की अलग-अलग भूमिकाओं के आधार पर उनका अलग-अलग अध्ययन करेंगे।

## 24.2.1 व्यापारी

सैद्धांतिक तौर पर वैश्यों से व्यापार करने की उम्मीद की जाती थी पर व्यवहार में अलग-अलग पृष्ठभूमि के लोग व्यापार में संलग्न पाये जाते हैं। अपने अध्ययन के इस काल में हम पाते हैं कि किसी खास प्रदेश में कुछ खास समुदायों और जातियों का वर्चस्व होता था। बंजारे : हमारे स्रोतों में व्यापारी समुदाय के रूप में बंजारों का उल्लेख मिलता है। ये एक क्षेत्र में गांवों के बीच और गांवों और शहर के बीच व्यापार करते थे, कभी-कभी ये अन्तर क्षेत्रीय स्तर पर भी व्यापार करते थे। वे ग्रामीण शहरी व्यापार की महत्वपूर्ण कड़ी थे। बंजारे अपनी व्यापारिक गतिविधियां अनाज, दाल, चीनी, नमक आदि वस्तुओं तक ही सीमित रखते थे। उनके पास बड़ी संख्या में पशु (खासकर सामान ढ़ोने के लिए बैल) होते थे और वे लोग घूम-घूम कर सामान बेचते और खरीदते थे। **तुजुक-ए-जहांगीरी** में जहांगीर कहता है "इस देश में बंजारा एक खास वर्ग है जिनके पास हजार के आसपास बैल होते हैं। वे गांव से शहर अनाज लाते हैं और सेना के साथ भी चलते हैं।" आमतौर पर बंजारे अपने परिवार और घर के सामान के साथ घूमते थे। इधर-उधर घूमते इनके इस समुदाय को टाण्डा कहते थे। प्रत्येक टाण्डा का एक प्रधान होता था जिसे नायक कहते थे। कभी-कभी एक टाण्डा में 600-700 लोग (महिलाओं और बच्चों को मिलाकर) होते थे और प्रत्येक के पास अपने बैले होते थे।

बंजारे हिंदू भी थे और मुसलमान भी। कुछ विद्वान उन्हें उनके द्वारा व्यापार की जाने वाली वस्तुओं, अनाज, दाल चीनी, नमक और लकड़ी के आधार पर विभाजित करते हैं।

बंजारे उत्तर भारत के कई भागों में व्यापार करते थे पर इसी प्रकार के और भी व्यापारी थे, जिन्हें दूसरे नामों से जाना जाता था। सिंध में इसी प्रकार का व्यापारी वर्ग कार्यरत था, जिसे नामधारी कहते थे। हिमालय और मैदानी इलाकों के बीच भोटिया नामक घुमंतु व्यापारी कार्यरत थे।

### विभिन्न प्रदेशों में व्यापारी

एक महत्वपूर्ण वैश्य उपजाति, बनिया उत्तर भारत और दक्खन का महत्वपूर्ण व्यापारी वर्ग था। वे हिंदु और जैन (मुख्य रूप से गुजरात और राजस्थान में) धर्म मानने वाले थे। पंजाब में खत्री और गोलकुंडा में कोरनाती भी इसी वर्ग के लोग थे।

बनिया शब्द, संस्कृत शब्द वणिक अर्थात् व्यापारी से गृहीत है। बनिया समुदाय अपने नाम के साथ उपनाम भी लगाया करता था जिससे उनके मूल स्थान का पता चलता था। अग्रवालों का मूल स्थान अमरोहा (अभी हरियाणा में) और ओसवालों का मारवाड़ में ओसी था। मारवाड़ के व्यापारियों की संख्या सबसे अधिक थी और इन्हें मारवाड़ी के नाम से जाना जाता था। वे देश के सभी हिस्सों में फैले हुए थे और हमारे अध्ययन काल के दौरान सर्वप्रमुख व्यापारी समुदाय था। इन व्यापारियों के बीच घनिष्ठ जातिगत बंधन था। इनकी अपनी परिषद् (महाजन) भी होती थी।

समकालीन यूरोपीय यात्रियों (लिनशोटेन 1538-39 टेवरनियर, 1640-67) ने बनियों की व्यापारिक निपुणता की दाद दी थी और उनके लेख बही संबंधी योग्यता की सराहना की थी।

पंजाब में खत्री प्रमुख व्यापारी समुदाय था। सिक्ख धर्म के संस्थापक गुरू नानक भी खत्री थे। इनमें से कइयों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। इस समुदाय में हिंदू भी थे, मुसलमान भी और सिख भी। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में दिल्ली, पंजाब और सिंध में

कार्यरत मुलतानी प्रमुख व्यापारी समुदाय था। हमारे अध्ययन काल (1550-1750) में भी उनका अक्सर उल्लेख मिलता है।

बोहरा गुजरात के महत्वपूर्ण व्यापारी थे। वे ज्यादातर मुसलमान थे। वे शहरी समुदाय थे और मुख्य तौर पर गुजरात और अन्य पश्चिमी इलाकों में बसे हुए थे। गुजरात के अलावा उज्जैन और बुरहानपुर में भी उनकी कुछ बस्तियां थीं। मुल्ला मुहम्मद अली और अहमद अली जैसे बोहरा व्यापारियों के पास लाखों रुपयों की सम्पदा थी। पश्चिमी तट पर व्यापार में संलग्न मुसलमान व्यापारी समुदायों में खोजाह और गुजरात के कच्छी (कच्छ के) मेमन भी प्रमुख थे।

**दक्षिण भारत**

इस उपमहाद्वीप के दक्षिणी भाग में कई व्यापारिक समुदायों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। चेटटी ऐसा ही एक समुदाय था। यह शब्द संस्कृत **श्रेष्ठी** (सेठ) से ग्रहीत है। संभवतः चेट्टी काफी धनाड्य व्यापारी थे। कोरोमंडल तट से लेकर उड़ीसा तक के व्यापारियों को क्लिंग के नाम से जाना जाता था। कोमती भी एक व्यापारी वर्ग था। वे मुख्यतः कपड़े के दलाल थे और देश के अंदरूनी इलाकों से बंदरगाहों तक माल लाने का काम करते थे। वे मुख्यतः तेलुगु भाषी थे।

चेटटी की तरह चूलिया भी एक व्यापारी समुदाय था जो चार उप समुदायों में विभक्त था। इनमें मरककयर सबसे धनाड्य व्यापारी थे और ये तटीय और दक्षिण-पूर्वी एशियाई व्यापार में संलग्न थे। यह काफी गतिमान समुदाय था और इनमें से कई श्रीलंका, मालदीव, मलक्का, जोहोर, जावा तट, स्याम और बर्मा जाकर बस गए थे। भारत में दक्षिण में, कोरोमंडल, मदुरा, ओउद्दालोर, पोर्टो नोवा, नागोल, नाग-पट्टणम, कोयलपट्टनम आदि स्थानों में सक्रिय थे। वे मुख्य रूप से वस्त्र, सुपारी, मसाले, अनाज, सूखी मछली, नमक, मोती और बहुमूल्य रत्नों का व्यापार करते थे।

कोरोमंडल से मालाबार और श्रीलंका तक छुर्तियन पारव नामक समुदाय व्यापार में सक्रिय था। तटीय व्यापार और दलाली में उन्हें विशेषज्ञता प्राप्त थी।

मुसलमानों में, गोलकुंडा मुसलमान समुद्रपारीय व्यापार में संलग्न थे। मद्रास के दक्षिण और बंगाल प्रदेश में बंगाल की खाड़ी में वे प्रमुख व्यापारी थे। भारतीय अरब मूल के मोपिल्ला मुसलमान भी इस क्षेत्र में कार्यरत महत्वपूर्ण व्यापारी थे।

मद्रास प्रदेश में गुजराती व्यापारी भी कार्यरत थे।

**विदेशी व्यापारी**

इस काल के लगभग सभी वाणिज्यिक केन्द्रों में विदेशी व्यापारियों की उपस्थिति का उल्लेख मिलता है। इनमें यूरोपीय व्यापारियों की व्यापारिक गतिविधियों की चर्चा इकाई 23 में की जा चुकी है। अन्य विदेशी व्यापारियों में अरमेनियन सर्वप्रमुख हैं। वे कपड़े से लेकर तम्बाकू तक अनेक प्रकार की वस्तुओं का व्यापार करते थे। वे बंगाल बिहार और गुजरात में अधिक सक्रिय थे। खुरासानी, अरब और ईराकी भी अक्सर भारतीय बाजारों में काफी संख्या में आते रहते थे।

**बोध प्रश्न 1**

1) अंतर्देशीय व्यापार में बंजारों की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

NMDC-268

.....

.....

2) भारत के विभिन्न भागों में कार्यरत चार व्यापारी समुदायों का नाम बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 24.2.2 महाजन और सर्राफ

उत्तर भारत के बड़े भाग में परम्परागत व्यापारी गण व्यापार के साथ-साथ ब्याज पर रुपया भी देते थे। गांवों में परम्परागत बनिया, किसानों को, राजस्व का भुगतान करने के लिए भी उधार दिया करता था।

सर्राफ भी व्यापार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे। उनके तीन कार्य थे: 1) मुद्रा विनिमयदाता; 2) बैंकर का काम करना; 3) सोना,चांदी और गहने के व्यापारी। यहां हम पहले दो कार्यों पर चर्चा करेंगे तीसरा कार्य किसी भी अन्य वस्तु के व्यापार की भांति ही था।

सर्राफ सिक्के की धातुगत शुद्धता और वजन के पारखी और विशेषज्ञ माने जाते थे। वे धातु की मुद्रा की विनियम दर भी निर्धारित करते थे। टैवेरनियर के अनुसार "भारत के किसी गांव में अगर बहुत **सर्राफ** न हो तो निश्चय ही एक काफी छोटा गांव होगा। वह बैंकर के रूप में लोगों के पैसे का लेन-देन करता था और हुंडियां भी जारी करता था।"

जैसा कि हमने इकाई 20 में अध्ययन किया है सर्राफ मुगल मुद्रा ढ़लाई व्यवस्था का भी एक अंग था। प्रत्येक टकसाल में एक **सर्राफ** होता था जो धातु की शुद्धता और ढ़लने के बाद सिक्के की शुद्धता की जांच करता था।

बैंकर के रूप में लोगों का वे धन सुरक्षित रखते थे और ब्याज पर ऋण देते थे। वे हुंडी जारी करते थे और दूसरों द्वारा जारी हुंडियों के बदले अपना कमीशन काट कर भुगतान भी करते थे (इस पक्ष पर हम इसी इकाई में आगे विस्तार के साथ विचार करेंगे)।

## 24.2.3 दलाल

भारत में तुर्की विजय के बाद के काल में दलाल एक विशेषीकृत वाणिज्यिक वर्ग के रूप में कार्यरत थे। वे विभिन्न वाणिज्यिक गतिविधियों और लेन-देन में मध्यस्थ के रूप में कार्य करते थे। अन्तर प्रान्तीय और विदेशी व्यापार के बढ़ने से उनकी भूमिका अपरिहार्य हो गई। दूर से आये हुए व्यापारी और विदेशी व्यापारी उन पर काफी निर्भर रहते थे। ए.जान. कैसर के अनुसार विदेशी व्यापारी यहां के उत्पादन के केन्द्र, विपणन की पद्धति और भाषा नहीं जानते थे। उन्हें इस सबके लिए स्थानीय दलालों पर निर्भर करना पड़ता था। भारत में दलालों की जरूरत कुछ कारणों से महत्वपूर्ण हो गई थी। वे इस प्रकार हैं:

1) एक ही वस्तु के उत्पादन के केन्द्र पूरे भारत में फैले हुए थे;

2) प्रत्येक केन्द्र का उत्पादन सीमित था (कुछ केन्द्र खास वस्तुओं का ही उत्पादन करते थे); और

3) एक ही बाजार में एक हीं वस्तु के काफी खरीददार होते थे। दलालों की सहायता से लेन-देन किए जाने के कई प्रमाण मिलते हैं।

इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के दस्तावेजों से पता चलता है कि उन्होंने अपने व्यावसायिक प्रतिष्ठानों में भी दलालों को नियुक्त किया था। फ्रायर (17वीं शताब्दी) के अनुसार दलाल के बिना देशी या विदेशी कोई भी व्यापारी व्यापार नहीं कर सकता था। "ओविंग्टन (1690 ई.) ने भी टिप्पणी की है कि "कम्पनी की वस्तुओं को बेचने और खरीदने के लिए बनिया जाति के दलालों को नियुक्त किया जाता था, जो वस्तुओं के मूल्य और गुणों के पारखी होते थे।"

मैनरीक (1640 ई.) बताता है कि पटना में लगभग 600 दलाल और मध्यस्थ थे। सूरत, अहमदाबाद, आगरा और अन्य तटीय शहरों और बड़े विणिज्यिक केंद्रों में उनकी संख्या अवश्य ही अधिक रही होगी।

विदेशी बंदरगाहों पर भी भारतीय दलाल मौजूद होते थे। वे गोम्बरून (बन्दर अब्बास) बसरा, बन्दर रिग आदि स्थानों में भी कार्यरत थे। कभी-कभी पूरा परिवार भागीदारी में दलाली का काम करता था। हमें भीमजी पारक, एक प्रमुख दलाल, के बारे में जानकारी मिलती है कि वह अपने भाइयों के साथ मिलकर दलाली का काम करता था। इस व्यापार के लाभ में उसके पास 8, कल्याणदास के पास 5, केस्सों और विटटलदास के पास 4-4 हिस्से थे।

ए. जान. कैसर दलालों को चार कोटियों में विभक्त करते हैं :

1) कम्पनी या व्यापारियों द्वारा नियुक्त **दलाल** केवल उनके लिए कार्य करते थे;
2) कई ग्राहकों के लिए स्वतंत्र रूप से काम करने वाले दलाल;
3) वे जो तदर्थ आधार पर **दलाल** ठेकेदार के रूप में काम करते थे; और
4) वाणिज्यिक केंन्द्रों पर खरीद और बिक्री को पंजीकृत करने के लिए राज्य द्वारा नियुक्त दलाल।

वस्तुओं की विशेषता के आधार पर स्वतंत्र रूप से कार्य कर रहे दलालों को कई समुदायों में विभक्त किया जा सकता है। कई **दलाल** किसी एक वस्तु की ही दलाली किया करते थे और इसके विशेषज्ञ माने जाते थे जैसे रेशम, शोरा, सूती कपड़ा, नील आदि। कुछ दलाल एक से अधिक वस्तुओं की दलाली करते थे। कुछ दलाल प्रतिष्ठित दलालों के उप दलाल या मातहत दलाल के रूप में कार्य करते थे।

दलालों का शुल्क या कमीशन नियत नहीं होता था। यह वस्तु विशेष, सौदा तय करने में दलाल के परिश्रम या वस्तु प्राप्त करने में लगे श्रम आदि पर निर्भर करता था। आम लेनदेन में दलाली कुल मूल्य का दो प्रतिशत होती थी। प्रत्येक पक्ष (बेचने वाला और खरीददार) से एक प्रतिशत की दर से शुल्क वसूला जाता था।

नियमित रूप से नियुक्त दलालों को नियत वेतन और लेनदेन में कुछ कमीशन भी मिलता था। हमें उनकी कुल आय का पता नहीं है। हालांकि इंग्लिश कम्पनी के कुछ दस्तावेजों को देखने से पता चलता है कि उनके दलालों को 10 रुपये से 38 रुपये प्रतिमाह की दर से वेतन दिया जाता था।

अपने ग्राहकों से माल लेने और बेचने के अलावा दलाल उत्पादन की प्रक्रिया और संगठन में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे। व्यापारियों द्वारा कारीगरों को दी जाने वाली अधिकांश अग्रिम राशि इन दलालों के माध्यम से ही दी जाती थी।

**बोध प्रश्न 2**

1) सर्राफों की विभिन्न भूमिकाओं पर विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) दलाल कौन थे? विभिन्न प्रकार के दलालों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 24.3 वाणिज्यिक गतिविधियां

इस भाग में हम इस काल के व्यापार और वाणिज्य से जुड़ी विभिन्न गतिविधियों पर विचार करेंगे।

### 24.3.1 हुंडी

इस काल में **हुंडी** मुद्रा विनिमय का प्रमुख साधन हो गई थी। **हुंडी** कागज पर लिखा एक वचन पत्र होता था जिसके द्वारा किसी निर्धारित समय और स्थान पर लिखी गई राशि देने की व्यवस्था की जाती थी। इस प्रथा का आरंभ वाणिज्यिक कार्यों के लिए मुद्रा के रूप में अधिक धन को लेकर जाने वालों के खतरे को ध्यान में रखकर हुआ। व्यापारी अपनी राशि किसी खास स्थान पर **सर्राफ** के पास जमा कराकर **हुंडी** ले लिया करते थे। व्यापारी अपने गंतव्य स्थान पर यह **हुंडी** सर्राफ के प्रतिनिधि को देकर अपनी राशि वापस ले सकता था। इससे धन का स्थानांतरण आसान और सुरक्षित हो गया। शनैः शनैः **हुंडी** स्वयं लेनदेन का आधार बन गयी। किसी लेनदेन में इसे प्रस्तुत किया जा सकता था। इसे अनुमोदित करने के बाद बाजार में बेचा या खरीदा जा सकता था।

इरफान हबीब के अनुसार "**हुंडी** के लेन-देन का इतना अधिक प्रचलन हो गया कि अक्सर व्यापारिक लेनदेन में नगद भुगतान के स्थान पर **हुंडी** ली और दी जाने लगी।" इस प्रक्रिया में यह भुगतान का माध्यम बन गई।

**हुंडी** का प्रयोग इतना व्यापक था कि राजकोष और राज्य भी इसका उपयोग करते थे। इसके कई उदाहरण मिलते हैं। 1599 में राजकोष ने दक्कन में सेना को 3,00,000 रुपये **हुंडी** के द्वारा भेजे। गोलकुंडा (10,00,000 रुपये) और घक्कर के शासक (50,000 रुपये) ने मुगल बादशाह को अपना नजराना **हुंडी** के रूप में भेजा।

हमें इस बात के भी सबूत मिले हैं कि प्रांतीय पदाधिकारियों को **हुंडियों** के जरिए राजस्व स्थानान्तरित करने का निर्देश दिया जाता था। यहां तक कि वरिष्ठ कुलीन भी अपने व्यक्तिगत धन के स्थानान्तरण के लिए **सर्राफों** की सहायता लेते थे। बिहार के राज्यपाल मुकर्रब खां ने पटना से आगरा स्थानान्तरित होते समय पटना के **सर्राफ** को 3,00,000 रुपये आगरा पहुंचाने के लिए दिए थे।

**सर्राफ** के अतिरिक्त कई बड़े व्यापारी भी **हुंडी** जारी करते थे। प्रमुख वाणिज्यिक स्थानों पर इन व्यापारियों और **सर्राफों** के प्रतिनिधि रहा करते थे। कभी-कभी एक परिवार के सदस्य (पिता, पुत्र, भाई, भतीजा) एक दूसरे के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते थे। बड़े प्रतिष्ठानों के प्रतिनिधि विदेशों में भी होते थे।

**सर्राफ** प्रत्येक **हुंडी** के लिए शुल्क लिया करता था। विनिमय के कमीशन की दर सूद की दर और विनिमय अवधि पर निर्भर करती थी। **हुंडी** जारी करने से **हुंडी** वापस करके राशि वापस लेने तक के दिन की अवधि गिनी जाती थी। **हुंडी** जारी करने और इसके परिपक्व

NMDC-268

होने के समय मुद्रा की उपलब्धता के आधार पर भी दर ऊपर नीचे होती रहती थी। अगर मुद्रा की उपलब्धता अच्छी होती थी तो दर गिर जाती थी। अभाव की स्थिति में दर ऊंची हो जाती थी। इरफान हबीब के अनुसार, "एक स्थान पर ज्यादा भुगतान करने पर सर्राफ के पास नगद की कमी हो जाती थी और दूसरे स्थान पर नगद की उपलब्धता ज्यादा हो जाती थी। इस स्थिति में जहां नगद की कमी होती थी वहां नगद लेने को प्रोत्साहित किया जाता था और जहां नगद की उपलब्धता ज्यादा होती थी वहां नगद देने को प्रोत्साहित किया जाता था। इसके कारण विनिमय दर में भी परिवर्तन होता रहता था।"

एक सामान्य जानकारी के लिए यहां कुछ विनिमय दरों का उल्लेख किया जा रहा है। आमतौर पर पटना से आगरा की हुंडी के लिए 1½ प्रतिशत और पटना से सूरत के लिए 7-8 प्रतिशत शुल्क लिया जाता था। 1622 में अहमदाबाद से बुरहानपुर के लिए हुंडी शुल्क 7¼ प्रतिशत था।

## 24.3.2 बैंकिंग

**सर्राफ हुंडी** जारी करने के साथ-साथ अपने पास दूसरों की राशि भी जमा करते थे। जमाकर्ता की मांग पर यह राशि उसे वापस दे दी जाती थी। जमाकर्ता को जमा राशि पर ब्याज भी मिलता था। जमाकर्ता को दी जाने वाली ब्याज की दर बदलती रहती थी। 1645 ई. में आगरा में और 1630 ई. में सूरत में ब्याज की दर साढ़े नौ प्रतिशत प्रति वर्ष थी। बैंकर जमा राशि का उपयोग अधिक ब्याज पर ऋण देकर किया करता था। ऐसे कई हवाले मिले हैं जहां राज्य अधिकारी राजकोष से इन बैंकरों को राशि दिया करते थे। बंगाल के जगत सेठ के बारे में लिखते हुए तपन राय चौधरी कहते हैं कि "उसकी भौतिक समृद्धि का मूल कारण यह था कि वे बंगाल राजकोष के धन का उपयोग करने की स्थिति में थे और इस धन को ब्याज पर दे सकते थे।"

सुजान राय के (1694 ई.) अनुसार लेन-देन में **सर्राफ** ईमानदार होते थे। यहां तक कि अनजान आदमी भी उनके पास हजारों रुपये जमा करके निश्चिंत हो सकता था और आवश्यकता के समय वापस ले सकता था।

## 24.3.3 सूदखोरी और ब्याज की दर

व्यक्तिगत जरूरतों और वाणिज्यिक उद्देश्यों के लिए पैसा उधार लेने का आम प्रचलन था। अधिकांश व्यापार ब्याज पर लिए पैसे से ही होता था। आमतौर पर सर्राफ और व्यापारी दोनों ही पैसा उधार देने का काम करते थे। कभी-कभी पैसा उधार देने का काम एक अलग कोटि का वाणिज्यिक वर्ग करता था जिन्हें साह कहा जाता था। ऋण विभिन्न उद्देश्यों के लिए लिया जाता था। किसान राजस्व के भुगतान के लिए ऋण लिया करते थे और कटाई के समय ऋण चुकाया करते थे। कुलीन और जमींदार अपने रोजमर्रा के खर्च के लिए ऋण लिया करते और राजस्व वसूली के समय भुगतान किया करते थे। व्यापारिक उद्देश्यों के लिए ऋण लेना भी आम बात थी।

कम ऋणों पर सूद की दर के निर्धारण के बारे में जानना जरा मुश्किल है। यह व्यक्ति की जरूरत, बाजार में उसकी साख और सौदेबाजी करने की उसकी शक्ति पर निर्भर करता था। तपन राय चौधरी के अनुसार 18वीं शताब्दी में बंगाल के किसान 150 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से भी ऋण लिया करते थे। वाणिज्यिक ऋण पर अलग-अलग प्रांतों में अलग-अलग ब्याज दर होती थी। हमारे स्रोतों में प्रति महीने की दर से ब्याज का उल्लेख मिलता है। इरफान हबीब के अनुसार प्रति महीने की दर से ब्याज के उल्लेख का मतलब था कि ऋण अल्प-अवधि के लिए लिया और दिया जाता था।

1620-21 में पटना में सूद की दर व प्रतिशत प्रतिवर्ष होने का उल्लेख मिलता है। 1680 के आसपास यह 156 प्रतिशत से भी अधिक हो गया मालूम होता है। 1679 ई. में कासिमबाजार में प्रचलित सूद की दर प्रतिवर्ष 15 प्रतिशत बताई गई है जबकि इसी समय यह दर मद्रास में 8 प्रतिशत और सूरत में 9 प्रतिशत थी। ब्रिटिश कम्पनी के प्रतिष्ठान

NMDC-268

ब्याज की दर पर नजर लगाए रखते थे और जिस प्रांत में ब्याज की दर कम होती थी उस प्रांत से ऋण लेकर यह राशि दूसरे प्रांतों में भेज दिया करते थे। 17वीं शताब्दी के दौरान आगरा और सूरत में ब्याज की दर प्रतिवर्ष 6 से 12 प्रतिशत थी। कोरोमंडल तट पर यह दर 18 प्रतिशत से 36 प्रतिशत तक थी।

विभिन्न स्थानों पर ब्याज की दर की भिन्नता साबित करती है कि उस समय तक वित्तीय बाजारों का एकीकरण नहीं हो सका था।

**पोत बंधक ऋण**

लंबी दूरी के समुद्री व्यापार में कई प्रकार की अनिश्चिताएं और खतरे थे। इन अनिश्चितताओं के कारण पोत बंधक ऋण की शुरुआत हुई। यह एक प्रकार का सट्टेबाजी निवेश था जो उस काल में काफी प्रचलित था। इसमें ब्याज की दर 14 से 60 प्रतिशत तक होती थी। यह राशि किसी खास स्थान को जा रहे जहाज में निवेशित की जाती थी। ब्याज की दर यात्रा विशेष के खतरे पर निर्भर करती थी। यात्रा या सभी खतरों और नुकसान से ऋणदाता ही प्रभावित होता था।

### 24.3.4 भागीदारी

भागीदारी में व्यापारीगण अपने संसाधनों को एक साथ मिलाकर व्यापार करते थे। कुछ लोग मिलकर व्यापार की योजनाएं बनाया करते थे। अकबर के शासनकाल में दो कुलीनों **नवाब कुतुब खां और नवाब किलिच खां** ने जहाज बनवा कर संयुक्त रूप से व्यापार किया था। बनारसीदास ने 1611-16 ई. में जवाहरात के व्यापार में अपने भागीदार का उल्लेख किया है। यहां तक कि दलाल भी भागीदारी में काम करते थे। 1662 में दो दलाल छोटा ठाकुर और सूरत के सामजी ने संयुक्त रूप से फ्लावर नामक एक जहाज हासिल किया और उसे यात्रा के लिए सुसज्जित किया। कभी-कभी दलाल भी संयुक्त रूप से व्यापार करते थे।

### 24.3.5 बीमा

उस समय सीमित रूप में बीमा नामक वाणिज्यिक प्रथा भी भारत में प्रचलित थी। कई मामलों में सर्राफ माल को सुरक्षित रूप से पहुंचाने की जिम्मेदारी ले लेते थे। अंग्रेजी कम्पनी के दस्तावेजों में भी अंतर्देशीय और विदेशी व्यापार में वस्तुओं के बीमा का उल्लेख मिलता है। समुद्र में जहाज और उस पर लदे सामान दोनों का बीमा होता था। कारखाने के दस्तावेजों में बीमा दर का उल्लेख भी मिलता है। 18वीं शताब्दी तक यह प्रथा अच्छी तरह स्थापित हो चुकी थी और सब जगह प्रचलित थी। विभिन्न गंतव्य स्थानों के लिए और विभिन्न वस्तुओं के लिए बीमा दरों का भी उल्लेख किया गया है। समुद्र के रास्ते जाने वाले माल की बीमा दर जमीन के रास्ते जाने वाले माल की बीमा दर से ज्यादा थी।

## 24.4 व्यापारी, व्यापारिक प्रतिष्ठान और राज्य

हम इकाई 20 और 23 में पढ़ चुके हैं कि राज्य द्वारा विभिन्न व्यापारिक गतिविधियों पर कर लगाया जाता था। माल इधर-उधर ले जाने के लिए भी व्यापारियों को कर और चुंगी देनी पड़ती थी। राज्य की कुल आय में इन स्रोतों से होने वाली आय भू-राजस्व की तुलना में काफी कम थी।

शहर वाणिज्यिक गतिविधियों के केन्द्र होते थे। अतः प्रशासनिक अधिकारी इस बात का ख्याल रखते थे कि व्यापारिक गतिविधियों में कोई अड़चन न आए। कानून और व्यवस्था तथा शांति और सुरक्षा से बेहतर व्यापारिक माहौल बनता था। यह जिम्मेदारी कोतवाल और शहर में मौजूद उसके कर्मचारियों की थी।

NMDC-268

रोजमर्रा के कामकाज, व्यापार से संबंधित नियम और कायदे व्यापारिक समुदाय स्वयं बनाया करता था। व्यापारियों की अपनी श्रेणियां और संगठन होते थे जो नियम बनाते थे। हमारे स्रोतों में इस प्रकार के संगठनों का उल्लेख मिलता है। गुजरात में इन्हें **महाजन** कहा जाता था। 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हम अहमबाद में 53 महाजनों का उल्लेख पाते हैं। एक खास इलाके और खास वस्तु के व्यापार करने वाले व्यापारी अपने को **महाजन** में संगठित करते थे। इसमें कोई जातिगत बंधन नहीं होता था। कभी-कभी बड़े व्यापारियों के लिए भी महाजन शब्द का प्रयोग संभवतः इसलिए होता था क्योंकि वे अपने संगठन के प्रधान हुआ करते थे। व्यावसायिक वर्गों के कई जाति आधारित संगठन भी मौजूद थे।

शहर के सबसे प्रभुत्वशाली और धनाड्य व्यापारी को **नगर सेठ** कहा जाता था। कभी-कभी यह पद अनुवांशिक भी माना जाता था। **नगर सेठ** राज्य और व्यापारिक समुदाय के बीच एक कड़ी के रूप में कार्य करता था। व्यापारियों के बीच के मतभेदों और झगड़ों को सुलझाने में महाजन महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। आमतौर पर उसके निर्णय का सम्मान किया जाता था। मुगल प्रशासन ने भी इन महाजनों को मान्यता प्रदान की और मतभेद तथा संघर्ष की स्थिति में उनकी सहायता ली। अक्सर प्रशासनिक नीतियों के लिए भी उनकी मदद मांगी जाती थी। व्यापारिक संगठन मजबूत हुआ करते थे और शहर और बंदरगाहों में अधिकारियों के अत्याचारों या दुर्व्यवहार का विरोध किया करते थे। प्रशासनिक कार्यवाहियों के खिलाफ व्यापारिक संगठनों द्वारा हड़ताल (व्यापारिक प्रतिष्ठानों और दुकानों को बंद करना) किए जाने का भी कई जगह उल्लेख मिलता है। राजस्व में बहुत नुकसान के कारण प्रशासकों को इस संयुक्त विरोध के आगे अक्सर झुकना पड़ता था। एक ऐसा ही गंभीर संघर्ष 1669 ई. में सूरत में हुआ। यहां नये राज्यपाल के अत्याचार के विरोध में व्यापारियों ने अपने परिवार समेत (लगभग 8000 लोग) सूरत छोड़ दिया। वे भड़ौंच में बस गए और सम्राट औरंगजेब के पास याचिका भेजी। पूरे शहर की व्यापारिक गतिविधि ठप्प पड़ गई। सम्राट ने शीघ्रता से हस्तक्षेप किया और समस्या को सुलझाया।

1639 ई. में शाहजहां ने सूरत के एक बड़े व्यापारी वीरजी वोहरा को सूरत के राज्यपाल के विरुद्ध व्यापारियों की शिकायतें सुनने के लिए बुलाया। उत्तराधिकार के लिए हो रहे युद्ध के समय शाहजहां के बेटे मुराद ने अहमदाबाद के नगर सेठ शांतिदास के माध्यम से 5,50,000 रुपये उगाहे थे। मुराद की मृत्यु के बाद औरंगजेब ने इसके भुगतान की जिम्मेदारी ली।

इतनी विशाल सम्पदा (कहा जाता है कि वीरजी वोहरा अपनी मृत्यु के समय 80,00,000 रुपये की सम्पत्ति छोड़ गया था) के बावजूद व्यापारी राजनीति में ज्यादा रुचि नहीं लेते थे।

व्यापारी दरबार की राजनीति से दूर रहते थे पर सामंत वर्ग व्यापार में हिस्सा लेता था। कई बड़े सरदार व्यापार में मुनाफा कमाने के लिए अपने पद का सहारा लेते थे।

शाइस्ता खां ने कई वस्तुओं, खासकर शोरा, पर एकाधिकार स्थापित करने की कोशिश की। मीर जुमला एक हीरा व्यापारी था। निचले स्तर के अधिकारी भी व्यापारिक गतिविधियों में शामिल थे और ज़ोर-जबरदस्ती का रास्ता अपनाते थे। अंतर्देशीय और विदेशी व्यापार संबंधी इकाई में भी कुलीनों के व्यापार में शामिल होने के पक्ष पर विचार किया गया है।

**बोध प्रश्न 3**

1) **हुंडी** पर पांच पंक्तियां लिखिए :

.....

.....

.....

.....

.....

NMDC-268

2) निम्नलिखित में से प्रत्येक पर तीन पंक्तियां लिखिए :

i) ब्याज की दर :

.....

.....

.....

ii) बीमा :

.....

.....

.....

.....

iii) व्यापारियों के व्यावसायिक संगठन पर पांच पंक्तियां लिखिए :

.....

.....

.....

.....

.....

## 24.5 सारांश

इस इकाई में हमने व्यापार में संलग्न कई विशेषीकृत समुदायों की गतिविधियों का अध्ययन किया। प्रांतीय और अंतर्प्रांतीय स्तर पर कई वस्तुओं के व्यापार में बंजारों की भूमिका महत्वपूर्ण होती थी। वे अपने पशुओं के साथ घूम-घूम कर व्यापार करते थे और मुख्य रूप से अनाज, नमक, चीनी आदि की खरीद बिक्री करते थे।

देश के विभिन्न हिस्सों में कई प्रकार के व्यापारिक समुदाय और जातियां मौजूद थीं। बनिया, वोहरा, खत्री, चेट्टी, कोमाति, आदि प्रमुख व्यापारी समुदाय थे। विदेशी व्यापारियों में अंग्रेज, डच, फ्रांसीसी, पुर्तगाली, अरमेनियन, खुरासानी और इराकी प्रमुख थे।

दलाल, सर्राफ और महाजन विशेषीकृत वाणिज्यिक समुदाय थे। हुंडी और ऋण देने की प्रथा पूर्ण रूप से विकसित थी। ब्याज की दर कुछ अधिक थी।

व्यापारिक श्रेणियां और संगठन पूर्ण रूप से स्थापित थे। व्यापारिक और वाणिज्यिक गतिविधियों के लिए आमतौर पर वे ही नियम और कानून बनाया करते थे।

## 24.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) बंजारे मुख्य रूप से अनाज, नमक, चीनी आदि का व्यापार करते थे। वे बड़े समुदाय में रहते थे। विस्तार के लिए 24.2.1 उपभाग देखिए।

मारवाड़ी, वोहरा, मुल्तानी, चेटटी, कोमाति आदि विभिन्न व्यापारिक समुदाय थे। इनके कार्यक्षेत्र के लिए 24.2.1 उपभाग देखिए।

**बोध प्रश्न 2**

1) **सर्राफ** मुद्रा विनिमयकर्ता, ऋणदाता के रूप में कार्य करते थे और सिक्के की शुद्धता की जांच करते थे। देखिए उपभाग 24.4.2

2) वाणिज्यिक लेनदेन में **दलाल** मध्यस्थ की भूमिका निभाता था। विभिन्न कोटियों के लिए उपभाग 24.2.4 देखिए।

**बोध प्रश्न 3**

1) **हुंडी** धन स्थानांतरित करने का एक आसान और सुरक्षित माध्यम था। विस्तार के लिए उपभाग 24.3.1 देखिए।

2) दोनों प्रथाओं के लिए उपभाग 24.3.3 और उपभाग 24.3.5 देखिए।

3) अपने हितों की रक्षा के लिए व्यापारी अपना संगठन बनाते थे और अपने नियम एवं कानून स्वयं बनाते थे। विस्तार के लिए देखिए भाग 24.4.1

NMDC-268

# इकाई 25 यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियां

## इकाई की रूपरेखा


25.0 उद्देश्य
25.1 प्रस्तावना
25.2 यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियां और भारत : 1600-1750
  25.2.1 डच ईस्ट इंडिया कम्पनी
  25.2.2 इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी
  25.2.3 फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी
  25.2.4 अन्य यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियां
25.3 कारखाने और उनका संगठन
  25.3.1 डच
  25.3.2 इंग्लिश
  25.3.3 फ्रांसीसी
25.4 यूरोपीय कम्पनियों का अपने पैतृक देश से सम्पर्क और उनका नियंत्रण
  25.4.1 डच
  25.4.2 इंग्लिश
  25.4.3 फ्रांसीसी
25.5 भारतीय शासक और यूरोपीय कम्पनियां
  25.5.1 डच
  25.5.2 इंग्लिश
  25.5.3 फ्रांसीसी
25.6 सारांश
25.7 शब्दावली
25.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 25.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भारत में यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों के विकास और प्रसार को रेखांकित कर सकेंगे;
- यूरोपीय कारखानों और उनके आंतरिक संगठन की पद्धति के बारे में जान सकेंगे;
- यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों पर उनके राज्यों द्वारा नियंत्रण की प्रकृति को जान सकेंगे; और
- इन व्यापारिक कम्पनियों के प्रति भारतीय शासकों के रवैये और दृष्टिकोण का उल्लेख कर सकेंगे।

## 25.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम विवेच्य काल के अंत तक भारत में स्थित यूरोपीय बस्तियों, भारत में यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों के कारखानों के संगठन और उनके अपने पैतृक देश और मुगल शासकों एवं भारतीय राजाओं के साथ संबंधों पर विचार करेंगे। खंड 1 की इकाई 4 में हम भारत में पुर्तगालियों की व्यापारिक गतिविधियों की प्रकृति, अवस्थिति और संगठन पर विस्तार से विचार कर चुके हैं। यहां यूरोपीय कम्पनियों और भारतीय राजाओं के बीच हुए सशस्त्र संघर्षों का भी विवरण नहीं प्रस्तुत किया

NMDC-268

गया है। (इसके लिए ऐच्छिक पाठ्यक्रम 05 देखिए)। यूरोपीय कम्पनियों के व्यापारिक हितों से जुड़े मुद्दों की चर्चा इस खंड की इकाई 23 में की जा चुकी है।

यूरोप में राष्ट्रीय राज्यों के उदय से यूरोप की "एकीकृत एकल अर्थव्यवस्था" टूट गई। इसके साथ-साथ यूरोप में कृषि और औद्योगिक क्रांति का आगमन हुआ। वाणिज्यवाद ने भी अपनी भूमिका निभाई। इन सब कारणों से नये बाजार की खोज की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। घरेलू बाजारों में माल की खपत की एक सीमा थी और खपत बढ़ाने के लिए विदेशी बाजार ही एकमात्र सहारा था। हालांकि आप इकाई 4 में पढ़ चुके हैं कि पूर्वी समुद्र पर वेनिस और जेनेवा के व्यापारियों का व्यापारिक एकाधिकार था। यूरोपीय व्यापारी उनके एकाधिकार को तोड़ने की जोरदार कोशिश कर रहे थे और पूर्व की ओर वैकल्पिक मार्ग ढूंढने का भी प्रयत्न किया जा रहा था। जहाज निर्माण और जलमार्गीय तकनीकों में अभूतपूर्व प्रगति के कारण यह संभव था। इस प्रयास के कारण अंततः आशा अन्तरीप के रास्ते पूर्व की ओर समुद्री रास्ता खोज निकाला गया। इससे समुद्र पर यूरोपीय देशों का एकाधिकार स्थापित हुआ—पहले पुर्तगाली हावी रहे और बाद में अन्य यूरोपीय शक्तियों (इंग्लिश, डच और फ्रांसीसी) ने अपना वर्चस्व कायम किया।

आप जानेंगे कि 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत इन यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों के युद्ध का अखाड़ा बन गया (अधिक जानकारी के लिए ऐच्छिक पाठ्यक्रम 05 पढ़िए)। पुर्तगालियों, डच, इंग्लिश और फ्रांसीसियों के अतिरिक्त कुछ अन्य यूरोपीय राष्ट्र भी पूर्वी व्यापार में रुचि लेते थे। परंतु उनकी व्यापारिक गतिविधियां सीमित थीं।

## 25.2 यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियां और भारत : 1600-1750

प्रस्तुत भाग में हम भारत में यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों के आगमन और उनके विकास पर विचार करेंगे। इस अंश में उनके हितों के टकराव और उनके तथा भारतीय शासकों के बीच सशस्त्र संघर्ष का भी विश्लेषण किया जाएगा।

### 25.2.1 डच ईस्ट इंडिया कम्पनी

1602 ई. में एक चार्टर द्वारा डच ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना की गई। आरंभ में डच व्यापारियों ने मसालों के व्यापार में रुचि दिखाई। इसलिए उन्होंने सुदूर पूर्व में अपना ध्यान ज्यादा केन्द्रित किया। उनके लिए भारत एक व्यापारिक डिपो मात्र था। उन्होंने 1606 ई. में अपना पहला कारखाना उत्तरी कोरोमंडल में पेटापूली में स्थापित किया, इसी वर्ष उन्होंने मसूलीपट्टम में दूसरा कारखाना लगाया। धीरे-धीरे उन्होंने महसूस किया कि मसाला द्वीप (इंडोनेशिया द्वीपसमूह) से मसाले के बदले कपड़े का विनिमय लाभदायक होगा। अतः उन्होंने भारत में क्षेत्रीय विस्तार की नीति अपनानी शुरू कर दी। उन्होंने पूलिकट (1610 ई.), कैम्बे (1620 ई.), सूरत और आगरा (1621 ई.), हरिहरपुर (1633 ई.), पटना (1638 ई.), ढाका (1650 ई.), उदयगंज (1651 ई.), चिनसूरा (1653 ई.), कासिम बाजार, बरानगर, बालासोर तथा नेगापट्टम (1659-60 ई.), में अपने कारखाने स्थापित किए।

गोलकुंडा के अंदरूनी इलाकों में भी उन्होंने अपने कारखाने स्थापित किये थे—एक नागलवानचा और दूसरा गोलकुंडा में। नागलवानचा में 1670 ई. में कारखाना स्थापित किया गया था परंतु राजनैतिक अस्थिरता के कारण 1680 ई.के दशक में इसे हटा लिया गया। गोलकुंडा में उन्होंने 1662 ई. में कारखाना लगाया। परंतु यहां भी राजनैतिक गड़बड़ी (मुगल-गोलकुंडा संघर्ष, 1684-87 ई.) के कारण उन्हें 1684 ई. में गोलकुंडा से भी अपना कारखाना हटाना पड़ा। 1675 ई. तक हुगली के महत्व में काफी वृद्धि हो चुकी

NMDC-268

थी जिससे पिपली (उड़ीसा के समुद्रतट पर स्थित) डच कारखाने का महत्व घट गया और अंततः 1675 ई. में उन्होंने यह स्थान छोड़ दिया। इसी प्रकार स्थानीय राजा द्वारा सशस्त्र आक्रमण करने के कारण ढाका और उदयगंज स्थित डच कारखानों को भी हटाना पड़ा। डचों ने बंगाल प्रांत में दो कारखाने 1669 ई. में खानकुल और 1676 ई. में मालदा में स्थापित किए। परंतु जल्दी ही दोनों कारखानों को बंद करना पड़ा।

डचों की बढ़ती शक्ति को अंग्रेजों ने अपने हितों के लिए खतरनाक समझा। जब अंग्रेजों ने मसूलीपट्टम में अपना कारखाना लगाया और पेटापूली में अपनी व्यापारिक गतिविधियां आरंभ कीं तो डचों की यह भरसक कोशिश रही कि पूलीकट के व्यापार में अंग्रेजों को कोई हिस्सा न मिले। हितों का यह संघर्ष जारी रहा। हालांकि 1619 ई. में डच और अंग्रेजों के बीच एक समझौता हुआ कि दोनों मिलकर भारत में व्यापार करेंगे। अंग्रेजी कम्पनी को इस शर्त पर पूलीकट के व्यापार में हिस्सा लेने की अनुमति दी गयी कि वे डच किले और वहां की सेना का आधा खर्च वहन करेंगे। परंतु यह समझौता ज्यादा दिन तक कायम न रह सका। 1623 ई. और पुनः 1653-54 ई. में डचों ने अंग्रेजों के जहाजों पर हमला किया। 1672-74 ई. के बीच डचों ने एक बार फिर सूरत और बम्बई में स्थित अंग्रेजी प्रतिष्ठानों में बाधा पहुंचाने की कोशिश की और बंगाल की खाड़ी में अंग्रेजी जहाजों पर कब्जा कर लिया। अंग्रेजों ने पूर्वी द्वीपों पर डचों के वर्चस्व को महसूस किया। अतः उन्होंने उन्हें भारतीय भूमि से भगाने का निर्णय किया। अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए अंग्रेजों ने भारत में पुर्तगालियों से हाथ मिलाये। अंततः वे उन्हें बेदारा (1759 ई.), के युद्ध में हराने में सफल हुए। इससे भारत में पुर्तगालियों की शक्ति को गहरा धक्का लगा। उसके बाद डचों ने भारत में अपने को "देशी व्यापार" तक ही सीमित रखा। 1773 ई. में उन्होंने नागौर और नेगापट्टम स्थित बचे-खुचे डच अड्डे को भी छोड़ दिया। 1795 ई. तक अंग्रेजों ने डचों को भारत से पूरी तरह निष्कासित कर दिया। यहां तक कि आशा अन्तरीप में भी उनके प्रभाव में कमी और अंग्रेजों के वर्चस्व में वृद्धि हुई।

## 25.2.2 इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी

1599 ई. में पूर्व के साथ व्यापार करने के लिए "साहसी व्यापारियों का इंग्लिश संगठन" बनाया गया। इस कम्पनी (ईस्ट इंडिया कम्पनी के नाम से प्रसिद्ध) को 31 दिसम्बर 1600 ई. को रानी एलिजाबेथ ने पूर्व में एकाधिकार व्यापार का राजकीय चार्टर प्रदान किया। 1608 ई. में अंग्रेज व्यापारियों ने सूरत में अपना "पहला" कारखाना लगाने का निर्णय लिया। 1619 ई. तक उन्होंने आगरा, अहमदाबाद और भडौंच में अपने कारखाने स्थापित कर लिए।

दक्षिण भारत में कोई शक्तिशाली राज्य नहीं था अतः वहां कारखाना स्थापित करने का माहौल ज्यादा अनुकूल था। अंग्रेजों ने दक्षिण में अपना पहला कारखाना 1611 ई. में मसूलीपट्टम में लगाया। दूसरा कारखाना 1626 ई. में आराम गांव में लगाया गया। 1639 ई. में उन्होंने स्थानीय राजा से मद्रास पट्टे पर ले लिया। जल्द ही उन्होंने इसकी किलेबंदी कर दी जिसे फोर्ट सेंट जॉर्ज के नाम से जाना गया। 1668 ई. में उन्होंने बम्बई द्वीप पर कब्जा जमा लिया और जल्द ही वहां भी किलेबंदी कर ली। शीघ्र ही (1687 ई. तक) सूरत के स्थान पर यह कम्पनी के पश्चिमी तट का मुख्यालय बन गया।

पूर्व में अंग्रेजों ने अपेक्षाकृत विलंब से प्रवेश किया। उड़ीसा में 1633 ई. में हरिहरपुर और बालासोर में पहला कारखाना लगाया गया। 1651 ई. में उन्हें हुगली में व्यापार करने की अनुमति मिली। जल्द ही उन्होंने पटना (बिहार) और कासिमबाजार (बंगाल) में भी अपने कारखाने खोल लिए। 1690 ई. में सूत्तनती में कारखाना खोला गया जिसे 1696 ई. में किलाबंद कर दिया गया। 1698 ई. में अंग्रेजों को सूत्तनती, कालिकत्ता और गोविंदपुर की **जमींदारी** मिल गयी जहां उन्होंने फोर्ट विलियम नामक किले का निर्माण किया। जल्द ही यह एक बड़े शहर के रूप में परिवर्तित हो गया और इसे कलकत्ता के नाम से जाना गया।

NMDC-268

फोर्ट विलियम (1736)

## 25.2.3 फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी

फ्रांसीसियों ने पूर्वी व्यापार में देर से प्रवेश किया। फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना 1664 ई. में हुई। पहला फ्रांसीसी कारखाना 1668 ई. में सूरत में स्थापित हुआ। यह स्थान अंग्रेजों के लिए काफी महत्वपूर्ण था। परंतु हुगली में मुगल-अंग्रेज सशस्त्र संघर्ष (देखिए भाग 25.5) के कारण भारत में अंग्रेजों की स्थिति और व्यापार को गंभीर धक्का लगा। इससे फ्रांसीसियों को भारत में जड़ जमाने का मौका मिल गया। 1669 ई. में फ्रांसीसियों ने मसूलीपट्टम में अपना दूसरा कारखाना लगाया। 1673 ई. में उन्होंने पांडिचेरी प्राप्त करने में सफलता पाई और 1674 ई. में बंगाल के नबाव ने उन्हें कलकत्ता के निकट एक स्थान आवंटित कर दिया जहां उन्होंने 1690-92 ई.में चंद्रनगर नामक शहर बसाया। शीघ्र ही फ्रांसीसियों को डच और अंग्रेजों के विरोध का सामना करना पड़ा। डच व्यापारियों ने गोलकुंडा के शासक के मन में फ्रांसीसियों के आक्रामक रवैये की बात भर दी। अतः डचों के साथ मिलकर गोलकुंडा के शासक ने सां थोम से फ्रांसीसियों को निष्कासित करने का निर्णय लिया (1674 ई.)। अंततः फ्रांसीसियों को सां थोम का किला छोड़ना पड़ा।

बाद में, 1690 ई. के दशक में, फ्रांस और हॉलैंड के बीच युद्ध छिड़ गया और भारत में भी ये आपस में लड़ पड़े। 1693 ई. में डचों ने उनसे पांडिचेरी छीन लिया। डचों ने हुगली में फ्रांसीसियों की व्यापारिक गतिविधियों पर भी रोक लगाने में सफलता प्राप्त की। 1720 ई. तक बेन्टम, सूरत और मसूलीपट्टम से फ्रांसीसी नियंत्रण हट गया: "यहां तक कि वे अपना लाइसेंस दूसरों को बेचने लगे।" परंतु 1721 ई. में उन्हें पुनर्जीवन मिला। माहे (मालाबार तट पर) में जल्द ही एक नई कम्पनी बनाई गई। 1739 ई. में कारिकल में भी उन्होंने अपना कारखाना खोला।

अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच कट्टर दुश्मनी थी। 1742 ई. में यूरोप में ब्रिटेन और फ्रांस के बीच युद्ध हुआ। भारत में उनके बीच यहीं से संघर्ष शुरू हुआ। फलस्वरूप तीन कर्नाटक युद्ध हुए (1746-48 ई., 1749-54, ई., 1758-63 ई.)। वैंडिवाश मे निर्णायक युद्ध हुआ (जनवरी 1760 ई.)। फ्रांसीसी हार गये और भारत में लगभग उनके सभी अड्डे समाप्त हो गये। (विस्तार के लिए ऐच्छिक पाठ्यक्रम-05 देखिए)।

अब अन्य यूरोपीय कम्पनियों पर अंग्रेजी वर्चस्व पूर्णरूपेण कायम हो गया। पूर्तगालियों को गोवा, दमन और दीव से ही संतोष करना पड़ा और फ्रांसीसी पांडिचेरी, कारिकल और माहे में सिमट कर रह गये। अब अंग्रेजी विस्तार के लिए रास्ता बिल्कुल साफ था। (विस्तार के लिए ऐच्छिक पाठ्यक्रम-05 देखिए)।

NMDC-268

## 25.2.4 अन्य यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियां

डेनमार्कवासी 1616 ई. में व्यापारी के रूप में भारत आए परंतु साम्राज्य स्थापित करने की उनकी कोई महत्वाकांक्षा नहीं थी। उन्होंने 1620 ई. में तंजोर के **नायक** से ट्रेंकूबार समुद्र तट प्राप्त किया और वहां एक किला बनाया। परंतु उनके पास संसाधनों की कमी थी। उन्होंने मसूलीपट्टम, पोर्टो नोवो और श्रीरामपुर में अपने कारखाने लगाए (1755 ई.) परंतु उन्हें सीमित सफलता ही मिली और अंततः वे अंग्रेजों को अपने कारखाने बेचकर 1845 ई. में भारत छोड़कर चले गए।

1722 ई. में फ्लैन्डर्स के व्यापारियों ने ओस्टेंड कम्पनी की स्थापना की परंतु उनकी गतिविधियां भारत में सीमित थी। स्वीडिश ईस्ट इंडिया कम्पनी 1731 ई. में स्थापित की गई परंतु भारत के बजाय उनकी गतिविधियां चीन में केन्द्रित थी।

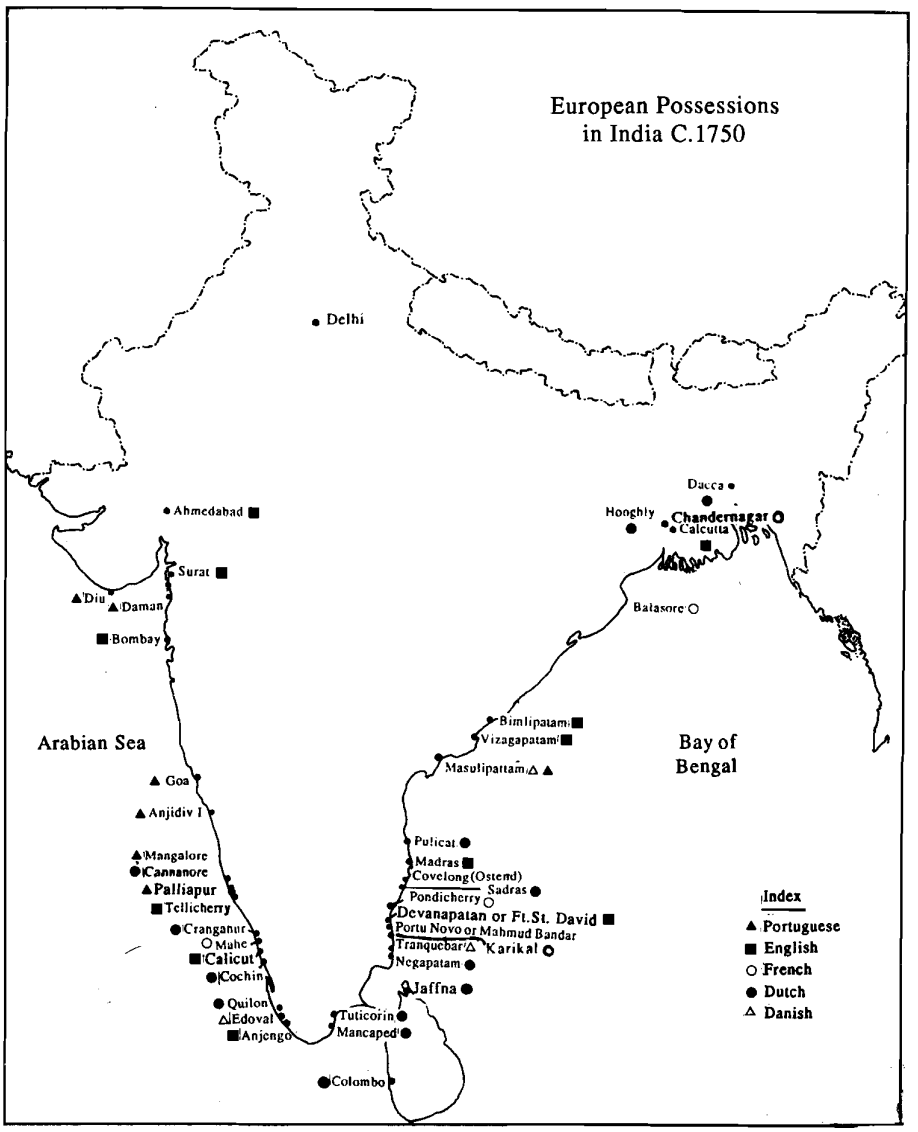


NMDC-268

**बोध प्रश्न 1**

1) भारतीय समुद्र पर नियंत्रण के लिए डच-इंग्लिश संघर्ष का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

i) डच ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना ..... (वर्ष) में हुई थी।

ii) "साहसी व्यापारियों के इंग्लिश संगठन" की स्थापना ..... (वर्ष) में हुई थी।

iii) भारत में पहला अंग्रेजी कारखाना ..... (वर्ष) में ..... (स्थान) में लगाया गया।

iv) अंग्रेजों ने ..... (वर्ष) में बम्बई द्वीप पर अधिकार प्राप्त किया।

v) चंद्रनगर स्थित फ्रांसीसी बस्ती ..... (वर्ष) में स्थापित हुई।

vi) वैंडीवाश का युद्ध ..... (वर्ष) में ..... और ..... के बीच लड़ा गया।

## 25.3 कारखाने और उनका संगठन

खंड 1 की इकाई 4 में आप पढ़ चुके हैं कि यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों ने पूर्व में अपने कारखाने किस प्रकार स्थापित किए थे। इन कारखानों में उत्पादन नहीं होता था। ये भंडार घर हुआ करते थे। अक्सर इनकी किलेबंदी की जाती थी। प्रस्तुत अंश में हम भारत में उनके कारखानों के आंतरिक संगठन पर विचार करेंगे।

### 25.3.1 डच

डच ईस्ट इंडिया कम्पनी का मुख्य प्रशासनिक केन्द्र बटाविया में स्थित था। गवर्नर जनरल और एक परिषद् इस प्रतिष्ठान के प्रधान होते थे। यह परिषद् एशिया के सभी डच कारखानों पर नियंत्रण रखती थी। परिषद् केंद्रीय निदेशक मंडल के प्रति उत्तरदायी होती थी, जिसे "भद्रजन XVII" के नाम से जाना जाता था जो लगातार छह वर्ष तक चैम्बर ऑफ एम्सटर्डम में अपनी बैठकें करते रहे और अगले दो वर्षों तक इनकी बैठक चैम्बर ऑफ जीलैंड में हुई।

प्रत्येक कारखाने में एक कारखानेदार को नियुक्त किया जाता था। ये कारखानेदार लगातार अपने प्रांत की व्यापारिक गतिविधियों, जहाजों की संख्या, निर्यातित-आयातित वस्तुओं, आदि की सूचना बटाविया भेजते थे।

कोरोमंडल में स्थित डच कारखाने एक निदेशालय, जिसका अध्यक्ष एक निदेशक होता था, द्वारा शासित थे। इस निदेशक को 1615 ई. में गवर्नर के नाम से जाना जाता था। 1655 ई. से पहले बंगाल में डच कारखाने कोरोमंडल के कारखानेदार द्वारा नियंत्रित तथा शासित किए जाते थे। 1655 ई. में हुगली में एक अलग निदेशालय, जो कि पुलीकट शासन के अधीन नहीं था, की स्थापना हुई। 1690 के दशक में कोरोमंडल में डच शासन का केंद्र पुलिकट से नेगापट्टम हो गया।

NMDC-268

भारत में प्रत्येक फैक्ट्री (कारखाना) एक परिषद् द्वारा शासित थी। इस परिषद में एक निदेशक, सीनियर कारखानेदार या अधिकारी, लेखाधिकारी, न्याय अधिकारी, भंडार-गृह अधिकारी, जहाजों में माल लदवाने और उतरवाने वाले अधिकारी तथा छः कनिष्ठ (जूनियर) फैक्ट्री अधिकारी होते थे जिनमें से एक परिषद् के सचिव के रूप में कार्य करता था। इनके वेतन बहुत अच्छे नहीं होते थे।

## 25.3.2 इंग्लिश

इंग्लिश कम्पनी के आंतरिक प्रबंधन का प्रशासनिक उत्तरदायित्व "कोर्ट ऑफ कमीटीज" पर था जिसे बाद में 1709 ई. में "कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स" का नाम दे दिया गया। इसमें एक गवर्नर, एक उप-गवर्नर और व्यापारियों, जो इस कंपनी के भागीदार थे, की आम सभा द्वारा प्रतिवर्ष चुने गए 24 सदस्य होते थे। इसके अतिरिक्त एक सचिव और एक कोषपाल होता था। इसके सदस्य निदेशक (डायरेक्टर) के रूप में जाने जाते थे। कम्पनी की वर्चस्व निकाय "कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स" का मुख्यालय लंदन में था जबकि मातहत निकाय एशिया में स्थित थी। "कोर्ट ऑफ प्रॉपर्टीज" में सम्पन्न होने वाली बैठक में कम्पनी के हिस्सेदार प्रत्येक वर्ष निदेशकों का चुनाव करते थे। बड़े से बड़े और छोटे से छोटे हिस्सेदार केवल एक ही वोट दे सकते थे। कम्पनी की सदस्यता केवल हिस्सेदारों तक ही सीमित नहीं थी बल्कि यह आनुवांशिक सेवा तथा शुल्क द्वारा, प्रशिक्षता, आदि के माध्यम से भी प्राप्त की जा सकती थी। कम्पनी के पास आदेश जारी करने और क्षेत्र विशेष के कानूनों और रीति-रिवाजों के अनुसार कानून और आदेश देने के असीम अधिकार थे। कम्पनी के पास अपने कर्मचारियों के अपराध करने पर उन्हें जेल भेजने या आर्थिक रूप से दंडित करने का भी न्यायिक अधिकार था।

भारत में प्रत्येक कारखाने का प्रशासन एक **"गवर्नर-इन-कौंसिल"** के हाथ में था। गवर्नर इस परिषद् का अध्यक्ष होता था, परंतु उसके पास अतिरिक्त विशेषाधिकार नहीं होते थे। परिषद में सब निर्णय बहुमत से लिए जाते थे। इस परिषद् में कम्पनी के वरिष्ठ व्यापारी शामिल होते थे।

हालांकि कम्पनी की नीतियों के निर्धारण में कम्पनी की सत्ता सर्वोच्च होती थी परंतु एशिया में इसका अधिकार क्षेत्र सीमित था। आमतौर पर रोजमर्रा के मामले सीधे उपसमितियों को सौंप दिए जाते थे, अधिक महत्वपूर्ण मामले "कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स" के पास भेजे जाते थे। एशिया स्थित कौंसिल के अध्यक्ष और सदस्य सीधे "कोर्ट" या लंदन स्थित कम्पनी के सचिव से संवाद स्थापित कर सकते थे। परंतु प्रेसिडेंसियों के प्रभाव-क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले कारखानों को यह स्वतंत्रता और विशेषाधिकार प्राप्त नहीं था। अपना नियंत्रण मजबूत रखने के लिए लंदन स्थित "कोर्ट" विभिन्न मामलों पर वरिष्ठ पदाधिकारियों से भी अलग से जानकारी प्राप्त किया करता था। इस प्रकार सूचना दो जगहों से प्राप्त की जाती थी और अनियमितता से बचा जा सकता था।

कम्पनी की नीतियों का रख-रखाव और उन्हें लागू करने की जिम्मेदारी साधारणतया भारत स्थित कम्पनी के अध्यक्ष और परिषद पर थी। पूर्वी तट पर स्थित कारखानों के प्रशासन का नियंत्रण सेंट जॉर्ज किले (मद्रास) से किया जाता था। कंपनी का अध्यक्ष और परिषद् वहीं स्थित थे। यह परिषद् प्रशासनिक मामलों में सुझाव दिया करती थी।

1700 ई. में बंगाल के इंग्लिश कारखाने का मुख्यालय कलकत्ता बना दिया गया। ये कारखाने अलग से एक अध्यक्ष और परिषद् के नियंत्रण में थे।

## 25.3.3 फ्रांसीसी

भारत में फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी का मुख्यालय पहले सूरत में स्थित था बाद में उनका मुख्यालय पांडिचेरी हो गया। "सुपीरियर कौंसिल ऑफ द इंडीज" उनका सर्वोच्च निकाय था। गवर्नर जनरल इसका अध्यक्ष था। वह भारत में फ्रांसीसी कार्यकलापों का समग्र रूप से प्रभारी होता था। सर्वोच्च परिषद् में पांच सदस्य थे। जिसकी अध्यक्षता गवर्नर करता था।

NMDC-268

पूरा प्रशासन उसके हाथ में था। हालांकि कानून का क्रियान्वयन फ्रांसीसी राजा के नाम से होता था परंतु फ्रांसीसी राजा का हवाला दिए बिना गवर्नरों और पार्षदों को हटाया जा सकता था। सभी औपनिवेशिक पदाधिकारी परिषद् के मातहत होते थे।

भारत में फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी की प्रमुख विशेषता उसके अधिकारियों का आपस में ईर्ष्या-द्वेष था। फ्रांसीसी आपस में लड़ते रहते थे। इससे भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के विकास और प्रसार पर असर पड़ा। 1670 ई. के दशक में कैरों अपने साथी फ्रांसीसी मरकारा की उल्लेखनीय सफलता से जल उठा। हालांकि अंततः मरकारा ने फ्रांसीसी सरकार को आश्वस्त कर दिया कि यह आरोप आधारहीन है परंतु भारत में फ्रांसीसी कारखानों की स्थापना के प्रारंभिक चरण से ही आपसी वैमनस्य का बीज बोया जा चुका था जो अंततः घातक सिद्ध हुआ। इसी प्रकार 1726 में डुप्ले को उसके पद से निलंबित कर दिया गया। 1730 ई. में कहीं जाकर उसका यह निलंबन वापस हुआ और उसे चंद्रनगर का अधीक्षक (निदेशक) बनाया गया।

**बोध प्रश्न 2**

1) "भद्रजन XVII" क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

2) "कोर्ट ऑफ कमीटीज" की कार्य पद्धति का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 25.4 यूरोपीय कंपनियों का अपने पैतृक देश से सम्पर्क और उनका नियंत्रण

इस भाग में हम यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों के अपने देश के साथ संबंधों, आदि पर विचार-विमर्श करेंगे।

### 25.4.1 डच

डच सरकार (स्टेट्स जनरल) के एक चार्टर द्वारा डच ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना की गयी थी। सत्रह निदेशक इस कम्पनी का प्रशासन संभालते थे इन्हें "भद्रजन XVII" के नाम से जाना जाता था। डच ईस्ट इंडिया कम्पनी की एक खास विशेषता यह थी कि इसके हिस्सेदारों का प्रबंधन निकाय पर कोई नियंत्रण नहीं होता था। हालांकि डच सरकार के पास सर्वोच्च सत्ता थी परंतु "भद्रजन XVII" के पास वास्तविक शक्ति थी और वे राज्य के भीतर राज्य के रूप में स्वतंत्र रूप से कार्य करते थे। 1644 ई. में "भद्रजन XVII" ने डच सरकार (स्टेट्स जनरल) से कहा कि "पूर्व में जीते गए स्थानों और अड्डों को राष्ट्रीय अभियान नहीं माना जाना चाहिए और इन्हें निजी सम्पत्ति के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए।"

NMDC-268

डचों के पूर्वी व्यापार में बटाविया स्थित गवर्नर जनरल परिषद् के पास लगभग पूर्ण प्रभुसत्ता थी। बटाविया स्थित परिषद् एक निपुण प्रशासनिक निकाय थी। पूर्व के सभी कारखानेदारों को वहां नियमित सूचना भेजनी पड़ती थी। वरिष्ठ पदाधिकारी नियमित जांच भी किया करते थे। लंबी दूरी और संचार के तीव्र माध्यमों के अभाव में परिषद् की गतिविधियों पर "भद्रजन XVII" द्वारा नियंत्रण स्थापित कर पाना कठिन था। "भद्रजन XVII" ने बटाविया गवर्नर जनरल परिषद् को आशा अन्तरीप के पूर्व में स्थित क्षेत्रों के शासकों के साथ समझौता करने, किला बनाने और गवर्नरों को नियुक्त करने आदि का अधिकार सौंप दिया। परंतु ये सभी संधियां डच सरकार के नाम से सम्पन्न होती थीं। हालैंड में डच ईस्ट इंडिया कम्पनी कभी भी अस्त्र-शस्त्र के बल पर व्यापार बढ़ाने के पक्ष में नहीं रहती थी। वे गवर्नर जनरल और परिषद् को निर्देश देते थे कि जहां तक संभव हो सके सशस्त्र संघर्ष टाला जाए। परंतु इनके कारखानेदार जानते थे कि भारत में बिना युद्ध किए और सैन्य बल दिखाए व्यापार करना असंभव था। हालैंड में स्थित कम्पनी के निदेशकों के पास बटाविया परिषद् के माध्यम से सूचनाएं पहुंचती थी और परिषद् भारत और विभिन्न पूर्वी देशों में नियुक्त कारखानेदारों से सूचनाएं प्राप्त करती थी। कभी-कभी बटाविया स्थित गवर्नर जनरल और भारत स्थित कारखानेदार कुछ आदेशों को अपनी ओर से घुमाकर पेश करने का प्रयत्न करते थे। 1616 ई. में जब गृह स्थित डच निदेशकों ने आदेश जारी किया कि "अम्बोयना और बांदा द्वीपों को अधीन करना सर्वाधिक महत्वपूर्ण था और सभी विदेशी राष्ट्रों को इस व्यापार से अलग कर देना चाहिए, बटाविया के गवर्नर जनरल ने आंग्ल-डच संघर्ष की आशंका से अंग्रेजों के विरुद्ध शक्ति का उपयोग न करने का फैसला किया। दूसरी तरफ महानिदेशक कोन ने इसे अंग्रेजों को लवंग द्वीपों (Spice Islands) से निष्कासित करने के लिए शक्ति प्रयोग करने संबंधी आदेश के रूप में ग्रहण किया। परिणामस्वरूप बटाविया परिषद् ने कोन की कार्यवाई को मंजूरी न देने का फैसला किया। परंतु अगस्त 1616 ई. तक कोन ने "भद्रजन XVII" से मंजूरी ले ली। इसकी प्रतिक्रिया में गवर्नर जनरल (रेन्सट रियल) ने त्यागपत्र दे दिया और कोन ने नियंत्रण संभाल लिया।

कारखाने में अक्सर मनमुटाव और दुश्मनी चलती रहती थी। जब कोन ने रेवेस्टीन को पश्चिमी भारत का प्रशासनिक प्रमुख बनाया तब गोयरी ने उसकी सत्ता स्वीकार करने से सीधे इंकार कर दिया। अंततः कोन ने 1620 ई. में पीटर फान देन ब्रुक को ईरान और पश्चिमी भारत के डच कारखानों की गतिविधियों के निरीक्षण का उत्तरदायित्व संभालने के लिए सूरत भेजा। तब जाकर संकट हल हुआ। पीटर फान देन ब्रुक ने बटाविया के उस निर्देश को मानने से इंकार कर दिया जिमसें स्वदेशी (भारतीय) व्यापारियों के जहाजों पर कब्जा कर लेने का आदेश था। यान फान हैसेल ने वस्तुओं की खरीद के लिए स्थानीय ऋणदाताओं से राशि प्राप्त करने से मना कर दिया जबकि बटाविया और "भद्रजन XVII" का निर्देश था कि इन खरीदों के लिए केवल कम्पनी की पूंजी का ही उपयोग किया जाए। अतः अपनी प्रशासनिक गतिविधियों को संभालने के कम्पनी के सारे प्रयास असफल रहे और सुचारू संचार के अभाव में असल नियंत्रण कारखानेदारों और कारखानों के पास रहा।

## 25.4.2 इंग्लिश

सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी इंग्लैंड की एकमात्र सबसे बड़ी कम्पनी थी। पूर्व के व्यापार पर इसका पूर्ण नियंत्रण था और अन्य अंग्रेज व्यापारियों को व्यापार करने से ये सख्ती से रोकते थे। अतः आरंभ से ही उन्होंने पूर्वी समुद्रों से प्रतिद्वंद्वी व्यापारियों की दूर रखने का प्रयत्न किया और विशेषाधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इससे स्वभावतः उन अंग्रेज व्यापारियों में असंतोष उत्पन्न हुआ जो पूर्वी व्यापार के असीम मुनाफे में हिस्सा चाहते थे। इन व्यापारियों ने राजनैतिक नेताओं को प्रभावित करने का प्रयत्न किया परन्तु कम्पनी ने किसी प्रकार (रिश्वत, आदि देकर) चार्ल्स द्वितीय के शासन काल तक यह विशेषाधिकार कायम रखा। सभी प्रकार के विरोधों के बावजूद "इन्टरलोपर्स" के नाम से जाने वाले ये व्यापारी निजी आधार पर पूर्वी भारतीय व्यापार में संलग्न होकर कम्पनी के एकाधिकार का उल्लंघन करते रहे। 1688 ई. तक वे ब्रिटिश

संसद में काफी शक्तिशाली हो गए और परिस्थिति उनके अनुकूल हो गई। ये "मुक्त व्यापारी" सार्वजनिक तौर पर और संसद में अपनी मांगों के लिए दबाव डालने लगे। 1694 ई. में संसद ने एक प्रस्ताव पारित कर दिया कि इंग्लैंड के सभी नागरिकों को पूर्व में व्यापार करने का समान अधिकार है। इसके परिणामस्वरूप एक "नयी कम्पनी" का निर्माण हुआ। परन्तु "पुरानी कम्पनी" अपना विशेषाधिकार छोड़ने को तैयार न थी। काफी संघर्ष के बाद अंततः दोनों कम्पनियों ने मिलकर काम करने का फैसला किया और 1708 ई. में "द लिमिटेड कम्पनी ऑफ मर्चेन्ट ऑफ इंग्लैंड ट्रेडिंग टू द ईस्ट इंडीज" की स्थापना हुई।

इंगलैंड में कम्पनी और सम्राट में घनिष्ठ संबंध था। रानी एलिजाबेथ स्वयं कम्पनी की भागीदार थीं। रानी एलिजाबेथ की मृत्यु (1603 ई.) के बाद जेम्स प्रथम ने चार्टर (1609 ई.) को पुनः मंजूरी दे दी हालांकि तीन साल की सूचना देकर इसे कभी भी निरस्त किया जा सकता था। 1615 ई. में लंबी यात्राओं पर अनुशासन कायम करने के लिए कम्पनी को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हुआ। 1623 ई. के चार्टर द्वारा कम्पनी को अपने सेवकों को नियंत्रित करने और दंड देने का और भी व्यापक अधिकार प्राप्त हो गया।

चार्ल्स प्रथम के शासनकाल में कम्पनी को काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ा। 1635 ई. में चार्ल्स प्रथम ने सर विलियम कोर्टेन को पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने के लिए एक नये व्यापारिक निकाय "असाडा कम्पनी" स्थापित करने की अनुमति दे दी। परन्तु यह कम्पनी ईस्ट इंडिया कम्पनी के सामने टिक न सकी।

ऑलिवर क्रॉमवेल के शासनकाल में स्थिति एक बार फिर बदली। उसने कम्पनी के हितों का समर्थन किया। 1657 ई. में उसने एक नया चार्टर जारी किया जिसके द्वारा कोर्टेन "एसोसिएशन" को "पुरानी कम्पनी" में मिला लिया गया। यह चार्टर इसलिए महत्वपूर्ण था क्योंकि इससे कम्पनी के स्वरूप में परिवर्तन आ गया। पहले कम्पनी के हिस्सेदार जहाज के प्रति फेरे के हिसाब से अपना योगदान देते थे। अब इसके द्वारा कम्पनी एक संयुक्त स्टॉक कम्पनी के रूप में परिवर्तित हो गई जिसमें लगातार धन की आपूर्ति संभव हो सकी। अब कोई भी व्यक्ति 5 पौंड का प्रवेश शुल्क देकर और कम्पनी के स्टॉक में 100 पौंड का योगदान देकर कम्पनी का सदस्य बन सकता था। 500 पौंड देकर मतदान का अधिकार प्राप्त किया जा सकता था, इसी प्रकार 1000 पौंड का अंशदान देकर वह समिति का सदस्य चुना जा सकता था। गवर्नर और उप-गवर्नर के पद की अवधि कम करके दो वर्ष कर दी गई।

चार्ल्स द्वितीय ने 1661 ई. में कम्पनी को दूसरा चार्टर प्रदान किया। इस चार्टर द्वारा कम्पनी को अपने प्रशासन के लिए गवर्नर और अधीनस्थ अधिकारियों की नियुक्ति करने का अधिकार मिल गया। उनका दंड देने का न्यायिक अधिकार भी व्यापक हो गया। कम्पनी को यह अधिकार मिला कि वह गवर्नर और प्रत्येक कारखाने की परिषद् को अंग्रेजी कानून के अनुसार अपने अधीनस्थ अधिकारियों का निरीक्षण करने का अधिकार प्रदान कर सके। 1668 ई. के चार्टर ने कम्पनी को मात्र व्यापारिक निकाय से बदलकर एक क्षेत्रीय शक्ति बना दिया। जैसा कि हमने पहले बताया है, 1669 ई. में कम्पनी ने बम्बई पर अपना क्षेत्रीय अधिकार प्राप्त कर लिया। यहां राज्य करने के लिए अब कम्पनी स्वतंत्र होकर कानून बना सकती थी और अध्यादेश जारी कर सकती थी। यहां तक कि 1676 ई. में कम्पनी को बम्बई में सिक्के ढालने का भी अधिकार मिल गया। 1683 ई. के चार्टर से कम्पनी को एक सीमा तक सेना रखने की भी अनुमति मिल गई और अमेरिका, अफ्रीका और एशिया में युद्ध करने या शांति स्थापित करने का भी अधिकार मिल गया। 1687 ई. में कम्पनी को मद्रास में एक नगर निगम और मेयर की अध्यक्षता में न्यायालय स्थापित करने का अधिकार मिला।

गौरवपूर्ण क्रांति (1688 ई.) से कम्पनी की बढ़ी ताकत को झटका पहुंचाया। 1693 ई. के चार्टर के अनुसार कोई भी कम्पनी में 10,000 पौंड तक हिस्से (शेयर्स) खरीद सकता था। इसी प्रकार मताधिकार की सीमा 500 पौड़ से बढ़ाकर 1,000 पौंड कर दी गई और अब एक सदस्य अधिकतम दस वोट तक दे सकता था। 1694 ई. में पदाधिकारियों के समयबद्ध सेवानिवृत्ति का सिद्धांत अनिवार्य बना दिया गया। 24 सदस्यों में से प्रतिवर्ष 8 सदस्यों को

NMDC-268

सेवानिवृत्त होना था। मताधिकार की सीमा एक बार फिर 1000 पौंड से घटाकर 500 पौंड कर दी गई। अब पहले के दस मत के स्थान पर प्रत्येक सदस्य को पांच मत देने का अधिकार रह गया। कम्पनी ने राजा और संसद को काफी ऋण देकर कई चार्टरों द्वारा रियायतें प्राप्त की। इन चार्टरों के जरिए (1709, 1711, 1726, 1734, 1744, 1754, 1757 ई.) में कम्पनी ने अधिक से अधिक सैन्य और प्रशासनिक अधिकार प्राप्त किए।

### 25.4.3 फ्रांसीसी

फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी एक राज्य नियंत्रित संगठन था और इस प्रकार इंग्लैंड और हॉलैंड की चार्टर्ड कम्पनियों से भिन्न था। फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी को अपने अनुदानों, रियायतों, ऋणों, आदि के लिए फ्रांसीसी सरकार पर काफी निर्भर रहना पड़ता था। 1723 ई. के बाद से इसके लगभग सभी निदेशक राज्य के प्रतिनिधि थे। इस प्रकार फ्रांसीसी सरकार का इस पर पूरा नियंत्रण स्थापित हो गया। इसके हिस्सेदारों में व्यापारियों की नहीं बल्कि कुलीनों और ठेकेदारों की संख्या अधिक थी। वे तुरंत लाभ अर्जित करने में रुचि लेते थे। फ्रांसीसी सरकार निरंकुश, भ्रष्ट और पतनोन्मुख थी और उनका इस स्तर का नियंत्रण फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिए स्वभावतः घातक सिद्ध हुआ।

व्यावहारिक तौर पर निदेशकों के पास कोई शक्ति नहीं थी। यहां तक कि हिस्सेदारों की बैठक भी कभी-कभी ही होती थी और इस बैठक में सरकारी या राजा के पदाधिकारी के आगे उनकी कुछ नहीं चलती थी। माननीय सदस्यों या निदेशकों द्वारा प्रस्तुत और मंत्री द्वारा अनुमोदित प्रस्ताव को नामंजूर करने के बारे में "एसेम्बली जनरल" भी नहीं सोच सकती थी।

आरंभ से ही फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी दिवालिया थी। कम्पनी का पुनर्संगठन करने के लिए 1684 ई. में आम सभा (जनरल असैम्बली) बुलाई गई। राजा द्वारा मनोनीत निदेशक आजीवन पद पर बने रह सकते थे। एक निदेशक की मृत्यु के बाद उसके स्थान पर शेष निदेशक और हिस्सेदार (कम से कम 20,000 लिवर के हिस्सेदार) मतदान द्वारा निदेशक का चुनाव कर सकते थे। प्रशासन पूरी तरह निदेशकों, जिनकी संख्या 12 थी, की मुट्ठी में था जिन्हें प्रतिवर्ष 3000 लिवर प्राप्त होता था।

1688 ई. में आठ नये निदेशकों के पद कायम किए गए। इस निदेशकों को नियुक्ति के लिए 60,000 लिवर नियुक्ति शुल्क अदा करना था। 1697 ई. में साधारण हिस्सेदारों ने भी कम्पनी प्रशासन में अपने प्रतिनिधियों को शामिल करने की मांग की परंतु उन्हें सफलता नहीं मिली।

1721-23 में पुनः कम्पनी को संगठित करने के लिए प्रयास किए गए। 1730 ई. के बाद यह कम्पनी राष्ट्रीय ईस्ट इंडिया कम्पनी बन गई। ये बारहों निदेशक राज्य द्वारा नियुक्त "काउंसिल डेस इंडीज" के क्लर्क बनकर रह गए। इस काउंसिल में राजकीय पार्षद, नौसेना अधिकारी और प्रतिष्ठित व्यापारी शामिल थे। हिस्सेदारों द्वारा 6 मान्य सदस्यों या निदेशकों को चुनने का अधिकार 1745 ई. तक स्थगित रहा। 1745 ई. में उन्हें बारह व्यक्तियों को मनोनीत करने का अधिकार प्राप्त हुआ जिनमें से छह को सम्राट चुनता था। 1730 ई. के बाद एक राजकीय कमिश्नर के द्वारा परिषद् ने अपने आदेश देने शुरू किए। वास्तव में महानिदेशक परिषद् (कन्ट्रोलुस जनरल) और नौसेना मंत्री के पास कम्पनी का वास्तविक नियंत्रण था। पूंजी का अधिकांश हिस्सा निदेशकों के हाथ में ही रहा।

कम्पनी का मुख्यालय पेरिस में था। परन्तु रेजिडेन्ट निदेशक के नेतृत्व में लोरिएण्ट में भी लगभग उतने ही कर्मचारी कार्यरत थे।

फ्रांसीसी कम्पनी के पास अपना जहाजी बेड़ा था। परन्तु अन्य दो बड़ी ईस्ट इंडिया कम्पनियों के मुकाबले फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी में व्यर्थ खर्च अधिक होते थे।

1769-1785 ई. से और पुनः 1789 ई. की फ्रांसीसी क्रांति के बाद से भारत के साथ फ्रांसीसी व्यापार के द्वार सबके लिए खुल गये।

NMDC-268

**बोध प्रश्न 3**

1) "इन्टरलोपर्स" कौन थे? इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ उनके संघर्ष का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी अपने समकालीन इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी से किन मायनों में भिन्न थी?

.....

.....

.....

.....

.....

## 25.5 भारतीय शासक और यूरोपीय कम्पनियां

मुगल और भारतीय शासक भारत के विदेशी व्यापार का विकास करना चाहते थे ताकि उनका राजस्व स्रोत बढ़ सके। अतः सभी प्रकार की दिक्कतों के बावजूद मुगल बादशाहों और स्थानीय भारतीय शासकों ने विदेशी व्यापारियों का स्वागत किया। परन्तु मुगल और अन्य भारतीय राजाओं की समुद्र पर पकड़ मजबूत नहीं थी। समुद्र में भारतीय जहाजों की सुरक्षा के लिए उन्हें किसी एक यूरोपीय ताकत से समझौता करना जरूरी था क्योंकि समुद्र पर उनकी शक्ति बहुत अधिक थी। आपने गौर किया होगा कि जब तक मुगल शासक मजबूत रहे तब तक यूरोपीय व्यापारियों ने याचिकाओं और पुरस्कारों का सहारा लिया। कम्पनियों ने व्यापार और कूटनीति के साथ-साथ युद्ध किया और अपने कारखाने वाले क्षेत्रों पर अधिकार की नीति अपनाई। मुगल सत्ता के कमजोर पड़ते ही ये यूरोपीय कम्पनियां एकाधिकार और रियायतें प्राप्त करने के लिए भारतीय राजाओं पर दबाव डालने लगे। उन्होंने यहां की आन्तरिक कलह का भी भरपूर लाभ उठाया। (विस्तार के लिए ऐच्छिक पाठ्यक्रम ई.एच.आई. 05 देखिए)।

### 25.5.1 डच

डचों के प्रति गोलकुंडा शासकों का रुख सकारात्मक रहा। उन्होंने आयात और निर्यात पर 4 प्रतिशत सीमा शुल्क लगाकर डचों को व्यापार करने की इजाजत दे दी। कम्पनी को कपड़े पर लगाए गए कर पर भी छूट मिली (यह लगभग 12 प्रतिशत थी)। 1612 ई. में 4 प्रतिशत शुल्क को प्रतिवर्ष 3000 पगोडा की एक मुश्त रकम में परिवर्तित कर दिया गया।

भारतीय राजाओं के साथ कम्पनियों के संबंध का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि भारतीय शासकों द्वारा रियायतें प्रदान किए जाने के बावजूद स्थानीय अधिकारी लगातार इन आदेशों का उल्लंघन करते थे। यह अधिकारी कम्पनी के व्यापार पर कर लगाने का प्रयत्न किया करते थे। इससे कम्पनी और स्थानीय अधिकारियों में अक्सर मुठभेड़ होती रहती थी। स्थानीय **हवलदार** की मनमानी मांगों से तंग आकर डचों ने 1616 ई. में पेटापूली स्थित अपना कारखाना बंद कर दिया। 1619 ई. में डच अपना मसूलीपट्टम स्थित कारखाना भी बंद करने वाले थे तभी गोलकुंडा के शासक ने हस्तक्षेप किया और स्थानीय **हवलदार** मीर

NMDC-268

कासिम को हटा दिया। 1636 ई. में स्थानीय अधिकारियों द्वारा तंग किए जाने और स्थानीय व्यापारियों की दुश्मनी आदि के कारण डचों को हुगली स्थित कारखाना छोड़ देना पड़ा। (बाद में 1645-50 ई. में यह कारखाना फिर खोला गया)। 3000 **पगोड़ा** अदा करने पर उन्हें मसूलीपट्टम में सीमा शुल्क की छूट दे दी गई। 1657 ई. में उन्होंने गोलकुंडा के राजा से पूलिकट टकसाल में सिक्का ढलवाने का भी अधिकार प्राप्त कर लिया। उन्होंने 5.38 प्रतिशत टकसाल कर वसूल किया। 1676 के **फरमान** द्वारा गोलकुंडा शासक ने डचों को गोलकुडा में कर से पूरी तरह मुक्त कर दिया।

गोलकुंडा के मंत्री अकन्ना से अनबन होने के कारण 1680 के दशक में उन्होंने गोलकुंडा के विरुद्ध अस्त्र उठा लिए। 1686 ई. में उन्होंने मसूलीपट्टम बंदरगाह पर कब्जा कर लिया। यह कब्जा दो महीने तक कायम रहा। अन्ततः गोलकुंडा की संधि करनी पड़ी और गोलकुंडा शासक ने डचों को उनके सभी विशेषाधिकार लौटाने का वादा किया।

1690 ई. में तंजौर के **नायक** ने अपने राज्य में डचों को आधा कर भुगतान करने की छूट दे दी। उन्होंने तंजौर से अन्य यूरीपीयों को बाहर रखने का भी अधिकार प्राप्त कर लिया। उन्हें नागापट्टम में सिक्का ढालने का भी अधिकार मिल गया। बीजापुर के शासक ने भी 1651 ई. में जिंजी के **नायक** द्वारा प्रदान विशेषाधिकारों को अपनी स्वीकृति दे दी।

पश्चिमी तट पर व्यापार करने के लिए डच मुगल सम्राट जहांगीर से **फरमान** प्राप्त करने में सफल रहे। उन्हें बुरहानपुर से खम्भात और अहमदाबाद तक कर देने से मुक्ति मिल गई। शाहजहां ने भी उन्हें दो **फरमान** प्रदान किए जिनके अनुसार उन्हें बंगाल (1635 ई.) और सूरत में व्यापार करने की अनुमति मिल गई। 1638 ई. में कम्पनी को शोरा का व्यापार करने के लिए शाहजहां द्वारा अनुमति प्रदान कर दी गई। 1642 ई. में शाहजहां ने डचों को पीपली-आगरा मार्ग पर पारगमन शुल्क से मुक्त कर दिया। 1662 ई. में औरंगजेब ने शाहजहां द्वारा बंगाल में डचों को दिए गए सभी विशेषाधिकारों को स्वीकृति दे दी। मुगलों ने कुछ समय के लिए गोलकुंडा पर कब्जा कर लिया था, इसी दौरान 1689 ई. में औरंगजेब ने एक **फरमान** जारी कर गोलकुंडा में डचों के विशेषाधिकारों को स्वीकृति दे दी। शाह आलम (1709 ई.) ने सूरत और हुगली में सीमा शुल्क को साढ़े तीन प्रतिशत से घटाकर ढाई प्रतिशत कर दिया। उसने कम्पनी को पूरे मुगल साम्राज्य में पारगमन शुल्क से पूरी तरह मुक्त कर दिया। परन्तु स्थानीय अधिकारियों की रुकावटों के कारण कभी-कभी डच कारखानेदार राहदारी कर से मुक्ती नहीं पाते थे। इसी प्रकार स्थानीय अधिकारियों को खुश करने के लिए उन्हें काफी राशि भी खर्च करनी पड़ती थी। परन्तु कम्पनी अक्सर कर मुक्त वस्तुओं को ढोने के अपने विशेषाधिकार का उल्लघंन करती थी। वे हुगली में अपना माल ढोने के बदले भारतीय व्यापारियों का माल अपने नाम पर बिना कर के निकाल देते थे। 1712 ई. में जहांदार शाह ने औरंगजेब द्वारा कोरोमण्डल तट पर दिए गए सभी विशेषाधिकारों को मंजूरी दे दी। इसके बावजूद स्थानीय अधिकारी जहांदार शाह द्वारा दिए विशेषाधिकार को समर्पित करने के लिए तैयार नहीं थे। 1725-30 ई. पालकोट्टू और द्रकश्वरम् में स्थानीय अधिकारियों और डचों के मध्य जमकर लड़ाई हुई, और 1728 ई. में डच कारखाने पर आक्रमण कर उसे लूट लिया गया।

### 25.5.2 इंग्लिश

जहांगीर के शासनकाल में पहली बार मुगल दरबार में अंग्रेजी दूत आया था और उसे 1607 ई. में राजकीय **फरमान** प्रदान किया गया। 1608 ई. में अंग्रेजों ने सूरत में कारखाना लगाया और उसी वर्ष कैप्टन हॉकिन्स को मुगल दरबार में व्यापारिक रियायतें प्राप्त करने के लिए भेजा गया। आरंभ में जहांगीर ने अंग्रेजी दूत का स्वागत किया और सम्राट ने उसे 400 **जात** का **मनसब** प्रदान किया। 1611 ई. में हॉकिन्स को हालांकि सूरत में व्यापार करने की अनुमति मिल गई परन्तु बाद में पुर्तगालियों के प्रभाव के कारण उसे आगरा से बाहर निकाल दिया गया। अंग्रेजों ने यह महसूस किया कि अगर वे मुगल शासकों से रियायतें प्राप्त करना चाहते हैं तो सर्वप्रथम उन्हें पुर्तगालियों के प्रभाव को कम करना पड़ेगा। इसके कारण सूरत के निकट स्वैली में दोनों के बीच सशस्त्र संघर्ष हुआ। (1612, 1614 ई.)। इसका आशाजनक परिणाम निकला। मुगल शासक पुर्तगालियों की नौ सेना

NMDC-268

शक्ति का मुकाबला करने के लिए अंग्रेजों की सहायता चाहते थे। इसके अतिरिक्त वे यह भी चाहते थे कि विदेशी व्यापारियों की प्रतिद्वंद्विता से भारतीय व्यापारियों को अधिक से अधिक मुनाफा हो। शीघ्र ही पश्चिमी तट पर सूरत के खंभात, अहमदाबाद और गोआ में कारखाने खोलने के लिए कैप्टन बेस्ट मुगलों से एक राजकीय **फरमान** प्राप्त करने में सफल रहा।

1615 ई. में सर टामस रो को जहांगीर के दरबार में भेजा गया। अंग्रेजों ने भारतीय शासकों की नौ सेना संबंधी कमजोरियों का लाभ उठाने की कोशिश की। उन्होंने भारतीय व्यापारियों और उनके जहाजों को परेशान करना शुरू किया। इस दबाव के परिणामस्वरूप एक **फरमान** जारी कर अंग्रेजों को मुगल साम्राज्य के सभी भागों में कारखाने खोलने का अधिकार प्राप्त हो गया। अंग्रेजों की इस सफलता के बाद 1620 ई. से 1630 ई. के बीच अंग्रेजों और पुर्तगालियों के बीच कई संघर्ष हुए जिसमें अंग्रेजों की जीत हुई। इसके बाद गोआ, दमन और दीव को छोड़कर धीरे-धीरे पुर्तगालियों का अन्य भारतीय क्षेत्रों पर प्रभुत्व समाप्त हो गया। 1662 ई. में उन्होंने बम्बई का द्वीप इंगलैंड के चार्ल्स द्वितीय को दहेजस्वरूप दे दिया।

जहांगीर के शासनकाल के अंतिम दिनों में इंग्लिश कम्पनी ने सूरत स्थित अपने कारखाने की किलाबंदी करने का प्रयत्न किया, परन्तु मुगल अधिकारियों ने उन्हें बंदी बना लिया। जब कम्पनी के प्रतिद्वंद्वी अंग्रेज व्यापारियों ने मुगल जहाजों पर आक्रमण किया तब मुगलों ने सूरत स्थित कम्पनी के अध्यक्ष को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें 1,80,000 रुपयों का भुगतान करने पर ही मुक्त किया गया।

1651 ई. में इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी को शाहजहां के पुत्र और उस समय बंगाल के गवर्नर सुल्तान शुजा ने **निशान** प्रदान किया। इसके द्वारा उन्हें 3000 रुपये प्रतिवर्ष का निश्चित भुगतान करने की शर्त पर व्यापारिक विशेषाधिकार प्रदान किए गए। 1656 ई. में प्राप्त एक अन्य निशान द्वारा इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी को सीमा शुल्क से छूट मिल गई परन्तु बंगाल से शुजा की वापसी के बाद उसके उत्तराधिकारी ने शुजा के आदेश को नजरअंदाज कर दिया क्योंकि इससे राजकीय कोष पर असर पड़ रहा था और बाद में शाइस्ता खां (1672 ई.) और सम्राट औरंगजेब के **फरमान** ने अंततः अंग्रेजों को सीमा शुल्क से मुक्त कर दिया।

औरंगजेब के शासनकाल में मुगल-अंग्रेज संबंधों में कुछ परिवर्तन नजर आता है। इस समय तक इंग्लिश कम्पनी ने मद्रास और बम्बई स्थित अपने क्षेत्रों की किलाबंदी कर ली थी और अपनी स्थिति मजबूत समझने लगे थे। औरंगजेब खुद भी दक्खनी अभियानों में व्यस्त था। ऐसी स्थिति में अंग्रेज विनयपूर्वक याचिका देने की नीति को छोड़ने की बात सोच सकते थे। शक्ति का इस्तेमाल करके मूल्य निर्धारित कर सकते थे और व्यापार पर एकाधिकार हासिल कर सकते थे। वे धीरे-धीरे सभी यूरोपीय शक्तियों को प्रतिद्वंद्विता से हटाकर व्यापार पर अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहते थे।

1686 ई. में अंग्रेजों ने मुगल सम्राट के खिलाफ युद्ध छेड़ दिया और हुगली को रौंद दिया। परन्तु यहां मुगल शक्ति को आंकने में उनसे भारी भूल हो गई। दक्षिण भारत के शासकों की तुलना में मुगल सम्राट की शक्ति काफी मजबूत थी और एक छोटी व्यापारिक कम्पनी की मुगलों के सामने कोई बिसात नहीं थी। अतः कम्पनी को बुरी तरह अपमानित होना पड़ा। उन्हें बंगाल स्थित सभी कारखानों को छोड़ना पड़ा। सूरत, मसूलीपट्टम और विशाखापट्टम स्थित उनके कारखानों पर तथा बंबई स्थित उनके किले पर मुगलों ने कब्जा कर लिया गया।

मुगलों की शक्ति का अंदाज लगते ही वे पुनः **याचिका** और **कूटनीति** की अपनी पुरानी नीति पर लौट गए। वे पुनः 'विनयपूर्वक याचिका' के लिए अनुरोध करने लगे और भारतीय शासकों के संरक्षण में व्यापार करने को सहमत हुए।

NMDC-268

विदेशी व्यापार के बढ़ते लाभ को देखते हुए मुगलों ने उन्हें माफ कूर दिया। 1,50,000 रुपयों का मुआवजा लेकर औरंगजेब ने उन्हें व्यापार करने की अनुमति दे दी। 1619 ई. में 3000 रुपये वार्षिक शुल्क देकर इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बंगाल में सीमा शुल्क से मुक्ति पा ली। व्यापारिक रियायत की वैध अनुमति लेने और अंग्रेजी बस्तियों में अंग्रेजी शासन का अधिकार प्राप्त करने के लिए 1698 ई. में इंग्लैंड के राजा ने सर विलियम नोरिस को औरंगजेब के दरबार में भेजा। 1714-17 ई. में सरमन के नेतृत्व में दूसरा प्रतिनिधि मंडल भेजा गया जो फरूखसियर से तीन **फरमान** प्राप्त करने में सफल रहा। इसके द्वारा उन्हें गुजरात के साथ-साथ दक्खन में भी सीमा शुल्क देने से मुक्ति मिल गई। जब तक मुर्शिद कुली खां और अली वर्दी खां का बंगाल पर शासन रहा तब तक वे कम्पनी द्वारा विशेषाधिकारों के दुरुपयोग पर कड़ाई से नियंत्रण लगाते रहे। परन्तु उनके हटने (1750 का दशक) के बाद अंग्रेजों को हस्तक्षेप करने का मौका मिल गया और जल्द ही 1757 ई. में प्लासी के युद्ध में उन्हें बंगाल के नवाब को परास्त करने में सफलता प्राप्त हुई। (विस्तार के लिए ऐच्छिक पाठ्यक्रम ई.एच.आई.-05 देखिए)।

गोलकुंडा के शासकों का भी इंग्लिश कम्पनी के साथ मित्रतापूर्ण संबंध था। 1632 ई. में गोलकुंडा के शासक ने **फरमान** जारी कर गोलकुंडा के बन्दरगाहों पर अंग्रेजों को मुक्त रूप से व्यापार करने की छूट दे दी। इसके बदले में उन्हें 500 **पगोड़ा** देना था, इसके बाद वे निर्बाध रूप में वस्तुओं का व्यापार कर सकते थे। इससे निश्चित रूप से कोरोमण्डल क्षेत्र में अंग्रेजों के व्यापार में अभूतपूर्व प्रोत्साहन मिला।

### 25.5.3 फ्रांसीसी

फ्रांसीसियों को 1677 ई. में मराठों (शिवाजी) का प्रकोप झेलना पड़ा था। फ्रांसीसी कमांडर (बाद में भारत में फ्रांसीसी मामलों का महानिदेशक) मार्टिन ने शिवाजी की सत्ता स्वीकार कर ली और उनके क्षेत्र में व्यापार करने की छूट देने के बदले एक राशि अदा करने के लिए सहमत हुआ। शिवाजी ने फ्रांसीसिसी निवेदन इस शर्त पर स्वीकार किया कि वे उसके खिलाफ होने वाले सैनिक अभियानों में शामिल नहीं होंगे। 1689 ई. में शम्भाजी ने फ्रांसीसियों को पांडिचेरी की किलाबंदी करने की अनुमति दे दी। 1667 ई. में फ्रांसीसियों ने औरंगजेब से **फरमान** प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की और उन्होंने सूरत में अपना कारखाना लगाया। 1688 ई. में मुगल सम्राट औरंगजेब ने फ्रांसीसियों को चन्द्रनगर गांव दे दिया। कर्नाटक के नवाब दोस्त अली के साथ भी फ्रांसीसियों के अच्छे संबंध थे। उसकी जोरदार अनुशंसा के आधार पर ही मुगल सम्राट मौहम्मद शाह ने एक **फरमान** जारी कर फ्रांसीसियों को सिक्का गढ़ने और सोने और चांदी की मुद्रा जारी करने का अधिकार दे दिया। यह अधिकार इस शर्त पर दिया गया कि इन मुद्राओं पर एक तरफ मुगल बादशाह तथा दूसरी तरफ टकसाल के स्थान का नाम अंकित होना चाहिए।

दक्षिण की राजनैतिक स्थिति में हुए परिवर्तन के कारण फ्रांसीसियों को भारतीय शासकों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का मौका मिल गया। 1738 ई. में वेन्कोजी के पोते बाबा साहब की मृत्यु के बाद तंजोर में गृह युद्ध छिड़ गया। गद्दी के एक दावेदार साहूजी ने फ्रांसीसी गवर्नर एम. ड्यूमा से सहायता मांगी। इसके बदले उसने फ्रांसीसियों को करिकल और किरकनगढी देने का वादा किया। परन्तु उसने अपने वादे पर अमल नहीं किया और इससे चान्दा साहब (कर्नाटक के नवाब दोस्त अली का दामाद) को मौका मिला और उसने शीघ्र फ्रांसीसी गवर्नर के पास जाकर करिकल और किरकनगढ़ी देने का वादा किया बशर्ते वे उसे तंजोर के इलाकों पर अधिकार करने में उसकी मदद करें। परन्तु जल्दी ही चांदा साहब को मराठों के प्रकोप का सामना करना पड़ा और वह फ्रांसीसी सहायता प्राप्त करने के लिए मजबूर हुआ। मराठों से सफलतापूर्वक टक्कर लेने की बात सुनते ही मौहम्मद शाह ने फ्रांसीसी गवर्नर एम. ड्यूमा को नबाव की पदवी प्रदान की और 4500 **जात** और 2000 **सवार** का **मनसब** प्रदान किया। दक्षिण भारत में फ्रांसीसियों के हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप कर्नाटक के युद्ध हुये जिसमें फ्रांसीसियों की हार हुई (कर्नाटक-युद्धों और आंग्ल-फ्रांसीसी मुठभेड़ों, आदि पर ऐच्छिक पाठ्यक्रम ई.एच.आई.-05 में विस्तार से विचार किया गया है)।

NMDC-268

1) मुगल शासकों और भारतीय राजाओं ने यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों को क्यों प्रोत्साहित किया।

.....

.....

.....

.....

.....

2) स्थानीय अधिकारी भारतीय शासकों द्वारा यूरोपीय व्यापारियों को दिए गए विशेषाधिकारों का पालन करने में क्यों रुकावट डालते थे? इसका क्या परिणाम हुआ?

.....

.....

.....

.....

.....

## 25.6 सारांश

आशा अन्तरीप मार्ग के जरिये नये समुद्री मार्ग का पता लगाते ही पूर्वी व्यापार का द्वार सभी यूरोपीय राष्ट्रों के लिए खुल गया। इस दौरान अफ्रीका और एशिया में पुर्तगालियों, डच, इंग्लिश और फ्रांसीसी व्यापारिक कम्पनियों ने अपने कारखाने लगाए। यूरोपीय कम्पनियां भारतीय शासकों से ज्यादा से ज्यादा रियायत प्राप्त करना चाहती थीं। वे पूर्वी व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त करना चाहते थे, परिणामस्वरूप समुद्र में और जमीन पर दोनों जगह इनमें मुठभेड़ें हुई। 1750 के दशक तक अंग्रेजों ने सबको पीछे छोड़ दिया और भारत में साम्राज्य स्थापित करने की दिशा में अग्रसर हुए।

पुर्तगाली, डच और इंग्लिश कम्पनियां मूलतः व्यापारिक कम्पनियां थीं। परन्तु फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी फ्रांसीसी सरकार पर बहुत निर्भर थी। भारत में सभी यूरोपीय कम्पनियों के पास किलाबंद कारखाने थे। वे कारखाने केवल भंडारगृह ही नहीं थे लेकिन अस्त्र-शस्त्र के अड्डे भी थे। भारत में उनका प्रधान प्रेसिडेंट/गवर्नर होता था। परन्तु उन्हें सारी शक्ति अपने देश से प्राप्त होती थी। भारत स्थित डच ईस्ट इंडिया कम्पनी सीधे बटाविया के प्रति जिम्मेदार थी जो हेग स्थित मुख्यालय से जुड़ा हुआ था।

इन कम्पनियों ने मुगलों और अन्य भारतीय राजाओं से अच्छा संबंध बनाए रखने की कोशिश की। परन्तु वे खुशामद, याचिका, पुरस्कार, धमकी और सैन्य शक्ति प्रदर्शन की मिली-जुली नीति का प्रयोग करते थे। भारतीय शासकों ने भी सीमा शुल्क में बढ़ोत्तरी की आशा से यूरोपीय कम्पनियों को बढ़ावा दिया। शक्तिशाली राज्य के अभाव में यूरोपीय कम्पनियो का दक्षिण में प्रवेश आसान था। शीघ्र ही वे कमजोर नायकों और दक्खनी शासकों पर अपनी शर्तें लादने लगे। परन्तु सत्रहवीं शताब्दी में वे शक्तिशाली मुगलों का सामना नहीं कर सके। उन्होंने जब भी मुगलों से टक्कर लेने की कोशिश की उन्हें मुंह की खानी पड़ी। परन्तु जैसे ही केंद्रीय मुगल सत्ता में कमजोरी के लक्षण नजर आने लगे वैसे ही यूरोपीय कम्पनियां और खासकर अंग्रेज अपनी मर्जी के अनुसार उनसे भी रियायतें प्राप्त करने में सफल हुए।

NMDC-268

## 25.7 शब्दावली

**देशी व्यापार** : भारत के अंतर्देशीय व्यापार में भाग लेने वाले विदेशी कम्पनियां

## 25.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) देखिए उपभाग 25.2.1 भारत में इन दो कम्पनियों के हितों का विश्लेषण कीजिए और डचों के समर्पण का कारण बताइए। यह भी बताइए कि वे देशी व्यापार से ही अंततः कैसे संतुष्ट हुए।

2) i) 1602 ई. ii) 1599 ई. iii) 1608, ई. सूरत iv) 1668 ई. v) 1690-92 ई. vi) 1760, इंग्लैंड, फ्रांस।

**बोध प्रश्न 2**

1) देखिए उपभाग 25.3.1

2) देखिए उपभाग 25.3.2 सबसे पहले इस समिति के संगठन के बारे में बताइए। इसके अधिकारों और पूर्वी क्षेत्रों में स्थित कारखानों के साथ संबंधों का उल्लेख कीजिए।

**बोध प्रश्न 3**

1) देखिए उपभाग 25.4.2 इन्हें परिभाषित करने के बाद इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी से उनके हितों का टकराव, उनके द्वारा इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के एकाधिकार का विरोध और इस संघर्ष का परिणाम, आदि मुद्दों पर विचार कीजिए।

2) उपभाग 25.4.2, 25.4.3 ध्यान से पढ़िए। इस तथ्य का उल्लेख कीजिए कि इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी एक व्यापारिक संगठन था जबकि फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी काफी हद तक फ्रांसीसी सरकार पर निर्भर थी। यह भी बताइए कि कैसे इससे भारत में फ्रांसीसी ताकत कमजोर हुई।

**बोध प्रश्न 4**

1) देखिए भाग 25.5 आलोचनात्मक रूप से परीक्षण कीजिए कि वे अपने व्यापारियों और कारीगरों की भलाई के लिए भारतीय विदेशी व्यापार का विकास चाहते थे, यह भी बताइए कि इससे उनकी वित्तीय स्थिति कैसे मजबूत हुई?

2) भाग 25.5 और इसके उपभाग सावधानी से पढ़िए। इससे स्थानीय अधिकारियों द्वारा वसूल किए गए राजस्व स्रोत में कमी आई। बताइए कि इस वजह से इन दोनों में कैसे सशस्त्र संघर्ष हुआ।

# इस खंड के लिये कुछ उपयोगी पुस्तकें


| | | |
|---|---|---|
| इरफान हबीब | : | मुगल कालीन कृषि व्यवस्था |
| डब्लू. एच. मोरलैंड | : | मुस्लिम कालीन भारत की कृषि व्यवस्था |
| डब्लू. एच. मोरलैंड | : | अकबर की मृत्यु के समय का भारत |
| डब्लू. एच. मोरलैंड | : | अकबर से औरंगजेब तक |
| तपन राय चौधरी एवं इरफान हबीब | : | द कैम्ब्रिज इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया भाग-1 |


NMDC-268

NMDC-268

Uttar Pradesh Rajarshi Tandon
Open University

# UGHY -104 /CSSHY-03

## भारत : 16 वीं से 18 वीं शताब्दी के मध्य तक

खंड

# 2

## समाज और संस्कृति-I


इकाई 26
मुगलकालीन भारत की जनसंख्या 77

इकाई 27
ग्रामीण वर्ग तथा जीवन शैली 84

इकाई 28
शहरीकरण, शहरी वर्ग तथा जीवन शैली 90

इकाई 29
धार्मिक विचार और आंदोलन 102

इकाई 30
राज्य और धर्म 114

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें 125


NMDC-288

## विशेषज्ञ समिति

प्रो. के. एन. पणिक्कर (अध्यक्ष)
प्रो. बी. डी. चट्टोपाध्याय
प्रो. एस. भट्टाचार्य
इतिहास अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. अहमद रजा खां
इ. गां. रा. मु. वि.
प्रो. कपिल कुमार (संयोजक)
इ. गां. रा. मु. वि.

प्रो. हिजेन्द्र त्रिपाठी
भारतीय मैनेजमेंट इंस्टीट्यूट
अहमदाबाद

प्रो. सुधीर चंद
सामाजिक अध्ययन केन्द्र
सूरत

प्रो. ए. जे. सैयद
इतिहास विभाग
बंबई विश्वविद्यालय

प्रो. अनिरुद्ध रे
इस्लामी इतिहास तथा संस्कृति विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय

प्रो. ज्ञान पांडेय
इतिहास विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रो. आलोका पराशर सेन
इतिहास विभाग
हैदराबाद विश्वविद्यालय

## पाठ्यक्रम दल

डा. ए. आर. खां
डा. आभा सिंह
सुश्री संगीता पांडे
} पाठ्यक्रम संयोजक

## खंड • निर्माण दल

| इकाई सं. | लेखक | संकाय सदस्य इं. गां. रा. मु. वि. |
|---|---|---|
| 26 | प्रो. शीरीन मुसवी<br>इतिहास विभाग<br>अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय<br>अलीगढ़ | डॉ. आभा सिंह |
| 27 | श्री फरहत हसन<br>इतिहास विभाग<br>अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय<br>अलीगढ़<br>और<br>डॉ. रवीन्द्र कुमार<br>सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ<br>इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय<br>नई दिल्ली | डॉ. ए. आर. खां |
| 28 | डॉ. ए. आर. खां<br>डॉ. रवीन्द्र कुमार<br>डॉ. आभा सिंह<br>सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ<br>इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय<br>नई दिल्ली | डॉ. ए. आर. खां |
| 29 | डॉ. फिरदौस अनवर<br>इतिहास विभाग<br>किरोरीमल कॉलेज<br>दिल्ली विश्वविद्यालय<br>दिल्ली | सुश्री संगीता पांडे |
| 30 | डॉ. फिरदौस अनवर<br>इतिहास विभाग<br>किरोरीमल कॉलेज<br>दिल्ली विश्वविद्यालय<br>दिल्ली<br>और<br>प्रो. ए. जान कैसर<br>इतिहास विभाग<br>अलीगढ़ विश्वविद्यालय<br>अलीगढ़ | डॉ आभा सिंह |

## पाठ्यक्रम संपादक

प्रो. ए. जान कैसर
इतिहास विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय
अलीगढ़

## अनुवाद

| | संकाय सदस्य |
|---|---|
| श्रीमती सीमा कुमारी<br>नई दिल्ली | इं. गां. रा. मु. वि.<br>डॉ. ए. आर. खां |
| श्री जफर नकवी<br>नई दिल्ली | डॉ. आभा सिंह<br>सुश्री संगीता पांडे |

## सामग्री निर्माण

**प्रोफेसर पांडव नायक**
**निदेशक**
**सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ**
**इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय**

अप्रैल, 1996 (पुनःमुद्रित)
© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1995
ISBN 81-7263-646-6

NMDC-268

# खंड 7 समाज और संस्कृति

इस खंड में मध्यकालीन भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर विचार किया गया है।

प्रथम इकाई (26) में सोलहवीं शताब्दी के अंत में जनसांख्यिकी की रूपरेखा को समझने की कोशिश की गई है। मध्यकालीन भारत में जनसंख्या संबंधी प्रत्यक्ष आंकड़े उपलब्ध नहीं है इसलिए इतिहासकारों ने इस समस्या के समाधान के लिए कई प्रविधियों का सहारा लिया है। मोरलैंड से लेकर इरफान हबीब तक यह प्रक्रिया चलती आ रही है। प्रत्येक विद्वान ने 1600 ई. में जनसंख्या के अपने-अपने आंकड़े निर्धारित किए हैं। आप पाएँगे कि इस बहस में अबुल फ़ज़ल की **आइन-ए-अकबरी** को आधार बनाया गया है। आप यह भी पाएँगे कि इतिहासकारों ने अपनी निजी प्रविधि और परिणामों को सही ठहराने का प्रयत्न किया है।

इकाई 27 और 28 अपेक्षाकृत कम विवादास्पद हैं। इनमें ग्रामीण और शहरी वर्ग और उनकी जीवन-शैलियों की चर्चा की गई है। हाल में मध्यकालीन भारत में शहरीकरण विषय पर अध्ययन करने का प्रचलन बढ़ा है जो स्वागत योग्य कदम है।

इकाई 29 में धार्मिक विचारों और विभिन्न पंथों, विचारों, विशेषकर हिन्दू और मुस्लिम रहस्यवादियों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। वे अपना अलग पंथ बनाने के लिए क्यों प्रेरित हुए इसकी संतोषजनक व्याख्या नहीं की जा सकती है। कुल मिलाकर रहस्यवादी ईश्वर में विश्वास रखते हुए मानवीय मूल्यों की बात करते थे। आप महसूस करेंगे कि "सत्य" पर किसी एक समूह का एकाधिकार नहीं था। इन धार्मिक विचारों और आन्दोलनों में विभिन्नता थी पर आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि इनका मल उद्देश्य शांति और सद्भाव स्थापित करना था।

इकाई 30 में एक अति संवेदनशील विषय पर विचार किया गया है। मध्यकालीन भारतीय इतिहास के आधुनिक इतिहासकारों के बीच "राज्य और धर्म" पर काफी तीखी बहस हुई है। इस बहस ने आज आम आदमी को भी प्रभावित किया है। मुगल शासकों की धार्मिक नीति पर विचार करना इस बात का प्रमाण है कि अतीत वर्तमान पर हावी हो रहा है। इस विषय पर विचार करते समय अक्सर विद्वान भावुकता और वैचारिक प्रतिबद्धता के मोह को छोड़ नहीं पाते और इस प्रकार समाज में अस्तव्यस्तता और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस इकाई में आपके सामने इस विषय से सम्बद्ध कुछ प्रासंगिक तथ्यों को रखने की कोशिश की गई है। निष्कर्ष निकालने का उत्तरदायित्व आप पर छोड़ा गया

NMDC-268

NMDC-268

# इकाई 26 मुगलकालीन भारत की जनसंख्या

**इकाई की रूपरेखा**


26.0 उद्देश्य
26.1 प्रस्तावना
26.2 मुगलकालीन भारत की जनसंख्या का आकलन
  26.2.1 कृषि के अधीन भूमि के आधार पर
  26.2.2 नागरिक : सैनिक अनुपात के आधार पर
  26.2.3 कुल और प्रति व्यक्ति भू-राजस्व के आधार पर
26.3 जनसंख्या वृद्धि की औसत दर
  26.3.1 समकालीन यूरोप से तुलना
  26.3.2 वृद्धि दर के प्रभाव
26.4 ग्रामीण और शहरी जनसंख्या का संघटन
26.5 सारांश
26.6 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 26.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- 1601 ई. में मुगलकालीन भारत की जनसंख्या के कई आकलनों से परिचित हो सकेंगे;
- जनगणना से पहले की भारतीय जनसंख्या का आकलन करने की विभिन्न विधियों को जान सकेंगे;
- 17-18वीं शताब्दियों में जनसंख्या के विकास की औसत वार्षिक दर पर प्रकाश डाल सकेंगे; और
- मुगलकालीन भारत में शहरी जनसंख्या का आकार बता सकेंगे ।

## 26.1 प्रस्तावना

जैसा कि विदित है भारत में जनगणना की विधिवत शुरुआत 1872 ई. से हुई। मुगल साम्राज्य में जनसांख्यिकी संबंधी आंकड़ों का काफी अभाव है, कहा जाता है कि अकबर ने जनसंख्या का विस्तार से आकलन करने का आदेश दिया था, पर इस संदर्भ में और कोई जानकारी हमें नहीं मिलती है। यहां तक कि **आइन-ए-अकबरी,** जिसमें विभिन्न प्रकार के आंकड़े सम्मिलित हैं, में भी अकबर के पूरे साम्राज्य या इसके किसी एक भाग में रहने वाली जनसंख्या का कोई आंकड़ा प्रस्तुत नहीं किया गया है।

## 26.2 मुगलकालीन भारत की जनसंख्या का आकलन

लगभग 1601 ई0 से 1872 ई0 तक के भारत का निश्चित जनसांख्यिकी आंकड़ा प्राप्त करना लगभग असंभव है पर इसे जाने बिना कई पहलुओं पर प्रकाश नहीं डाला जा सकता है। जनसांख्यिकी तत्व को नजरअंदाज कर आर्थिक इतिहास के किसी भी चरण का अध्ययन नहीं किया जा सकता है। आधुनिक समाजों के आविर्भाव के पहले जनसंख्या विकास को अक्सर आर्थिक विकास का सूचकांक माना जाता था। अत: विभिन्न प्रकार के उपलब्ध आंकड़ों की सहायता से 1601 ई. में भारतीय जनसंख्या का आकलन आवश्यक है।

NMDC-268

## 26.2.1 कृषि के अधीन भूमि के आधार पर

मोरलैंड ने **आइन-ए-अकबरी** में दिए गए आंकड़ों के आधार पर जनसंख्या के आकलन का पहला प्रयास किया। **आइन** में दिए गए आंकड़ों के आधार पर उसने उत्तर भारत की जनसंख्या निर्धारित करने का प्रयत्न किया। इसमें **आराजी** (नापा गया इलाका) का आंकड़ा दिया हुआ है जिसे वह बोई हुई (फसल की) कुल भूमि के रूप में मानता है। इस **आराजी** को मोरलैंड फसल के आधीन कुल भूमि के रूप में देखता है। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में कुल खेती की जाने वाली भूमि की तुलना वह **आइन** की **आराजी** से करता है। उसने इन दोनों कालों के बीच (1600 और 1900) जनसंख्या के प्रसार और खेती के प्रसार के बीच एक निश्चित और स्थिर संबंध को माना। उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर उसने निष्कर्ष निकाला के 16वीं शताब्दी के अंत में "मुल्तान से मुंगेर तक" 3 से 4 करोड़ लोग रहते थे।

## 26.2.2 नागरिक : सैनिक अनुपात के आधार पर

दक्खन और दक्षिण भारत की जनसंख्या का पता लगाने के लिए मोरलैंड ने विजयनगर साम्राज्य और दक्खनी सल्तनतों के सैन्य बल को आधार बनाया। उन्होंने मनमाने ढंग से सैनिकों और नागरिकों की जनसंख्या का अनुपात 1 : 30 तय कर लिया। उन्होंने इस आधार पर उस समय की जनसंख्या 3 करोड़ बताई। स्वतंत्रता से पूर्व भारत की सीमा में पड़ने वाले कुल क्षेत्रों की जनसंख्या का आकलन करते हुए उन्होंने बताया है कि अकबर के शासनकाल में 1600 ई. में मुगल साम्राज्य के क्षेत्रों की जनसंख्या 6 करोड़ और कुल भारत की जनसंख्या 10 करोड़ थी।

ये आकलन काफी हद तक स्वीकार किए गए। इसके बावजूद मोरलैंड की आधारभूत मान्यताओं और उसके आंकड़ों पर प्रश्न चिह्न लगाया गया। उत्तरी भारत की जनसंख्या का आकलन करते हुए उन्होंने दो पूर्व धारणाओं का सहारा लिया : (क) केवल खेती की गई भूमि को मापा गया था, और (ख) सभी क्षेत्रों में यह कार्य मुगल प्रशासन द्वारा पूरा कर लिया गया था और इससे संबंधित आंकड़े भी उपलब्ध हैं।

परन्तु ग्रंन्थों और सांख्यिकी प्रमाण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **आइन** में उल्लिखित **आराजी** वह इलाका था जिसे राजस्व के उद्देश्य से मापा गया था। इसमें नहीं जोती जाने वाली जमीन, और कुछ खेती योग्य और खेती न करने के योग्य खाली भूमि बंजर भूमि को भी शामिल किया गया है। इसके अलावा सब जगह भूमि की माप संपन्न नहीं हुई थी।

उपरोक्त तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि उत्तर भारत की जनसंख्या के संबंध में मोरलैंड के आकलन की साख काफी कम हो गई। दक्खन और दक्षिण भारत के संदर्भ में भी इसका आधार कमजोर है। सैनिक : नागरिक अनुपात का आधार न केवल मनमाना है बल्कि उस पर भरोसा भी नहीं किया जा सकता है। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व फ्रांस और जर्मनी के सैनिक : नागरिक अनुपात को आधार बनाना असंगत है। आधुनिक राज्यों और अर्थव्यवस्था में सैनिक : नागरिक अनुपात आगे पीछे होता रहता है। इनके आधार पर उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों के आधुनिक काल से पहले के सैनिक : नागरिक के विभिन्न अनुपातों की सीमा को किसी भी प्रकार निर्धारित नहीं किया जा सकता है। इसके अलावा मोरलैंड ने दक्खनी राज्यों की सैनिक संख्या का पता लगाने के लिए यूरोपीय यात्रियों के आम वक्तव्यों को आधार बनाया है।

इसके अलावा मोरलैंड ने इन दो क्षेत्रों से बाहर पड़ने वाले इलाकों की जनसंख्या को कम आंका। उत्तर भारत तथा दक्खन के अलावा अन्य क्षेत्रों की जनसंख्या को सही ढंग से आंकते हुए किंग्सले डेविस ने अपनी पुस्तक, **पॉपुलेशन ऑफ इंडिया एंड पाकिस्तान** में मोरलैंड द्वारा पूरे भारत की जनसंख्या के आकलन को बढ़ाकर 12 करोड़ 50 लाख कर दिया। आनुपातिक दृष्टि से जनसंख्या में दिखाई गई यह बढ़ोत्तरी सही लगती है पर इसमें भी मोरलैंड द्वारा अपनाए गए तरीकों की आधारभूत कमियां दूर नहीं होती है।

मोरलैंड के आकलन पर कई प्रकार की आपत्तियों के बावजूद अभी भी जनसंख्या मालूम करने के लिए कई विद्वान खेती के विस्तार को ही आधार बना रहे हैं। **आइन** में **आराजी** के आंकड़ों से 1601 ई. में खेती की जाने वाली भूमि का अंदाजा लगाया जा सकता है।

NMDC-268

**आराजी** में शामिल खेती योग्य और खेती अयोग्य बंजर भूमि को नजर में रखते हुए और मुगल साम्राज्य के विभिन्न भागों में की गई माप के विस्तार को स्थापित करती हुई शीरीन मुसवी अपनी पुस्तक **इकानॉमी ऑफ द मुगल अम्पायर** में लिखती है कि 1601 ई. में मुगल शासन काल में 1909-10 ई. के मुकाबले खेती योग्य जमीन के 55 प्रतिशत हिस्से पर ही खेती होती थी।

इरफान हबीब ने अपने विश्लेषण द्वारा इस आकलन को और भी मजबूती प्रदान की। उन्होंने 17वीं शताब्दी और 1881 ई. में साम्राज्य के विभिन्न प्रांतों के गांवों के आकार और संख्या की तुलना की। इरफान हबीब के अनुसार 17वीं शताब्दी के दौरान 1900 ई. की अपेक्षा आधी से अधिक पर दो तिहाई से कम भूमि पर खेती होती थी।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर शीरीन मुसवी निम्नलिखित तीन धारणाएं स्थापित करती हैं :

i) वर्तमान शताब्दी के प्रथम दशक की तुलना में 1601 ई. में कुल 50 से 55 प्रतिशत खेती की जाती थी।

ii) कुल जनसंख्या का 15 प्रतिशत शहरों में और 85 प्रतिशत गांवों में रहता था।

iii) 1901 ई. की तुलना में 1601 ई. में औसत कृषि जोत का आकार 107 प्रतिशत ज्यादा था।

उनके अनुसार 17वीं शताब्दी के दौरान भारत की जनसंख्या 14 करोड़ से 15 करोड़ तक के बीच थी।

## 26.2.3 कुल और प्रति व्यक्ति भू-राजस्व के आधार पर

अशोक वी. देसाई ने भी जनसंख्या का पता लगाने के लिए विभिन्न आंकड़ों का सहारा लिया है। इसके लिए उपयोग में लाई जाने वाली पूर्वधारणाएं जटिल हैं। देसाई ने निम्नतर शहरी मजदूर की क्रय शक्ति की तुलना पहले **आइन** में दिए गए मूल्य और मजदूरी के आधार पर की है और फिर 1960 ई. के आरंभ में अखिल भारतीय औसत मूल्य और मजदूरी के आधार पर की है। अबुल फजल द्वारा बताई गई उपज और फसल की दर के आधार पर अकबर के शासनकाल में खाद्यान्न की कुल खपत का अंदाजा लगाया गया जो 1960 ई. में होने वाली खपत का पाँचवा हिस्सा थी (उस समय अधिक उपज के क्षेत्र में ही खेती केन्द्रित थी)। उनके अनुसार 1961 ई. की तुलना में 1595 ई. में प्रति इकाई उत्पादकता 25 से 30 प्रतिशत ज्यादा थी। इसी के आधार पर उन्होंने कृषि में प्रति मजदूर उत्पादकता का पता लगाया जो उनकी गणना के अनुसार 1961 ई. की तुलना में 1595 ई. में दुगनी थी।

1960 के दशक में उपभोग की सांख्यिकी को आधार बनाते हुए देसाई ने 1595 ई. के उपभोग स्तर का अनुमान लगाया। उनके अनुसार आधुनिक स्तर पर यह 14 और 18 गुना अधिक पड़ता है। इसके बाद वह 16वीं शताब्दी के दौरान प्रत्येक प्रमुख कृषि उत्पादों का अलग-अलग औसत उपभोग बताता है।

इन आंकड़ों और अन्य आधुनिक आंकड़ों की सहायता से देसाई ने विभिन्न फसलों के प्रति व्यक्ति क्षेत्र का पता लगाया जिसे बाद में राजस्व दरों से गुणा किया और इससे प्रति व्यक्ति भू-राजस्व का आकलन किया गया।

कुल **जमा** (जिसे देसाई कुल भू-राजस्व मानते हैं) को इस आंकलित प्रति व्यक्ति राजस्व से विभाजित करके देसाई ने साम्राज्य की जनसंख्या 6 करोड़ 50 लाख आंकलित की। यह संख्या मोरलैंड के आकलन की पुष्टि करती है।

एलेन हेस्टन और शीरीन मूसवी ने देसाई की धारणाओं और विधि की आलोचना की है। हेस्टन की मुख्य आपत्ति इस बात को लेकर है कि 1595 ई. की उपज को बढ़ा चढ़ाकर आंकलित किया गया है। शीरीन मूसवी को कुछ अन्य मुद्दों पर गंभीर आपत्ति है। उनकी आपत्ति इस बात पर है कि 16वीं शताब्दी के आंकड़ों के साथ तुलना करने के लिए अखिल भारतीय आधुनिक सांख्यिकी का उपयोग किया गया है। **आइन** में उल्लिखित मूल्य और मजदूरी केन्द्रीय (मुगल शिविर में प्रचलित मूल्य) दृष्टिकोण से

प्रस्तुत किए गए हैं और आगरा (तथा संभवत: लाहौर) के लिए प्रयुक्त होते थे। अत: आधुनिक अखिल भारतीय स्तर से इनकी तुलना उपयुक्त नहीं होगी। इसी प्रकार **आइन** में दी गयी मानक फसल दर या तो शेरशाह की राजधानी दिल्ली के आस पास के इलाके पर लागू होती थी या ज्यादा से ज्यादा **दस्तूर उल अमल** (राजस्व दरों की तालिका) वाले इलाकों जैसे उत्तर प्रदेश, हरियाणा और पंजाब पर इसे लागू माना जा सकता है। अत: इनकी तुलना अखिल भारतीय उपज से नहीं की जा सकती है। इसके अलावा देसाई ने साम्राज्य की कुल **जमा** को अनुमानित प्रति व्यक्ति भूमि कर से विभाजित किया है और **जब्त** प्रांतों (नगद राजस्व वसूलने वाले इलाके) और अन्य इलाकों में अंतर स्थापित नहीं किया है जहां कर प्रणाली का स्तर बिल्कुल भिन्न था। उनकी इस मान्यता में भी सुधार की आवश्यकता है कि **जमा** कुल राजस्व के बराबर थी। जबकि जैसाकि हम इकाई 15 में पढ़ चुके हैं यह (**जमा**) वह अनुमानित आय थी जो **जागीरदारों** को अनुदान में मिले अपने क्षेत्रों से प्राप्त करनी होती थी।

इसके अलावा अकबर कालीन भारत के उपभोग के स्तर की तुलना 1960 ई. के दशक से नहीं की जा सकती है क्योंकि मुगल साम्राज्य मुख्य रूप से गेहूं उपभोग क्षेत्र में ही केन्द्रित था और 1595 ई. में तिलहन की खपत संभवत: इतनी ज्यादा नहीं हो सकती थी जितना 1960 ई. में थी।

शीरीन मूसवी देसाई द्वारा सुझाई गई आधारभूत पद्धति का ही उपयोग करती है पर देसाई की पद्धति पर उठाई गई आपत्तियों के निवारण के लिए वे 1870 ई. के आधार में सुधार करती हैं। वे 1860-70 ई. के उपलब्ध आंकड़ों का इस्तेमाल तुलना और निर्देशात्मकता के लिए करती हैं : पहले वे अकबर कालीन भारत के पांच **जब्त** प्रांतों की जनसंख्या मालूम करती हैं और फिर पूरे अनुपात के आधार पर पूरे मुगल साम्राज्य की जनसंख्या निकालती हैं और फिर इसे अखिल भारतीय स्तर पर जनसंख्या मालूम करने के लिए लागू करती हैं। उनके अनुसार 1601 ई. से जनसंख्या समान रही। उनके अनुसार अकबर के शासनकाल में अकबर के साम्राज्य की जनसंख्या 10 करोड़ थी और पूरे भारत (1947 ई. से पहले के भारत की सीमा के आधार पर) की जनसंख्या 14 करोड़ 50 लाख थी।

**बोध प्रश्न 1**

i) मुगल साम्राज्य की जनसंख्या के आकलन के लिए मोरलैंड की पद्धति के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों पर विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) मुगलेकालीन भारत की जनसंख्या मालूम करने के लिए देसाई द्वारा अपनाई गई पद्धति का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 26.3 जनसंख्या वृद्धि की औसत दर

अगर हम यह मान लें कि 1601 ई. में भारत की जनसंख्या 14 करोड़ 50 लाख और 1871 ई. में 22 करोड़ 50 लाख (1872 ई. की जनगणना तथा इसमें जिन क्षेत्रों को शामिल नहीं किया गया था उनके लिए डेविस द्वारा की गई गणना के आधार पर) थी तो 1601 और 1872 ई. के बीच प्रति वर्ष वृद्धि की

दर 0.21 प्रतिशत होगी। 1601ई. और 1872 ई. की जनसंख्या और औसत वृद्धि दर के आधार पर 1801 ई. में जनसंख्या 21 करोड़ के आस पास रही होगी। इस आकलन में एक प्रकार की संगतता है और 1801 के लिए सबसे ज्यादा मान्य आंकड़ा है। विभिन्न गणनाओं और तर्कों का इस्तेमाल कर इस वर्ष की जनसंख्या को 19 करोड़ 80 लाख से 20 करोड़ 70 लाख के बीच ही बताया गया है।

19वीं शताब्दी (1872-1901 ई.) के अंतिम तीन दशकों में जनसंख्या वृद्धि दर प्रति वर्ष 0.37 प्रतिशत थी। यह दर 1601-1801 ई. के लम्बे काल के लिए हमारे द्वारा की गई गणना से ऊँची है पर यह भी अपने आप में बहुत ज्यादा ऊंची दर नहीं है।

## 26.3.1 समकालीन यूरोप से तुलना

नीचे यूरोपीय देशों की जनसंख्या की विकास दर प्रस्तुत की जा रही है। इसे यूरोपीय आर्थिक इतिहास के एक प्रमुख ग्रंथ से उद्‌धृत किया गया है :

| | 1600-1700 |
|---|---|
| स्पेन और पुर्तगाल | 0.12 |
| इटली | 0.00 |
| फ्रांस | 0.08 |
| ग्रेट ब्रिटेन | 0.31 |
| जर्मनी | 0.00 |
| स्वीटजरलैंड | 0.18 |
| रूस | 0.12 |
| कुल | 0.10 |

इन आंकलनों को देखने से पता चलता है कि यूरोप में भी मुगलकालीन भारत की तरह जनसंख्या वृद्धि की दर कम थी। पर 0.21 प्रतिशत की वृद्धि से पता चलता है कि उस समय एक ऐसी अर्थव्यवस्था कायम थी जिसके तहत "राष्ट्रीय बचत" की जा सकती थी और खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाया जा सकता था, हालांकि इसकी गति काफी कम थी। इस धीमी गति के कारण अकाल जैसे प्राकृतिक प्रकोप के साथ-साथ मनुष्य निर्मित समस्यायें (अधिक राजस्व की मांग एक कारण हो सकता है) भी थी। अगर हमारे पास 1650 ई. या 1700 ई. या उसके आसपास के किसी वर्ष की जनसंख्या का अनुमान लगाने के लिए आंकड़े उपलब्ध होते तो लघु अवधि की जनसंख्या वृद्धि दर का पता लगाया जा सकता था और उन वर्षों में मुगल अर्थव्यवस्था की कार्य क्षमता का अंदाजा लगाया जा सकता था। इन आंकलनों से यह जानने में भी मदद मिल सकती कि 17वीं शताब्दी और 18वीं शताब्दी में जनसंख्या वृद्धि के कारण आर्थिक व्यवस्था में कोई खास बदलाव आया या नहीं। लेकिन दुर्भाग्यवश इस प्रकार का कोई भी आंकड़ा मौजूद नहीं है।

## 26.3.2 वृद्धि दर के प्रभाव

1601-1801 ई. के बीच जनसंख्या में 0.2 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर के आधार पर हम कई रोचक निष्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं। अगर जनसंख्या वृद्धि को पूंजीवादी व्यवस्था से पहले की अर्थव्यवस्था की क्षमता का सूचकांक मान लिया जाए तो मुगल अर्थव्यवस्था को स्थिर या निश्चल नहीं माना जा सकता है क्योंकि दो सौ वर्षों में जनसंख्या की वृद्धि 36 से 44 प्रतिशत के बीच होने का अनुमान है। डेविस का मानना है कि 1601-1801 ई. के दो सौ वर्षों के बीच जनसंख्या 12 करोड़ 50 लाख पर स्थिर रही। इस शून्य वृद्धि दर के सिद्धान्त की जमकर आलोचना हुई।

NMDC-268

## 26.4 ग्रामीण और शहरी जनसंख्या का संघटन

यहां भी शहरी जनसंख्या के लिए कोई निश्चित आंकड़ा उपलब्ध नहीं है। इरफान हबीब ने कृषि उत्पादों के उपभोग की पद्धति के आधार पर शहरी जनसंख्या का अनुमान लगाया है। मुगल शासक वर्ग कुल कृषि उत्पाद का आधा हिस्सा भू-राजस्व के रूप में अपने कब्जे में ले लेता था पर यह सम्पूर्ण राजस्व गांवों से बाहर नहीं जाता था। उनके अनुमान के अनुसार इसका लगभग एक चौथाई कृषि उत्पाद ही शहर जाता था। उनका यह भी मानना है कि शहरों में कृषि उत्पादों का कच्चे माल के रूप में अधिक उपभोग होता था। इस आधार पर उन्होंने बताया है कि शहरों की जनसंख्या कुल जनसंख्या का लगभग 15 प्रतिशत थी।

### विभिन्न शहरों की आकलित जनसंख्या

अपनी पुस्तक **तबकात ए अकबरी** (लगभग 1593 ई.) में निजामुद्दीन अहमद ने बताया है कि अकबर के शासनकाल में 120 बड़े शहर और 3200 छोटे शहर या कस्बे थे। अकबर के साम्राज्य की कुल जनसंख्या 10 करोड़ थी और 15 प्रतिशत जनसंख्या शहरों में रहती थी। इस प्रकार 3200 शहरों में औसतन 5000 लोग रहते होंगे। हालांकि मुगल साम्राज्य में कुछ शहर काफी बड़े थे। यूरोपीय यात्रियों ने कुछ मुख्य शहरों की जनसंख्या इस प्रकार बताई है:

| शहर | वर्ष | आंकलन |
|---|---|---|
| आगरा | 1609 | 500,000 |
| दिल्ली | 1659-66 | 500,000 |
| लाहौर | 1581 | 400,000 |
| थट्टा | 1631-35 | 225,000 |
| अहमदाबाद | 1663 | 100,00-200,000 |
| सूरत | 1663 | 200,000 |
| पटना | 1631 | 200,000 |
| ढाका | 1630 | 200,000 |
| मसूलीपट्टम | 1672 | 200,000 |

### बोध प्रश्न 2

1) मुगल साम्राज्य की जनसंख्या वृद्धि की दर पर टिप्पणी लिखें और बताएं कि क्या यह मुगल अर्थव्यवस्था की स्थिरता का द्योतक है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) मुगलकालीन भारत की शहरी जनसंख्या की प्रकृति पर विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

NMDC-268

## 26.5 सारांश

मुगलकालीन भारत की जनसंख्या का विश्लेषण करने में मोरलैंड का योगदान महत्वपूर्ण है। उस समय की जनसंख्या का पता लगाने के लिए उसने व्यक्ति : भूमि और नागरिक : सेना के अनुपात को आधार बनाया। पर उसकी पद्धति में दो खामियां थी :

1) अकबर के जमाने में माप पूर्ण नहीं हुई थी।

2) दक्खनी राज्यों के सैनिक : नागरिक अनुपात के विश्लेषण के लिए आधुनिक राज्यों को आधार बनाया गया।

अशोक देसाई ने औसत मूल्य और मजदूरी को आधार बनाया और इस आधार पर उसने अकबर के शासनकाल में विभिन्न फसलों का प्रति व्यक्ति क्षेत्र मालूम किया और प्रति ब्यक्ति भू-राजस्व मालूम करने के लिए उसे चालू राजस्व दरों से विभाजित किया और पुन: इस प्रति व्यक्ति राजस्ब को अकबर कालीन जमा से विभाजित किया। इससे मुगल साम्राज्य की कुल जनसंख्या का पता लगाया। पर इस प्रविधि पर भी विद्वानों ने प्रश्न चिन्ह लगाया। इन आपत्तियों से बचने के लिए शीरीन मुसवी ने इस प्रविधि में कुछ सुधार किया। उन्होंने अकबर के साम्राज्य की जनसंख्या 10 करोड़ और पूरे भारत की जनसंख्या 14 करोड़ 50 लाख बताई। एक रोचक तथ्य यह है कि मुगल कालीन भारत की जनसंख्या की विकास दर की समकालीन यूरोप के देशों की जनसंख्या वृद्धि दर से तुलना करने पर पता चलता है कि भारत की जनसंख्या वृद्धि दर उनसे कम नहीं थी। अत: भारतीय अर्थव्यवस्था को पूरी तरह स्थिर नहीं कहा जा सकता है।

## 26.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) देखिए उपभाग 26.2.2 । बताइए कि मोरलैंड ने जनसंख्या का पता लगाने के लिए व्यक्ति : भूमि और सैनिक : नागरिक के अनुपात को आधार बनाया था। पर इसकी प्रविधि में काफी खामियां हैं। इनका आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

2) देखिए उपभाग 26.2.3 । जनसंख्या मालूम करने के लिए अशोक देसाई द्वारा अपनाई गई प्रविधि का उल्लेख कीजिए और विद्वानों द्वारा उठाई गई आपत्तियों का उल्लेख कीजिए।

**बोध प्रश्न 2**

1) देखिए उपभाग 26.3.1 और 26.3.2 । 17वीं शताब्दी के दौरान भारत की जनसंख्या वृद्धि दर की तुलना यूरोप के देशों की जनसंख्या वृद्धि के साथ कीजिए। विश्लेपण करके बताइए कि किसी भी स्थिति में अर्थव्यवस्था जड़ नहीं थी। यह जनसंख्या वृद्धि विकासशील अर्थव्यवस्था का द्योतक है।

2) देखिए भाग 26.4 ।

NMDC-268

# इकाई 27 ग्रामीण वर्ग तथा जीवन शैली

## इकाई की रूपरेखा


27.0 उद्देश्य
27.1 प्रस्तावना
27.2 ग्रामीण समाज की संरचना
27.3 जीवन स्तर
  27.3.1 वस्त्र
  27.3.2 रहन-सहन और आवास
  27.3.3 खान-पान
27.4 सामाजिक जीवन
  27.4.1 पारिवारिक जीवन
  27.4.2 सामाजिक संस्थाऐं एवं रीति-रिवाज
  27.4.3 त्यौहार और मनोरंजन
27.5 सारांश
27.6 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 27.0 उद्देश्य

परम्परागत रूप से भारत एक कृषि प्रधान देश है तथा इसकी अधिकांश जनसंख्या गांवों में निवास करती है। इसलिए भारतीय समाज की जानकारी प्राप्त करने के लिए ग्रामीण वर्गों का अध्ययन आवश्यक है। इस इकाई के अध्ययन से आपको निम्नलिखित बातों की जानकारी होगी :

- 16वीं से 18वीं शताब्दी के बीच गांवों में निवास करने वाले वर्गों की;
- उनकी जीवन शैली तथा जीवन यापन के स्तर की; और
- ग्रामीण क्षेत्रों की सामाजिक संस्थाओं और प्रथाओं की।

## 27.1 प्रस्तावना

भारत एक ग्रामप्रधान देश है। आज भी इसकी अधिकांश जनसंख्या गांवों में निवास करती है। भारत में आज की तुलना में मध्यकाल में गांवों में निवास करने वाली जनसंख्या निश्चित ही अधिक रही होगी क्योंकि औद्योगिक उत्पादन केवल कारीगर उत्पादों और हस्तशिल्प तक सीमित था तथा अधिकांश जनसंख्या के लिए रोजगार का प्रमुख स्रोत कृषि उत्पादन ही था। अब प्रश्न यह उठता है कि उस समय के गांवों में रहन-सहन की पद्धति क्या थी ? इस बड़े निम्नलिखित प्रश्न पर विचार करने से निम्नलिखित प्रश्न सामने आते हैं :

- क्या ग्रामीण समाज समरूप था, या विभिन्न वर्गों से मिलकर बना था ?
- इस समाज में उत्पादन का संगठन क्या था? इस समाज के अंतर्संबंधों की प्रकृति क्या थी ?

इस इकाई में हम उपरोक्त प्रश्नों की चर्चा 16वीं से 18वीं शताब्दी के मध्य हुए विकास के परिप्रेक्ष्य में करेंगे।

NMDC-268

## 27.2 ग्रामीण समाज की संरचना

जैसा कि आपने ऊपर पढ़ा भारतीय समाज की आधारभूत इकाई गांव था। एक गांव की निम्नलिखित प्रमुख विशेषतायें थी :

प्रत्येक गांव परिवारों के एक समूह से मिलकर बनता था, जिनमें अपने रहने के लिए घर और कृषि योग्य भूमि के स्वामित्व के प्रश्न पर हम पहले ही खंड 5 की इकाई 17 में चर्चा कर चुके हैं। गांवों के अधिकांश निवासी किसान थे। ग्रामीण जनसंख्या में कृषक एक ऐसा वर्ग था जिसके उत्पादन पर सभी ग्रामीण वर्गों (साथ ही शहरी भी) का अस्तित्व निर्भर था। यह कृषक वर्ग सामाजिक प्रतिष्ठा और धन के असमान वितरण के आधार पर वर्गों में बंटा हुआ था। धनी किसान (जैसे **खुद काश्त, घरूहल** और **मिरासदार**) तथा निर्धन किसान (**रेजारिआया, पाल्ती** तथा **कुन्बी**) में बंटे थे। गांव में निवास के आधार पर गांव के स्थायी निवासी (**मिरासदार, थलकर**) तथा अस्थायी निवासियों **पाईकाश्त, ऊपरी** में विभाजित थे। जातीय तथा गोत्रीय संबंधों के आधार पर भी कृषक समाज में विभाजन थे।

गांवों में कृषकों के अतिरिक्त कारीगर और कामगार तथा मजदूर समुदायों की एक बड़ी संख्या भी निवास करती थी। ग्रामीण समाज के इन समुदायों में बुनकर, कुम्हार, लोहार, बढ़ई, नाई, तथा धोबी प्रमुख थे। यह समुदाय ग्रामीण समाज में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। अक्सर यह कृषि उत्पाद में मजदूर के रूप में भी कार्य करते थे।

गांवों में कृषकों के ऊपर ग्रामीण जनसंख्या का एक अन्य वर्ग निवास करता था, जो भू-राजस्व में विशेष उच्चाधिकार रखता था, इन्हें **जमींदार** के नाम से जाना जाता था। इस वर्ग के लोग कुल कृषि उत्पादन में से एक भाग प्राप्त करते थे। इस वर्ग के संघठन और विशेषाधिकारों के विषय में आप खंड 5 की इकाई 17 में विस्तार से पढ़ चुके हैं। यहां केवल यह बताना पर्याप्त होगा कि मध्यकालीन शासकों ने इस ग्रामीण वर्ग (**जमींदार**) को राजस्व वसूली के लिए राज्य के सहायक के रूप में स्वीकार किया था। इस सेवा के बदले इन **जमींदारों** को वसूले हुए राजस्व में से एक निश्चित भाग प्राप्त करने का अधिकार था। एक सामाजिक वर्ग के रूप में **जमींदार** भी जातीय और स्थानीय संबंधों के आधार पर विभाजित थे।

## 27.3 जीवन स्तर

मध्यकालीन भारत का ग्रामीण समाज वर्गों में बंटा हुआ था। अत: एक ही गांव की जनसंख्या में भी काफी असमानतायें थी। हमारे स्रोत इन असमानताओं की अधिक जानकारी नहीं देते और ग्रामीण समाज को एक समरूपी इकाई के रूप में देखते हैं। इस भाग में हम उस काल के स्रोतों में उपलब्ध सीमित संदर्भों के आधार पर तत्कालीन ग्रामीण समाज के विभिन्न पक्षों पर विचार करेंगे।

### 27.3.1 वस्त्र

मुगल काल में ग्रामवासियों के पास सीमित वस्त्रों की उपलब्धता उनकी गरीबी का प्रमाण है। ग्रामवासियों के वस्त्रों की चर्चा करते हुए बाबर कहता है कि वे अपने शरीर के मध्य भाग को सिर्फ एक कपड़े (लूंगी) से ढकते हैं। अन्य यूरोपीय यात्री भी इसकी पुष्टि करते हैं परन्तु साथ में यह जानकारी भी मिलती है कि जाड़े के मौसम में वे रूई भरे ढीले कोटनुमा वस्त्र तथा टोपी भी पहनते थे।

महिलायें अधिकांशत: सूती साड़ी पहनती थीं। ब्लाऊज में कई प्रकार की क्षेत्रीय विभिन्नतायें थीं। मालाबार के इलाके में महिलायें (तथा पुरुष भी) कमर के ऊपर कुछ नहीं पहनती थीं। पूर्वी भारत में भी ब्लाऊज नहीं पहना जाता था। परन्तु कुछ अन्य क्षेत्रों में ग्रामीण स्त्रियां चोली या अंगिया पहनती थीं। कुछ पश्चिमी और मध्य क्षेत्रों में स्त्रियां साड़ी के स्थान पर लहंगा और शरीर के ऊपरी भाग में ब्लाऊज पहनती थीं।

NMDC-268

ग्रामीण वर्गों में पांव में जूते पहनने का रिवाज लगभग नहीं था। संभवत: केवल गांव के धनी वर्ग ही जूते पहनते थे। इतिहासकार सतीश चन्द्र हिन्दी कवियों, सुरदास और तुलसीदास की कृतियों के आधार पर बताते हैं कि शायद जूते के लिए **पनही** और **उपनाहा** शब्द का प्रयोग होता था (**कैम्ब्रिज इक्नॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया**, खंड 1, पृ. 460)।

## 27.3.2 रहन-सहन और आवास

ग्रामीण जनसंख्या का अधिकांश भाग मिट्टी के बने तथा फूस की छतों वाले घरों में रहता था। सामान्यत: यह एक कमरे वाले घर होते थे। पेल्सर्ट नामक डच यात्री ने, जो जहांगीर के काल में भारत आया था, ग्रामीण घरों का सजीव चित्रण किया है। नीचे उसका विवरण दिया जा रहा है :

> "उनके (ग्रामवासियों के) घर मिट्टी के बने हुए हैं जिन पर फूस की छत है। घरों में फर्नीचर नहीं या बहुत कम हैं। कुछ थोड़े से मिट्टी के बर्तन होते हैं, जिनमें पानी रखा जाता है और खाना पकाते हैं। केवल दो पलंग होते हैं। एक पुरुष के लिए और दूसरा स्त्री के लिए ..... बिस्तर के नाम पर केवल एक या दो चादरें होती हैं जो ओढ़ने और बिछाने दोनों के काम आती हैं। गर्मी के मौसम में तो इनसे काम चल जाता है परन्तु जाड़े की ठंडी रातें अत्यंत कष्टदायक होती हैं। जाडों में स्वयं को गर्म रखने के लिए दरवाजे के बाहर गोबर के कंडे जलाते हैं क्योंकि घरों के अंदर आग जलाने के लिए आतिशदान ओर चिमनी नहीं होते हैं। (**फ्रेंकोस, पेल्सर्ट, जहांगीर्स इंडिया,** अनुवाद डब्लू. एच. मोरलैंड तथा पी. गेल, दिल्ली, 1925)।"

स्थानीय वस्तुओं और सामान की प्राप्ति के आधार पर ग्रामीण घरों में काफी क्षेत्रीय भिन्नतायें होती थीं। बंगाल में झोंपड़ी बनाने के लिए बांसों और आसाम में लकड़ी, बांसों और फूस का प्रयोग किया जाता था। कश्मीर में लकड़ी के घर बनते थे। उत्तर और मध्य भारत में घर बनाने का प्रमुख सामान मिट्टी और भूसे का मिश्रण था। दक्षिण में झोंपड़ियां बनाने के लिए ताड़ की पत्तियों का प्रयोग होता था। जहां एक ओर गरीबों के घरों में उनके पशु और वे स्वयं एक साथ रहते थे वहीं दूसरी ओर गांव के धनी वर्ग कई कमरों वाले पक्के घरों में रहते थे। इन घरों में कई कमरों के अतिरिक्त अनाज रखने के लिए अलग स्थान और चार दीवारी से घिरे आँगन भी होते थे।

## 27.3.3 खान-पान

भारत के अधिकांश भागों में अधिकतर जनसंख्या का नियमित भोजन चावल, ज्वार, बाजरा और दालें थी। पेल्सर्ट के अनुसार "ये लोग मांस के स्वाद के विषय में बहुत कम जानते हैं।" जिन क्षेत्रों में धान प्रमुख फसल थी वहां की ग्रामीण जनता का प्रमुख भोजन चावल था। ऐसे क्षेत्रों में बंगाल, उडीसा, सिंध, कश्मीर, असम और दक्षिण भारत के अधिकांश भाग थे। इसी प्रकार राजस्थान और गुजरात के क्षेत्रों में ज्वार और बाजरा ज्यादा होने की वजह से यहां की ग्रामीण जनता ज्वार और बाजरा का प्रयोग खाने में करती थी। सतीश चन्द्र के अनुसार "ऐसा प्रतीत होता है कि आगरा और दिल्ली के प्रमुख गेंहूँ उत्पादक क्षेत्रों में भी गेंहूँ आम जनता का मुख्य भोजन नहीं था।"

ग्रामीण जनता अनाज के अतिरिक्त फलियों और सब्जियों का भी सेवन करती थी। बंगाल और उड़ीसा के तटीय क्षेत्रों में मछली काफी लोकप्रिय थी। परन्तु गोमांस का सेवन अच्छा नहीं समझा जाता था। गांव के अत्यधिक निर्धन वर्ग के लोगों को उबले चावल, मोटे अनाज और घास-पात पर ही निर्भर रहना पड़ता था। अधिकांश ग्रामीण जनसंख्या अधिकतर दिन में केवल एक बार ही नियमित भोजन करती थी। साधारणतया यह सुबह या दोपहर में होता था। संध्या के समय केवल कुछ हल्का फुल्का खाने को मिलता था।

विशेष ध्यान देने की बात है कि अधिकांशतया उत्तर भारत, बंगाल और पश्चिम भारत में भोजन में घी का नियमित प्रयोग होता था। प्रसिद्ध बंगाली कवि मुकुंदराम दही, दूध और खांड (गुड़) से बनने वाले कई

NMDC-268

स्वादिष्ट खाने की वस्तुओं का वर्णन करता है जो गरीब लोग विवाह या अन्य उत्सवों पर खा पाते थे। गांवों में गुड़ का उपयोग आमतौर पर होता था।

**बोध प्रश्न 1**

1) मध्यकालीन भारत में ग्रामीण समाज की संरचना की विवेचना कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) मध्यकालीन भारत के ग्रामीण समाज के जीवन स्तर का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 27.4 सामाजिक जीवन

भारतीय गांवों के सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालने वाले स्रोतों की कमी है। समकालीन साहित्य में उपलब्ध कुछ संदर्भों तथा कुछ ऐतिहासिक स्रोतों में मिली जानकारी के आधार पर मध्यकालीन गांवों के सामाजिक जीवन की रूपरेखा तैयार की जा सकती है।

### 27.4.1 पारिवारिक जीवन

आप जानते ही होंगे कि परंपरागत रूप से भारत के घरेलू जीवन की एक महत्वपूर्ण संस्था संयुक्त परिवार है। एक कृषक के लिए परिवार में अधिक सदस्यों का तात्पर्य कृषि उत्पादन में सहयोग देने वाले अतिरिक्त हाथ थे जो आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था। पारिवारिक जीवन की कुछ प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार थीं :

- भारत के अधिकांश भागों में परिवार पितृसत्तात्मक थे।
- सबसे अधिक आयु का पुरुष ही परिवार का प्रमुख माना जाता था।
- परिवार के अंदर विभिन्न सदस्यों का सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार नहीं माना जाता था। सदस्यों को अपनी गुजर-बसर के लिए सम्पत्ति की आय में से एक हिस्सा मिलता था।
- सामान्यत: परिवार की महिला सदस्यों को पुरुषों की आज्ञाओं का पालन करना होता था।
- परिवारों में कन्या की तुलना में पुत्र जन्म को अधिक महत्व दिया जाता था। सभी पुत्रों में सबसे बड़े पुत्र को अधिक महत्व प्राप्त था।

कुल मिलाकर परिवार-व्यवस्था ने एक दूसरे के साथ सहयोग की भावना और आपसी निर्भरता को विकसित किया। इससे एक विशेष प्रकार की भावना का उदय हुआ कि एक दूसरे के सहयोग के बिना जीवन कठिनाइयों से भरा होगा।

NMDC-268

## 27.4.2 सामाजिक संस्थायें एवं रीति-रिवाज

ग्रामीण समाज में विवाह सबसे महत्वपूर्ण संस्था थी। पुत्र और पुत्रियों के विवाह का उत्तरदायित्व मुख्यत: मां-बाप पर था। विवाह की कोई निर्धारित आयु नहीं थी परन्तु कम उम्र में विवाह करने को पसंद किया जाता था। अबुल फजल के कथन के अनुसार अकबर ने विवाह के लिए एक निश्चित आयु निर्धारित की जो लड़कों के लिए 16 और लड़कियों के लिए 14 वर्ष थी (**आइन-ए अकबरी**, अनुवाद एच. ब्लॉकमैन, भाग 1, पृ. 195) परन्तु यह कह पाना मुश्किल है कि इस नियम का पालन पूर्णतया होता था या नहीं। मगर समकालीन साहित्य में विवाहों के विषय में दी गई जानकारी को देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह नियम केवल कागज तक सीमित था और व्यवहार में इसका पालन नहीं होता था। ग्रामीण समाज के मुस्लिम और गैर-मुस्लिम संप्रदायों में विवाह की अलग-अलग प्रथायें प्रचलन में थीं। उदाहरण के लिए हिन्दुओं में विवाह एक परम संस्कार माना जाता था। जबकि मुस्लमानों में यह एक सामाजिक अनुबंध था। हालांकि दोनों ही स्थितियों में (हिन्दू तथा मुस्लिम) महिलायें अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिए स्वतंत्र नहीं थीं। इसी तरह दहेज प्रथा भी दोनों ही समुदायों में एक अभिशाप की तरह मौजूद थी।

## 27.4.3 त्यौहार एवं मनोरंजन

ग्रामीण जनता में कई तरह के त्यौहार और मनोरंजन के साधन लोकप्रिय थे। हालांकि मुस्लिम और गैर-मुस्लिम समुदायों के अपने अलग अलग त्यौहार और उत्सव थे परन्तु यह मानना गलत होगा कि ये एक दूसरे के उत्सवों में भागीदारी नहीं करते होंगे।

हिन्दुओं के अधिकांश त्यौहार विशेष मौसमों से संबंधित थे। अधिकांशत: यह उस समय पड़ते थे जबकि कृषकों को अपने काम फुर्सत रहती थी और वे आनन्द मनाने की मनोस्थिति में होते थे। इन त्यौहारों में बसंत पंचमी, होली, दीपावली तथा शिवरात्रि प्रमुख थे। बसंत का त्यौहार बसंत ऋतु के आगमन के साथ मनाया जाता था। इसमें गाने-बजाने और नृत्य का आनन्द लिया जाता था। होली का त्यौहार रबी की फसल के तैयार होने के समय मनाया जाता था। इसे स्थान-स्थान पर अग्नि के अलाव जलाकर, लोकप्रिय गीतों को गाकर और एक दूसरे पर रंग डालकर मनाया जाता था। दीपावली, रोशनी और दीप जलाने का त्यौहार है, जिसे खरीफ फसल के काटने के बाद मनाया जाता था। शिवरात्रि प्रमुखत: एक धार्मिक त्यौहार माना जाता था, और इसे रात भर पूजा प्रार्थना के साथ मनाते थे।

इस काल तक (16 से 18वीं शताब्दी तक) मुस्लिम त्यौहार भी भारतीय वातावरण से काफी प्रभावित हो चुके थे। ग्रामीण क्षेत्रों में ईद, शबेबरात और मुहर्रम मुसलमानों के प्रमुख त्यौहार थे। इतिहासकार के. एम. अशरफ के अनुसार "संभवत: शबेबरात हिन्दुओं के शिवरात्रि त्यौहार से काफी प्रभावित था" (के. एम. अशरफ, **भारत के निवासियों का जीवन और परिस्थितियां**)। अशरफ के अनुसार "आम जनता द्वारा इस त्यौहार के मनाने की विशेषता इस अवसर पर बड़ी संख्या में आतिशबाजी का प्रयोग और घरों तथा मस्जिदों को रोशनियों से सजाना था।" ईद और शबेबरात की तुलना में मुहर्रम बहुत सादगी से मनाया जाता था। मुहर्रम के पहले दस दिन इमाम हुसैन की शहादत से संबंधित वृतांतों को पढ़ने और गाने में गुजारे जाते थे। इसके अंत में **ताजिये** (उनके मजार की अनुकृतियां), एक शोभायात्रा के रूप में निकाले जाते थे।

ग्रामीण जनसमुदायों में मनोरंजन का सर्वाधिक लोकप्रिय तरीका गाने-बजाने और नृत्यों का आयोजन था। होली जैसे त्यौहारों के अवसर पर गांव के चौक या चौपाल में लोग जमा होते थे और यहां लोकप्रिय गाथागीत और लोकनृत्य होते थे।

NMDC-268

1) ग्रामीण स्तर पर प्रचलित परिवार व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का विवरण कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) ग्रामीण भारत में कौन-कौन सी प्रमुख प्रथायें, त्यौहार और मनोरंजन के साधन प्रचलित थे?

.....

.....

.....

.....

.....

## 27.5 सारांश

इस इकाई में हमने ग्रामीण समाज की संरचना की एक रूपरेखा प्रस्तुत की है। ग्रामीण लोगों के जीवन स्तर, खान-पान तथा आवास और रहन-सहन की चर्चा की है। सामाजिक जीवन के विभिन्न आयामों, जैसे परिवार, सामाजिक संस्थायें और प्रथायें, त्यौहार तथा मनोरंजन के साधनों के विषय में भी जानकारी दी गई है।

## 27.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) देखें भाग 27.2

2) देखें भाग 27.2 तथा उपभाग 27.3.1, 27.3.2, तथा 27.3.3

**बोध प्रश्न 2**

1) देखें भाग 27.4 तथा उपभाग 27.4.1

2) देखें भाग 27.4 तथा उपभाग 27.4.2 तथा 27.4.3

NMDC-268

# इकाई 28 शहरीकरण, शहरी वर्ग तथा जीवन शैली

**इकाई की रूपरेखा**


28.0 उद्देश्य
28.1 प्रस्तावना
28.2 परिप्रेक्ष्य
28.3 शहरी परिदृश्य
  28.3.1 भौतिक विन्यास
  28.3.2 शहरी जनसंख्या की संरचना
  28.3.3 शहरी जनसांख्यिकी
28.4 शहरी जीवन
  28.4.1 जीवन स्तर
  28.4.2 सामाजिक जीवन
  28.4.3 मनोरंजन और आमोद-प्रमोद
28.5 सारांश
28.6 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 28.0 उद्देश्य

मध्यकालीन भारत का नगरीय इतिहास अत्यधिक महत्वपूर्ण और रोचक विषय है। इस इकाई के अध्ययन से आप :

- मध्यकालीन भारत में शहरीकरण में जान सकेंगे तथा साथ-साथ इस विषय में प्रतिपादित प्रमुख दृष्टिकोणों की जानकारी भी प्राप्त करेंगे;
- मध्यकालीन शहरों की भौतिक विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगे; तथा
- मध्यकालीन शहरी जीवन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर सकेंगे।

## 28.1 प्रस्तावना

मुगलकालीन भारत का शहरी इतिहास एक महत्वपूर्ण विषय होने के बावजूद इतिहासकारों का पर्याप्त ध्यान आकृष्ट नहीं कर पाया है। इस विषय में अध्ययन के विविध क्षेत्रों की बड़ी संख्या इसके बहुआयामी होने की ओर संकेत करती है। शहरी केन्द्रों का विस्तार, उनका आकार, नगरीय अर्थव्यवस्था, तथा शहरी समाज इस विषय में अध्ययन के आयामों के कुछ प्रमुख उदाहरण हैं।

इस इकाई में पहले हम आपको नगरीय इतिहास से परिचित करायेंगे। हम सैद्धांतिक के साथ-साथ शहरीकरण के अध्ययन के प्रति अपनाये गये सामान्य परिप्रेक्ष्य के विषय पर भी चर्चा करेंगे। हम प्रमुखत: शहरों की संरचना और शहरी जीवन शैली पर ध्यान केन्द्रित करेंगे। यहां यह स्पष्ट करना जरूरी है कि इस प्रकार के अध्ययन में हमारा दृष्टिकोण इस बात से निर्धारित होगा कि हम किस प्रकार के प्रश्न और उनके उत्तर आपके समक्ष प्रस्तुत करते हैं। आप देखेंगे कि शहरों की संरचना और शहरी समाज और जीवन का जो प्रारूप हम यहां प्रस्तुत करेंगे वह मध्यकालीन शहरीकरण के प्रश्न से सीधे संबंधित है।

## 28.2 परिप्रेक्ष्य

विद्वानों ने शहरीकरण का शहरों के भौतिक विकास और एक विशिष्ट जीवन शैली (शहरी) के रूप में अध्ययन किया है। पश्चिमी देशों में इस क्षेत्र में काफी काम किया गया है परन्तु भारत में शहरी इतिहास

NMDC-268

का अध्ययन अभी विकास की व्यवस्था में है। इस भाग में हम भारत में इस विषय में अब तक किये गये शोधों के आधार पर तत्कालीन शहरी संरचना की जानकारी देंगे।

गांव के विपरीत शहरों की दो प्रमुख विशेषताओं पर अब आम सहमति है। प्रथम तो यह कि शहर एक घनी आबादी वाला ऐसा क्षेत्र था जिसका विस्तार सीमित और निर्धारित था। दूसरा यह कि यहां की जनसंख्या प्रमुखत: गैर-कृषि आधारित थी। इस प्रकार शहरों में व्यक्ति: स्थान अनुपात सीमित था और यहाँ के निवासी विविध प्रकार के व्यवसायों में कार्यरत थे।

मध्यकालीन भारत में शहरीकरण के विषय में विभिन्न व्याख्यायें दी गई हैं। इन व्याख्याओं में शहरीकरण के जिन कारणों पर चर्चा की गई है वह प्रमुखत: चार प्रकार के शहरी केन्द्रों के विकास की ओर इंगित करते हैं:

i) प्रशासनिक
ii) धार्मिक
iii) सैनिक/सामरिक महत्व के
iv) बाजार (वाणिज्यिक)

प्रशासनिक शहर स्वाभाविक रूप से प्रशासन के केन्द्रों के रूप में कार्य करते थे। मुगलकाल के दिल्ली और लाहौर जैसे शहर इसी श्रेणी में आते थे। धार्मिक केन्द्र प्रमुखत: तीर्थ यात्रियों को आकृष्ट करते थे, उदाहरण के लिए वाराणसी तथा मथुरा। सैनिक और सामरिक महत्व के शहरों का विकास प्रमुख रूप से छावनियों के रूप में हुआ। बाद में इन केन्द्रों में गैर सैनिक जनसंख्या भी बस गई। अटक और असीरगढ़ जैसे शहर इस श्रेणी के थे। चौथी श्रेणी में ऐसे शहर आते हैं जो वाणिज्यिक गतिविधियों के केन्द्र या उत्पादन के स्थल थे। अक्सर इस प्रकार के शहरों में दोनों गतिविधियां केन्द्रित होती थी। इस श्रेणी में मुगल साम्राज्य के पटना और अहमदाबाद जैसे शहर आते थे।

यहां हमें दो बातों का ध्यान रखना जरूरी है। पहला यह कि मुगल काल का एक औसत शहर सामाजिक व्यवहार और विशेषताओं में गांव का एक विस्तृत रूप था। यह ग्राम शहर अविच्छन्नता मुगलकालीन शहरीकरण की एक प्रमुख विशेषता थी। मुगल शहरी अर्थव्यवस्था की विविधता को देखते हुए इस काल के भारतीय शहर का कोई एक निश्चित स्वरूप स्थापित करना भ्रामक होगा। दूसरी विशेषता यह थी कि बाह्य रूप से समान (कार्यों की दृष्टि से) दिखते हुए भी दो शहर वास्तव में काफी भिन्न होते थे। वास्तव में किसी शहरी केन्द्र का विकास इसकी ऐतिहासिक परिस्थितियों और भौगोलिक अवस्थिति पर निर्भर था।

## 28.3 शहरी परिदृश्य

मुगल शहरों की विभिन्नता के विषय में उपरोक्त चर्चा को स्वीकार करते हुए भी इन शहरों की कुछ सामान्य विशेषतायें निम्नानुसार देखी जा सकती हैं।

### 28.3.1 भौतिक विन्यास

अधिकांश शहर एक ऐसी चारदीवारी में स्थित होते थे जिसमें एक या अधिक प्रवेशद्वार होते थे। शहर की प्रमुख जनसंख्या इन चारदीवारी के अंदर ही रहती थी। शहरों के विस्तार के साथ अक्सर शहरी जनसंख्या इन दीवारों के बाहर तक बसने लगती थी। 17वीं शताब्दी के अंत में जॉन जार्डन का आगरा का वर्णन एक विशिष्ट मुगल शहर के उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। जार्डिन के अनुसार "यह शहर नदी की दिशा में 12 कोस लम्बा है जो लगभग 16 मील के बराबर है। यह एक चारदीवारी में स्थित है, परन्तु उपशहरी बस्ती शहर की दीवारों से लगी हुई ही थी। अगर दीवारों में प्रवेश द्वार न हों तो यह कह पाना मुश्किल होगा कि आप शहर की दीवारों के भीतर हैं या बाहर।" अक्सर अमीर और कुलीन शहर की दीवारों के बाहर अपनी कोठियां और बाग बनवाते थे। इस प्रकार दिल्ली, आगरा, पटना, अहमदाबाद और इलाहाबाद जैसे नगरों के बाहर इन कोठियों और बागों के आस-पास बस्तियां बन कर उपशहर बस गये।

NMDC-268

सुनियोजित बसाये गये शहरों में बाजार अलग से बनाये जाते थे। अन्य शहरों में सड़कों के दोनों ओर दुकानें होती थीं। दुकानदार स्वंय इनके ऊपर या पीछे के भाग में रहते थे। अधिकांश शहरों में एक से अधिक बाजार होते थे। कई बाजार किसी खास वस्तु के व्यापार के लिए विशिष्ट रूप से जाने जाते थे। अक्सर बाजारों के नाम उन विशिष्ट वस्तुओं का हवाला देते है। उदाहरण के लिए आगरा में लोहा गली (लोहे की वस्तुएं), दाल मंडी, साबुन कटरा (साबुन का बाजार), नील पाड़ा (नील के लिए), दिल्ली में जौहरी बाजार (आभुषणों के लिए), सब्जीमंडी, (सब्जी के लिए), चूड़ी वाला (चूड़ियों के लिए), आदि। दिल्ली में पहाड़गंज, अनाज की थोक मंडी थी।

जिन क्षेत्रों में शहर की जनसंख्या रहती थी वे मुहल्लों में बंटे हुए होते थे। अधिकतर मुहल्ले किसी खास जाति या उत्पादक समुदायों के नामों से जाने जाते थे। उदाहरण के लिए कुंजड़ो मुहल्ला (सब्जी के बेचने वाले) मोची बाड़ा (जूते बनाने वाले), मुहल्ला जरगरान (सुनार), कूचा रंगरेजन (कपड़े रंगने वाले), आदि इस प्रकार के नाम लगभग सभी मुगल शहरों में पाये जाते हैं। कभी-कभी यह मुहल्ले उनमें रहने वाले प्रमुख व्यक्तियों, आदि के नाम से भी जाने जाते थे।

शहरों की एक अन्य विशेषता वहां पर सरायों का होना था। **सराय** व्यापारियों और यात्रियों के लिए रहने का स्थान थी। छोटे शहर में भी कम से कम एक **सराय** होती थी। दिल्ली, आगरा, पटना, लाहौर और अहमदाबाद जैसे शहरों में बड़ी संख्या में **सरायें** पाई जाती थी। अधिकांशत: कुलीन, बड़े व्यापारी, शाही घराने की महिलायें तथा राज्य की ओर से इन **सरायों** को बनवाया जाता था। यात्रियों को यहां सामान रखने के भंडार गृह से लेकर अन्य सभी प्रकार की सुविधायें मिलती थी। भटियारों के परिवार **सरायों** के रख-रखाव का कार्य करते थे। भटियारे सरायों के देखभाल करने वालों के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे। शहर में आने वाले विदेशियों को नगर के प्रशासकों को अपने आने और जाने के विषय में सूचित करना पड़ता था।

सामान्य शहरों में किसी भी प्रकार के योजनाबद्ध विकास का अभाव था। प्रमुख मार्गों के अलावा अन्य सड़के तथा गलियां संकरी और मिट्टी की बनी होती थीं। शहरों के नियमित प्रशासन के लिए एक पृथक विकसित प्रशासनिक व्यवस्था थी।

## 28.3.2 शहरी जनसंख्या की संरचना

शहरों की जनसंख्या एक प्रकार की न होकर मिश्रित प्रकार की थी। समकालीन स्रोतों में हमें शहरों में विभिन्न वर्गों के लोगों के निवास के विषय में जानकारी मिलती है। इनको मोटे तौर पर चार श्रेणियों में बांटा जा सकता है :

i) कुलीन और उनके सहयोगी, राज्य के अधिकारी तथा सैनिक।
ii) व्यापारिक और वाणिज्यिक गतिविधियों से संबंधित वर्ग (व्यापारी, सर्राफ, दलाल, आदि)।
iii) धार्मिक प्रतिष्ठानों से संबंधित वर्ग, संगीतकार, चित्रकार, कवि, लेखक, वैद्य, हकीम, आदि।
iv) कारीगर, मजदूर विभिन्न प्रकार के सेवक आदि।

विभिन्न शहरों में विभिन्न वर्गों के प्रकार, संख्या, आदि उस शहर की प्रकृति पर निर्भर करते थे, अर्थात् वे प्रशासनिक केन्द्र थे अथवा वाणिज्यिक केन्द्र या अन्य। साम्राज्य के प्रमुख केन्द्र या राजधानी में संभवत: सबसे बड़ा वर्ग सम्राट और कुलीनों के सैनिक और सेवकों का था। बर्नियर (1658 ई.) ने सम्राट शाहजहां के शिविर में लोगों की संख्या लगभग 3-4 लाख आंकी थी।

अन्य प्रशासनिक केन्द्रों की स्थिति भी लगभग यही थी। गवर्नर प्रातीय उच्च कुलीन तथा अन्य प्रशासनिक अधिकारी सभी के साथ बड़ी संख्या में सैनिक, आश्रित, सेवक, गुलाम और परिवार के सदस्य होते थे।

अधिकांश बड़े शहर व्यापारिक गतिविधियों का केन्द्र होते थे इसलिए इन शहरों में वाणिज्यिक वर्ग महत्वपूर्ण होता था। एक अनुमान के अनुसार अहमदाबाद में केवल हिन्दू व्यापारियों की कुल जातियों और उपजातियों की संख्या लगभग 84 थी। 1640 ई. में पटना में लगभग 600 दलाल थे। समकालीन

स्रोतों में लगभग सभी बड़े शहरों में मीलों लम्बे बाजारों का वर्णन मिलता है। पटना जैसे औसत आकार के शहर में परचून की 200 से अधिक दुकानें थी। जोधपुर जैसे शहर में भी महाजनों की 600 दुकानें थीं।

शहरों में रहने वाला अन्य महत्वपूर्ण वर्ग विद्वानों, वैद्यों, हकीमों तथा कला और संगीत से जुड़े लोगों का था। सामान्यत: धार्मिक कार्यों के लिए और दान में दी जाने वाली राजस्व मुक्त भूमि भी शहरों के आस-पास दी जाती थी। इसके अतिरिक्त अधिकांश कवि, संगीतकार, चिकित्सक, आदि शहरों में ही रहते थे क्योंकि यहां धन कमाने के साधन थे तथा साथ ही यहीं उन्हें सम्राट और कुलीनों का संरक्षण भी प्राप्त हो जाता था।

व्यापारिक और वाणिज्यिक शहरों में एक बड़ी जनसंख्या, कारीगर, मजदूर और अन्य कार्मिक वर्गों की होती थी। हम इस काल के कारीगर उत्पादों की चर्चा इकाई 22 में कर चुके हैं। उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं से जुड़े कारीगरों को कई वर्गों में बांटा जा सकता है।

i) ऐसे कारीगर जो स्वंय वस्तुएं बनाते और बेचते थे।
ii) ऐसे कारीगर जो सम्राट या कुलीनों के कारखानों या भवन निर्माण गतिविधियों में कार्यरत थे।
iii) कई उत्पादन क्षेत्रों में एक बड़ी संख्या अर्द्धकुशल कारीगर या अकुशल कार्मिकों के रूप में कुशल कारीगरों के सहायक के रूप में कार्य करती थी। जहाज निर्माण, हीरे, नमक या शोरे के खनन उत्पादन के ऐसे क्षेत्र थे।
iv) घरेलू सेवकों या मजदूरों के रूप में कार्यरत एक बड़ा वर्ग भी शहरों में पाया जाता था।

## 28.3.3 शहरी जनसांख्यिकी

**तबकात-ए अकबरी** (लगभग 1593 ई.) के अनुसार अकबर के काल में लगभग 120 बड़े शहर और 3200 कस्बे (छोटे शहर) थे। 17वीं शताब्दी में उद्योग व व्यापार के विकास के साथ यह संख्या भी बढ़ी होगी। निश्चित स्रोतों और अभिलेखों के अभाव में विभिन्न शहरों की ठीक-ठीक जनसंख्या पता करना संभव नहीं है। इरफान हबीब के अनुसार कुल जनसंख्या का लगभग 15 प्रतिशत शहरों में निवास करता था।

विभिन्न शहरों के आकार के विषय में कुछ यूरोपीय यात्रियों के वृत्तांतों से जानकारी मिलती है। इन्होंने कहीं-कहीं तो अपने अनुमान दिये हैं और कहीं भारतीय शहरों की तुलना यूरोपीय शहरों से की है। इस प्रकार की जानकारी कुछ गिने चुने शहरों के बारे में ही दी गई है।

कुछ मुख्य शहरों के बारे में आकलन निम्नलिखित है :

| शहर | आकलन | जनसंख्या |
|---|---|---|
| आगरा | 1609 | 5,00,000 |
| | 1629-43 | 6,66,000 |
| | 1666 | 8,00,000 |
| दिल्ली | 1659-66 | 5,00,000 |
| लाहौर | 1581 | 4,00,000 |
| | 1615 | 7,00,000 |
| अहमदाबाद | 1613 | 1,00,000 |
| | | 2,00,000 |
| सूरत | 1663 | 1,00,000 |
| | 1600 | 2,00,000 |
| पटना | 1631 | 2,00,000 |
| ढाका | लगभग 1630 | 2,00,000 |

(स्रोत : इरफान हबीब, **कैम्ब्रिज इक्नॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया,** भाग 1, पेज 171)

NMDC-268

जनसंख्या के उपरोक्त आकलनों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत के उस समय के शहर यूरोपीय शहरों के समकक्ष थे।

**बोध प्रश्न 1**

1) मध्यकालीन शहरों के उत्कर्ष के कारणों का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) **सराय** पर 50 शब्दों में एक टिप्पणी लिखिये।

.....

.....

.....

.....

.....

3) सही वक्तव्यों पर ( √ ) सही का और गलत वक्तव्यों पर ( × ) गलत का चिन्ह लगाइए :

i) **भटियारे** सरायों का रख रखाव करते थे।

ii) **तबकात-ए अकबरी** के अनुसार अकबर के काल में 120 बड़े शहर और 3200 कस्बे थे।

iii) इरफान हबीब के अनुमान के अनुसार लगभग 12 प्रतिशत जनसंख्या शहरों में निवास करती थी।

## 28.4 शहरी जीवन

हमारे मुगलकालीन स्रोत शहरी जीवन के विषय में काफी जानकारी प्रदान करते हैं। निम्नलिखित उपभागों में हम इसी जानकारी के आधार पर शहरी जीवन पर प्रकाश डालेंगे।

### 28.4.1 जीवन स्तर

मध्यकालीन शहरी जीवन स्तर में काफी विषमता दिखाई देती है। जहां एक और उच्च वर्गों के लोग शाही तरीके का रहन-सहन अपनाते थे वहीं दूसरी और शहरों की गरीब जनता निम्न स्तर का जीवन व्यतीत करती थी। गोवा में आम जनता के जीवन स्तर के बारे में लिन्शोटन (1580-1590 ई) लिखता है कि " वे इतने गरीब हैं कि एक पैसे के लिए कोड़े सहने को तैयार हैं, वे इतना कम खाते हैं कि ऐसा लगता है कि वे हवा पर जिन्दा हैं, इसलिए ये सारे लोग आकार में छोटे और इनके हाथ पांव में कोई जान नहीं है" "डी. लायट भी कुछ इसी प्रकार के विचार प्रकट करता है। वह कहता है कि "आम लोगों की स्थिति अत्यंत दयनीय है, मजदूरी कम है, मजदूरों को दिन में एक ही बार भोजन प्राप्त हो पाता है, रहने के घर तुच्छ और बिना किसी साज-सामान के हैं, जाड़ों में स्वयं को गर्म रखने के लिए पहनने और ओढने के साधन भी नहीं हैं।"

**आइन-ए अकबरी** तथा उस काल के कुछ यूरोपीय स्रोत (पेल्सर्ट, पेट्रोडेला वेला आदि) दर्शाते हैं कि शहरी मजदूरों की औसत आय 3-4 रुपये प्रतिमाह थी। परन्तु शीरीन मुसवी (**इक्नॉमी ऑफ मुगल**

एम्प्यायर) ने अपने शोधों के आधार पर दर्शाया है कि अकुशल कार्मिक की वस्तुएँ खरीदने की शक्ति 1867-1871-72 की तुलना में 1595 ई. में ही अधिक थी। उनके अनुसार अकबर के काल में एक शहरी कार्मिक 1867 के इसी प्रकार के कार्मिक की तुलना में अधिक गेहूँ, मोटे अनाज, घी और शक्कर, आदि खरीद सकता था। इसी प्रकार वह 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के अपनी तरह के मजदूर की तुलना में अधिक अच्छा भोजन आदि प्राप्त करता था। अकबर के काल के मजदूर केवल कपड़े खरीदने की क्षमता में काफी पीछे थे। एक साधारण मजदूर की तुलना में एक कुशल कारीगर की वस्तुएं खरीदने की क्षमता 19वीं शताब्दी में और भी अधिक कम हो गई थी। शीरीन मूसवी के अनुसार यह कहा जा सकता है कि 1867 की तुलना में लगभग 1600 ई. में शहरी वेतन अधिक थे।

मध्यवर्ग विशेष कर राजस्व विभाग के अधीनस्थ अधिकारी, छोटे **मनसबदार**, चिकित्सक तथा छोटे व्यापारी, आदि एक अच्छे स्तर का जीवन गुजारते थे। बुद्धिजीवी वर्ग ज्यादातर गरीब था और अधिकांशत: अपने जीवन-यापन के लिए कुछ संरक्षकों पर निर्भर था। कुलीन तथा अन्य उच्च वर्ग अत्यंत शान-शौकत का जीवन व्यतीत करते थे। हमें विवरण मिलता है कि एक कुलीन के लड़के ने चांदनी चौक (दिल्ली) में एक दिन में एक लाख रुपये की खरीददारी की। मोरलैंड कहता है कि "संचय करने की जगह खर्च करना ही उस काल की विशेषता थी।" शीरीन मूसवी ने शाही घराने और कुलीनों की उपभोग पद्धति का अध्ययन किया है। उपभोग की पद्धति शाही घराने और अमीरों तथा कुलीनों की जीवन शैली पर प्रकाश डालती है।

| खर्च की मद | शाही परिवार<br>प्रतिशत में | कुलीन<br>प्रतिशत में |
|---|---|---|
| हरम (जनानखाना) | 18.68 | 14.25 |
| रसोई | 7.28 | 7.04 |
| वस्त्र | 8.93 | 7.32 |
| भवन (निर्माण) | 8.01 | 6.57 |
| शिविर से संबंधित व्यय | 5.53 | 4.54 |
| बर्तन | 7.97 | 6.54 |
| पशुओं का शिकार | 1.41 | 1.16 |
| पुस्तकें तथा कलाकृतियां | 3.60 | 2.96 |
| आभूषण व रत्न | 23.65 | 19.40 |
| पालतू और शिकारी पशु | 6.94 | 5.69 |
| विविधा | 1.33 | 1.09 |
| नक़द अनुदान | 6.67 | - |
| पैदल सैनिक | - | 8.43 |
| हथियार | - | 9.67 |
| बोझा ढोने वाले पशु | - | 2.65 |
| प्रदर्शन के लिए रखे जाने वाले पशु | - | 2.69 |

इन आंकड़ों से साफ प्रदर्शित होता है कि मुगल कुलीन लगभग 75 प्रतिशत अपने आराम और विलासिता की वस्तुओं पर व्यय करता था। यह रईसी की जीवन शैली अक्सर उन्हें कंगाल बना देती थी। बर्नियर के अनुसार "..... दूसरी ओर अधिकांश अमीर कर्ज में डूबे हुए थे, सम्राट को भेंट में दिए जाने वाले कीमती उपहार और उनके विस्तृत घर-गृहस्थी के खर्चे उन्हें बर्बाद कर देते थे। इस कारण वे किसानों से अधिक से अधिक अनुचित वसूलियां करते थे।"

किन्तु कारीगर उत्पादन के विकास में कुलीनों ने काफी योगदान दिया है। शीरीन मूसवी की गणना के अनुसार कुलीनों के वेतन का लगभग 63.26 प्रतिशत किसी न किसी प्रकार के कारीगर उत्पादन पर खर्च

NMDC-268

होता था। कुल **जमा** (अनुमानित आय) का लगभग 37.38 प्रतिशत औसत रूप से कारीगर उत्पादन पर खर्च होता था। यह कहा जा सकता है कि कारीगर उत्पादों पर खर्च काफी अधिक था। परन्तु यह उत्पादन व्यापार के उद्देश्य से नहीं अपितु व्यक्तिगत उपभोग के लिए था। इसलिए भारी निवेश के बावजूद यह उत्पादन किसी प्रकार के आंतरिक बाजार (कारीगर उत्पादन के व्यापार के लिए) को जन्म नहीं दे सका।

## वस्त्र

मध्यम और उच्च् वर्गों के वस्त्र पहनने और उपभोग, आदि का स्तर लगभग समान था। पहने हुए वस्त्रों के स्तर के आधार पर वे अलग से पहचाने जा सकते थे। पुरुष विशिष्ट प्रकार की शलवार या चूड़ीदार पजामा तथा कमीज पहनते थे। जाड़ों में रूई भरी कोटी या सदरी तथा लम्बा ढीला कोट **क़बा** भी पहनते थे। साथ ही कंधों पर शॉल, कमर में पटका और सिर पर एक पगड़ी भी रहती थी। कहा जाता है कि हुमायूं ने एक नये प्रकार के कोट का चलन शुरू किया। यह कमर पर फिटिंग वाला और आगे से खुला होता था। वह इसे **क़बा** (चोगे) के ऊपर पहनता था। इस प्रकार का कोट अक्सर सम्राट द्वारा कुलीनों को सम्मानसूचक वस्त्रों (खिल्लत) के रूप में भेट किया जाता था। स्त्रियाँ ब्लाउज और एक बड़ी चादर पहनती थीं। दोआब क्षेत्र में लहंगा और चोली तथा एक प्रकार का बड़ा दुपट्टा काफी लोकप्रिय थे। मुस्लिम महिलायें ढ़ीली शलवार, कमीज और दुपट्टा तथा अक्सर बुर्का पहनती थीं। वस्त्रों के लिए सादा या धारीदार सूती और रेशमी कपड़े का उपयोग होता था।

अकबर अपने वस्त्रों की ओर काफी ध्यान देता था। अबुल फजल के अनुसार प्रत्येक वर्ष उसके लिए एक हजार जोड़े बनाए जाते थे। वह अपने सभी पुराने वस्त्र नौकरों को दान कर देता था। बर्नियर कहता है कि "अमीर व्यापारी कोशिश करते थे कि वे दरिद्र दिखें ताकि उनसे धन न निचोड़ा जाय।" परन्तु बारबोसा कालीकट के मुस्लिम व्यापारियों के पहनावे और वस्त्रों की काफी प्रशंसा करता है। इसी प्रकार डेला वैले भी सूरत के व्यापारियों की शान-शौकत की चर्चा करता है। हिन्दू कुलीन भी अपना पहनावा अपने मुस्लिम साथियों की भांति अपनाते थे। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण मस्तक पर तिलक भी लगाते थे और राजपूत कानों में कुंडल पहनते थे।

निम्न वर्ग के लोग बहुत ही कम वस्त्र पहनते थे। आगरा और लाहौर की आम जनता के विषय में साल बंक लिखता है कि "साधारण लोग इतने दरिद्र हैं कि उनमें से अधिकांश नग्न रहते हैं।" यूरोपीय यात्रियों ने दक्षिण भारत के विषय में भी लगभग इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। विजयनगर के आम लोगों के विषय में बारबोसा कहता है कि "इनका पूरा शरीर नग्न रहता है और केवल शरीर का मध्य भाग ढकने के लिए एक कपड़े का प्रयोग करते हैं। " लिन्शोटन (1580-1590 ई.) कहता है कि "गोवा के आम लोग बहुत गरीब हैं और लगभग नग्न रहते हैं।" बाबर कहता है कि "कृषक और निम्न वर्गों के लोग लगभग नग्न रहते हैं। वह एक प्रकार का लंगोट पहनते हैं जिसे टांगो के बीच से पीठ के पीछे ले जाकर गांठ लगाते हैं। औरतें भी एक प्रकार का वस्त्र पहनती हैं जिसका एक हिस्सा कमर पर बांधती हैं और दूसरा सिर के ऊपर ले जाती हैं। जाड़ों में पुरुष रूई भरा कोट और इसी प्रकार की टोपी पहनते हैं।" दक्षिण में अधिकांश लोग नंगे पांव रहते थे।

## बोध प्रश्न 2

1) मुगल काल के शहरी मजदूरों के जीवन स्तर की तुलना 19वीं शताब्दी के शहरी मजदूरों से कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

NMDC-268

2) मुगल काल के शहरों के गरीब लोगों के वस्त्रों पर टिप्पणी लिखिये।

.....

.....

.....

.....

.....

## 28.4.2 सामाजिक जीवन

संयुक्त परिवार व्यवस्था का सामान्य प्रचलन था। महिलाओं को पुरुषों के अधीन रहना होता था। उच्च वर्गों की महिलायें पर्दा प्रथा का पालन करती थीं। बारबोसा का कहना है कि खम्बात में पर्दा प्रथा थी परन्तु महिलायें अपने मित्रों के यहां आती जाती रहती थीं। पर्दा प्रथा की सीमाओं के भीतर सामाजिक सम्पर्क और व्यवहार की पूर्ण स्वतंत्रता थी।

जौहर प्रथा केवल राजपूतों में ही प्रचलित थी। उनकी महिलायें असफलता या युद्ध आदि में पराजय की स्थिति में अपने सम्मान की रक्षा के लिए सामूहिक रूप से जल कर अपने प्राणों की आहुति दे देती थीं। बाबर ने चन्देरी में मेदनीराय की पराजय के बाद उसकी स्त्रियों द्वारा जौहर किए जाने का विस्तृत वर्णन किया है। उच्च जाति के हिन्दुओं में सती प्रथा भी काफी प्रचलित थी। मारवाड़ के मोटा राजा की पुत्री को अपनी इच्छा के विरुद्ध जलने के लिए बाध्य किया गया था। अकबर ने इस घटना को बहुत गंभीरता से लिया और प्रत्येक शहर और सरकार में पर्यवेक्षक नियुक्त किये। इनका कार्य इस बात पर नजर रखना था कि किसी भी स्त्री को सती होने के लिए बाध्य न किया जाए। अगर कोई स्त्री अपनी इच्छा से सती हो रही हो तो उसे न रोका जाये। अकबर ने (1587 ई.) विधवाओं को पुन: विवाह करने की इजाजत देने के संबंध में भी कदम उठाये।

हिन्दू और मुसलमान दोनों ही लड़के और लड़कियों के विवाह कम उम्र में करने के पक्ष में थे परन्तु अकबर बाल-विवाह के विरुद्ध था। उसने लड़कियों के लिए शादी की न्यूनतम उम्र 14 वर्ष और लड़कों के लिए 16 वर्ष निश्चित की।

जन्म उत्सव का विशेष महत्व था। मुसलमानों में जन्म के बाद **अकीका** (शिशु के सर के बाल मूंडना और पशु की बलि देना) उत्सव मनाया जाता था। हिन्दूओं में भी जन्म के समय धार्मिक अनुष्ठान होते थे। मध्यम वर्गों में हिन्दू बच्चे को 5 साल की उम्र में शिक्षा के लिए गुरु के पास छोड़ देते थे जबकि मुसलमानों में परंपरा थी कि बच्चे को 4 साल 4 महीने और 7 दिन की आयु पर **मकतब** (स्कूल) भेजा जाता था। इसे **बिस्मिल्लाह ख्वानी** कहा जाता था। सामान्यत: मुस्लिम लड़कों का खतना 7 साल की आयु में कराया जाता था। अकबर ने आदेश दिया कि 12 साल की आयु से पहले खतना न कराया जाये और इसे बालक की इच्छा पर भी छोड़ने का आदेश दिया। हिन्दुओं में **उपनयन** संस्कार काफी महत्व था। इसमें बालक को 9 वर्ष की आयु में पवित्र धागे पहनाये जाते थे।

वैवाहिक अनुष्ठान लगभग आज प्रचलित पद्धति की ही तरह थे। हिन्दू विवाह का आरंभ तिलक और मंगनी से होता था। तत्पश्चात् लगन (विवाह की तारीख) की तिथि निर्धारित की जाती थी। गाना बजाना होता था और विवाह के विस्तृत अनुष्ठान और समारोह होते थे।

मृत्यु के बाद भी काफी अनुष्ठान और कर्मकाण्ड होते थे। पुजारी मंत्र पढ़ते थे, दान दिये जाते थे और एक साल के बाद श्राद्ध होता था। मुसलमानों में मृत्यु के तीसरे दिन **सोयम** नामक अनुष्ठान प्रचलित था।

कुलीन और बड़े व्यापारी विवाह के अवसर पर काफी धन खर्च करते थे। खेमचन्द नामक व्यापारी ने अपनी पुत्री के विवाह के लिए 15 लाख रुपये खर्च करने की योजना बनाई थी परन्तु रास्ते में लूट लिया गया। दारा शिकोह के विवाह पर लगभग 32 लाख रुपये खर्च किए गए थे। 17वीं शताब्दी में सिंध

NMDC-268

आये और एक यात्री बोक्कारों के अनुसार एक आम विवाह पर लगभग 4-5 हजार रुपये खर्च होते थे। अपने परिवार में एक विवाह के अवसर पर राजा, भगवानदास ने कई घोड़े, 100 हाथी, भारत, अबीसीनिया और करकेशिया के लड़के लड़कियां, विभिन्न प्रकार के रत्न जड़ित गहने, बर्तन आदि, दिये।

## शिक्षा

शिक्षा की सुविधायें आम स्त्रियों की पहुंच से बाहर थीं। उच्चवंश की महिलाओं को शिक्षा की पूर्ण सुविधायें थीं। राजकुमारियों के लिए भी शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। अकबर ने भी स्त्रियों की शिक्षा में रुचि ली। बदायूनी लिखता है कि उसने एक नया पाठ्यक्रम निर्धारित किया था। उसने फतेहपुर सीकरी में लड़कियों के लिए एक स्कूल की स्थापना की। शाही परिवार की कुछ महिलाओं ने भी लड़कियों की शिक्षा में विशेष रुचि दिखाई। हुमायूं की पत्नी बेगा बेगम ने हुमायूं के मकबरे के पास लड़कियों के लिए एक विद्यालय की स्थापना की। अकबर की सौतेली मां महम अंगा ने भी दिल्ली में एक स्कूल बनवाया। हुमांयू की बहन गुलबदन बानू बेगम फारसी और तुर्की का अच्छा ज्ञान रखती थी। उन्होंने **हुमायूंनामा** नामक ग्रंथ की रचना की। इसी प्रकार नूरजहां (जहांगीर की पत्नी), जहांआरा (शाहजहां की पुत्री), तथा जेबुनिसा (औरंगजेब की पुत्री) अपने काल की साहित्यक रुचि वाली महिलायें थीं। औरंगजेब ने अपनी सभी पुत्रियों की अच्छी शिक्षा की व्यवस्था की। नृत्य और संगीत को पसंद नहीं किया जाता था। नूरजहां और जहांआरा राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाती थीं। अनेक कुलीन **मनसबदार** फारसी के ज्ञाता थे। कुछ गणित और चिकित्सा विज्ञान की जानकारी रखते थे। और कुछ लेखन कला में भी रुचि रखते थे। मुगल काल के अनेक कुलीनों के पास अपने व्यक्तिगत ग्रंथालय थे। अब्दुल रहीम खान खाना के पास अपना एक बड़ा ग्रन्थालय था जिसमें लगभग 95 सुलेखक, शिल्पी, चित्रकार, जिल्दसाज और पाण्डुलिपियों की सजावट करने वाले थे।

बाबर स्वयं तुर्की भाषा का महान विद्वान था। उसकी पुस्तक **बाबरनामा** को तुर्की गद्य की एक उत्कृष्ट कृति माना जाता है। वह फारसी का भी ज्ञाता और एक कुशल सुलेखक था। हुमायूं और उसके बाद के लगभग सभी मुगल सम्राट फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। हालांकि, अकबर, परिस्थितियों के कारण, औपचारिक शिक्षा नहीं प्राप्त कर पाया परन्तु उसने अनेक कवियों, लेखकों, दार्शनिकों, चित्रकारों तथा चिकित्सकों, आदि को संरक्षण प्रदान किया।

### बोध प्रश्न 3

1) अपने काल की सामाजिक कुरीतियों के प्रति अकबर के दृष्टिकोण की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) मुगल राजकुमारियों की शिक्षा की स्थिति पर टिप्पणी लिखिये।

.....

.....

.....

.....

.....

NMDC-268

## 28.4.3 मनोरंजन और आमोद प्रमोद

जुआ खेलना, हाथियों की लड़ाई, चौपड़, **चंडाल मंडल**, शतरंज, ताश, पोलो, आदि ऐसे प्रमुख खेल थे जिनमें उच्च वर्ग के लोग रुचि लेते थे। हिन्दुओं और विशेषकर राजपूतों में चौपड़ का खेल बहुत लोकैप्रिय था। अकबर ने चौपड़ के मोहरों के स्थान पर व्यक्तियों का प्रयोग करना शुरू किया और चौपड़ एक अत्यंत रोचक खेल **चंडाल मंडल** के रूप में विकसित हुआ। ताशों का खेल (**गंजीफा**) संभवत: भारत में पहली बार बाबर द्वारा लाया गया था। अकबर के काल में यह काफी लोकप्रिय हो गया। जुआ खेलना आम प्रचलन में था। कबूतरबाजी और मुर्गों की लड़ाई आदि खेल भी काफी प्रचलित थे। अकबर स्वयं अपने पक्षियों को दाना देता था और उसने कबूतर उड़ाने के खेल को **इश्क बाजी** (प्रेम का खेल) का नाम दिया।

शिकार खेलना शाही घराने का एक प्रिय शौक था। मुगल **कमरगाह** शिकार का आयोजन करते थे। इसमें एक संख्या में सवारों द्वारा (कभी-कभी लगभग 50,000 घुड़सवार) एक बड़े क्षेत्र से जानवरों को हुँकार कर शाही शिकारगाह में लाया जाता था। इस हाँके द्वारा धीरे-धीरे एक घेरे में जानवरों को लाया जाता था। तत्पश्चात् सम्राट और प्रमुख कुलीन घेरे के जानवरों का शिकार करते थे। हिरन, बकरियां, हाथी, आदि भी शिकार के लिए पाले जाते थे। चीतों को हिरन का शिकार करने के लिए पाला और प्रशिक्षित किया जाता था। उत्तर भारत के बहुत से क्षेत्रों में शाही शिकारगाहें स्थापित की गई थी जो शाही परिवार के सदस्यों के शिकार खेलने के लिए सुरक्षित रहती थीं। चीता, शेर और हाथियों का शिकार करना शाही परिवार का विशेषाधिकार था।

साधारणतया शाही परिवार की महिलायें महल के बाहर के खेलों में भाग नहीं लेतीं थी। परन्तु कुछ पोलो खेलती थीं। केवल नूरजहां ही शेर और बाघों के शिकार के लिए जाती थी। कबूतर बाजी तथा आंखमिचोली ही इनके प्रिय खेल थे।

### उत्सव और मेले

धार्मिक उत्सव तथा तीर्थस्थलों और मजारों की यात्रा मन बहलाने के प्रमुख साधन थे। सूफी संतों की मजारों पर बड़े पैमाने पर **उर्स** (वार्षिक उत्सव) मनाये जाते थे। दिल्ली में शेख निजामुद्दीन औलिया और शेख बख्तियार काकी की मजारों पर बड़े **उर्स** होते थे। दिल्ली में हजरत नासिरउद्दीन चिराग दिल्ली (ह. निजामउद्दीन औलिया के उत्तराधिकारी) की मजार पर विशेषकर दीपावली के महीने में प्रत्येक इतवार को बड़ी संख्या में हिन्दू और मुसलमान जमा होते थे। **ईद उल फितर, ईद उल जुहा, नौरोज** (ईरानी नव वर्ष), शबबरात, होली, दशहरा, दीपावली, रक्षा बंधन, बसंतपंचमी, आदि प्रमुख त्यौहार काफी धूम-धाम से मनाये जाते थे। मेलों का भी आयोजन होता था। गढ़मुक्तेश्वर का प्रसिद्ध मेला जो आज भी लगता है, मध्य काल में ही शुरू हुआ था। दशहरे का त्यौहार क्षत्रिय तथा अनेक खेतिहर समुदायों में काफी लोकप्रिय था। गंगा के किनारे लगने वाला कुंभ मेला सर्वाधिक लोकप्रिय था। **मुहर्रम** के अवसर पर शहर की सड़कों से **ताजियों** (**करबला** के शहीदों की मजारों की अनुकृतियां) की शोभायात्रा निकाली जाती थी।

### संगीत

बड़े अमीर अपने भवनों और हवेलियों में मुशायरों का आयोजन करते थे। जहां कवि अपनी रचनाओं का पठन करते और साहित्यिक चर्चा करते थे। संगीतकार और गायक जनान-खाने में सम्राट और महिलाओं के मनोरंजन के लिए अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। कविन्द्र, चित्रा खां, लाल खां तथा श्रीमन शाहजहां के प्रिय संगीतकार थे। शाहजहां के एक अमीर शाहनवाज खां ने भी बड़ी संख्या में संगीतकारों को संरक्षण प्रदान किया। सम्राट मौहम्मद शाह भी बड़ा संगीत प्रेमी था। उसके काल में बोली खां, जलाला, चमनी, और कमलबाई प्रसिद्ध संगीतकार थे। नियामत खां एक कुशल बांसुरी वादक और ख्याल शैली का गायक था। उसकी शिष्या पन्ना बाई एक अत्यंत सुरीली आवाज वाली गायिका थी। ताज खां कव्वाल तथा मईनुद्दीन, कुशल कव्वाली गायक, और मौहम्मद शाह के काल के प्रसिद्ध संगीतकार थे।

NMDC-268

हिजड़े सार्वजनिक नृत्यों में भाग लेते थे। मियां हैगा नामक हिजड़ा शाहजहांनाबाद के किले के सामने उर्दू बाजार के चौक में नृत्य का प्रदर्शन करता था। उसे देखने के लिए काफी भीड़ लग जाती थी। आसा पुरा नाम की एक हिन्दू नर्तकी भी काफी प्रसिद्ध थी।

भाटों और चारणों द्वारा आल्हा और नल दमयन्ती का गायन किया जाता था। हिन्डोलों और श्रवनी जैसे श्रवण गान भी लोकप्रिय थे। पश्चिमी तटों के क्षेत्र में गुजराती नृत्य गर्भा काफी लोकप्रिय था। कठपुतलियों का तमाशा, बंदरों के खेल, सांपों का प्रदर्शन, नटों के कर्तब आम जनता के प्रिय मनोरंजन थे। बड़े लोगों के घरों में नृत्य और भोजों के बड़े जश्न (समारोह) आयोजित किए जाते थे। हुमांयू ने यमुना नदी के तट पर पिकनिक मनाने के आयोजन शुरू किये। उसने शाही परिवार की महिलाओ के लिए **मीना बाजार** आयोजित करने की परंपरा भी शुरू की जो उसके बाद के सम्राटों के काल में और भी समृद्ध और विकसित हुए।

मद्यपान सामान्य प्रचलन में था। अकबर का मानना था कि सीमित मात्रा में शराब का सेवन स्वास्थ्य के लिए अच्छा है। अफीम का सेवन भी आम था। भांग एक अन्य नशीला पदार्थ था जिसका सेवन होता था।

16वीं शताब्दी में तम्बाकू के प्रयोग की जानकारी नहीं थी। 17वीं शताब्दी में जब भारत में तम्बाकू का प्रचलन हुआ तो इसका प्रयोग तेजी से फैल गया। वेश्यावृत्ती भी प्रचलित थी।

## बोध प्रश्न 4

1) निम्न को परिभाषित कीजिए ?

**इश्कबाजी** .....

.....

.....

.....

**चन्डाल-मंडल** .....

.....

.....

.....

**कमरगाह शिकार** .....

.....

.....

.....

2) **उर्स** के उत्सवों पर टिप्पणी ?

.....

.....

.....

.....

.....

## 28.5 सारांश

मध्यकाल में शहरी केन्द्र और शहरी जीवन एक विकसित अवस्था में थे। भारत में नगर, शहर और ग्रामीण क्षेत्रों का एक अच्छा मिश्रण थे। इसका स्पष्ट कारण यह था कि अधिकांश शहर वास्तव में गांव का विस्तार ही थे। शहरी जनसंख्या मिली जुली प्रकार की थी। जीवन स्तर में भी विषमतायें थीं। जहां तक और शाही परिवार और उच्च कुलीन वर्ग विलासिता और वैभव का जीवन व्यतीत करते थे वहीं दूसरी ओर शहरी गरीब अत्यंत दरिद्रता का जीवन गुजारते थे। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि मुगलकालीन शहरों के मजदूर और कार्मिक वर्ग की खाद्य पदार्थ खरीदने की क्षमता 19वीं शताब्दी के अपने समकक्ष वर्गों की तुलना में, अधिक थी। इस मान दंड के आधार पर मुगलकालीन शहरी कार्मिक वर्ग 19वीं शताब्दी के ऐसे वर्ग की तुलना में कुछ बेहतर दिखाई देता है।

मुगलकाल में कई सामाजिक कुरितियों जैसे सतीप्रथा, बाल विवाह, शिशु बलि तथा कुछ अन्य प्रथायें जैसे पर्दा, जौहर, आदि प्रचलन में थी। अकबर ने सुधार कुछ लागू किये। उसने जबरदस्ती सती होने की प्रथा पर रोक लगाई। शिक्षा की सुविधा अधिकांश स्त्रियों की पहुंच से बाहर थी। शाही परिवार की महिलाओं को औपचारिक शिक्षा की व्यवस्था थी। मनोरंजन और क्रीड़ा के क्षेत्र में मुगल सम्राटों ने कुछ मौलिक योगदान किया। कुछ नये खेलों का प्रचलन किया (ताश, आदि) तथा कुछ खेलों में किंचित परिवर्तन किये (चौपड, आदि)। धार्मिक त्यौहार और मेलों का ओयोजन आज की ही भांति काफी धूमधाम से किया जाता था। आजकल प्रचलित बहुत से मेलों का प्रारंभ वस्तुत: मुगल काल में हुआ था।

## 28.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) भाग 28.2 देखें। विभिन्न प्रकार के नगरों के उत्थान के कारणों की विवेचना करें।

2) देखें उपभाग 28.3.1 ।

3) i) √ ii) √ iii) ×

**बोध प्रश्न 2**

1) देखें उपभाग 28.4.1 तथा तुलना करें कि क्या मध्यकालीन कार्मिक की स्थिति बेहतर थी।

2) देखें उपभाग 28.4.1

**बोध प्रश्न 3**

1) देखें उपभाग 28.4.2 समकालीन सामाजिक बुराइयों की ओर अकबर की संवेदनशीलता की चर्चा कीजिए। अकबर ने हिन्दु तथा मुसलमानों में प्रचलित कुप्रथायों को सुधारने के प्रयास किये।

2) देखें उपभाग 28.4.2

**बोध प्रश्न 4**

1) देखें उपभाग 28.4.3 (मनोरंजन तथा आनन्दोत्सव)।

2) देखें उपभाग 28.4.3 (त्यौहार और मेले)।

NMDC-268

# इकाई 29 धार्मिक विचार और आंदोलन

## इकाई की रूपरेखा


29.0 उद्देश्य
29.1 प्रस्तावना
29.2 भक्ति आंदोलन का प्रभाव
  29.2.1 विचारधारा
  29.2.2 प्रमुख मत
  29.2.3 भक्ति आंदोलन का प्रभाव
29.3 रहस्यवाद
  29.3.1 सूफी दर्शन
  29.3.2 सैद्धांतिक ग्रंथ
  29.3.3 प्रमुख **सिलसिले**
  29.3.4 **महदवी** आंदोलन
29.4 18वीं शताब्दी में पुनर्रुत्थानवादी इस्लामी आंदोलन
29.5 सारांश
29.6 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 29.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भक्ति आंदोलन की विचारधारा से परिचित हो सकेंगे;
- भक्ति आंदोलन पर विभिन्न मतों पर प्रकाश डाल सकेंगे;
- समाज साहित्य आदि पर भक्ति आंदोलन के प्रभाव को रेखांकित कर सकेंगे;
- इस्लामिक रहस्यवाद, सूफी दर्शन और प्रमुख सूफी सिलसिलों का उल्लेख कर सकेंगे;
- **महदवी** आंदोलन के चरित्र और दर्शन पर प्रकाश डाल सकेंगे; और
- 18वीं शताब्दी के पुनर्रुत्थानवादी आंदोलनों की प्रकृति को समझा सकेंगे।

## 29.1 प्रस्तावना

जब इस्लाम भारतीय उप-महाद्वीप में आया तो उस समय बौध धर्म अपना वर्चस्व खो चुका था। ब्राह्मणवाद धर्म बौध धर्म के सिद्धातों और आर्यों के पूर्व की प्रथाओं को समेटकर अपनी स्थिति मजबूत करने की कोशिश कर रहा था। हालांकि इस्लाम यहां के लिए बिल्कुल नयी चीज़ था पर इसने अपने सार्वभौम, बंधुत्व और मानव समानता के सिद्धांतों की सहायता से भारतीयों को प्रभावित किया। ताराचंद के शब्दों में केवल हिंदू धर्म, हिंदू कला, हिंदू साहित्य और हिंदू विज्ञान में ही मुस्लिम तत्व समाहित नहीं हुए बलिक हिंदू संस्कृति और हिंदू विचारधारा में भी परिवर्तन हुआ और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन के प्रति मुसलमान भी जागरूक हुए इस प्रकार आदान-प्रदान की प्रक्रिया शुरू हुई। अलबरूनी, अमीर खुसरो, अबुल फ़जल, दारा शिकोह आदि मुसलमानों ने हिंदू धर्म को समझने की कोशिश की और हिंदू धर्म के संदर्भ में उन्होंने मुसलमानों की समझ को विकसित करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया। उन्होंने संस्कृत ग्रंथों का फारसी में अनुवाद किया। फिरोज शाह तुगलक, काश्मीर के जैनुल अबीदीन, सिकंदर लोदी, अकबर, जहांगीर आदि ने इस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। इसका एक परिणाम यह हुआ कि मिर्जा मजहर जान जाना ने 18वीं शताब्दी में राम और कृष्ण को पैगम्बर के रूप में घोषित कर दिया।

धर्म, खासकर भक्ति और सूफी, के क्षेत्रों में दो महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों की झलक इस काल में मिलती है। आगे आने वाले भागों में हम इस पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

NMDC-268

## 29.2 भक्ति आंदोलन

भारत में मुसलमानों के आगमन के समय शंकराचार्य के सर्वेश्वरवादी दर्शन के बावजूद हिंदू समाज में ईश्वरवाद, वैष्णववाद और शाक्त संप्रदाय के अनुयायी शामिल थे। पर कुछ ऐसे भी बुद्धिजीवी थे जिन्हें (कर्म मार्ग) कर्म के पथ पर विश्वास नहीं था बल्कि वे मुक्ति के लिए (ज्ञान मार्ग) ज्ञान के मार्ग को अधिक उपयुक्त मानते थे। इन विचारों के प्रतिपादकों की आपसी मत भिन्नता ने मनुष्य के वास्तविक नैतिक व्यवहार मनुष्य के जीवन के बेहतर होते स्तर और पृथ्वी पर उसके इच्छित भाग्य की पूर्ति को पूरी तरह नज़रअंदाज कर दिया। अपनी समस्त दार्शनिक और अनुष्ठानिक प्रकृति के साथ ब्राह्मणवाद एक बौद्धिक सिद्धांत बन कर रह गया। इसने लोगों की व्यक्तिगत धार्मिक आकांक्षा को नजरअंदाज किया। इसका मूलभूत सिद्धांत अवैयक्तिक और चिंतन पर आधारित था। लोग एक ऐसे नैतिक और भावनात्मक पंथ की खोज में थे जो उनके हृदय को तृप्त कर सके और उन्हें नैतिक दिशा दिखा सके। पर ऐसा दार्शनिक ब्राह्मणवाद लोगों की समझ के बाहर था। इन परिस्थितियों में भक्ति का उदय हुआ जिसमें भक्ति के साथ-साथ भगवान के साथ प्रेम करने की बात भी कही गयी थी।

### 29.2.1 विचारधारा

इस विचारधारा की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें आत्मा को ईश्वर के साथ बिल्कुल आत्मसात कर दिया गया है। भक्ति शब्द का उल्लेख 8वीं शताब्दी ईसा पूर्व में पाली साहित्य में मिलता है। भागवत गीता, बौध-पूर्व काल के ग्रंथों और छानदोग्य उपनिषद् में एक व्यक्तिगत भगवान के प्रति भक्ति के उदय का संकेत मिलता है। रूढ़ बौद्धिकतावाद की प्रक्रिया के रूप में भक्ति का जन्म हुआ। अत: वेबर के इस कथन को स्वीकार करना कठिन है कि भक्ति एक विदेशी विचारधारा है और यह इसाई धर्म के माध्यम से भारत पहुंचा। बार्थ और सेनार्ट जैसे विद्वानों का भी मानना है कि भक्ति का जन्म भारत में हुआ था और यह भारतीय विचारधारा का ही प्रतिफलन है। पर इसका मतलब यह बिल्कुल नहीं है कि अपने विकास की प्रक्रिया में इसने बाहरी प्रभाव ग्रहण ही नहीं किया खासकर भारत में इस्लाम के आगमन के बाद। हालांकि हिंदूओं का प्रारंभिक दृष्टिकोण हमेशा से पुरानी मान्यताओं पर आधारित था पर इसमें काफी सुधार आया है।

भागवत् गीता के काल से लेकर 13वीं शताब्दी तक भक्ति का विकास होता रहा और क्रम में परम्परागत क्लासीकल दर्शन और व्यक्तिगत ईश्वर के बीच समझौते की प्रक्रिया चलती रही। भागवत् गीता के लेखों का उद्देश्य एक निश्चित दर्शन प्रतिपादित करना नहीं था बल्कि हिंदू दर्शन के विभिन्न मतों के बीच सामंजस्य स्थापित करना था। भागवत् गीता के अंतर्गत भक्ति में एक ईश्वर और सर्वेश्वरवाद को मिला दिया गया है।

इस प्रकार 13वीं शताब्दी में जब इस्लाम भारत के अंदरूनी इलाकों में प्रवेश करने लगा तब भक्ति काफी हद तक वैदिक बौद्धिकतावाद के घेरे में पड़ी हुई थी। यह भी उल्लेखनीय है कि भागवत् गीता में जाति विभेद को स्वीकार किया गया है।

### 29.2.2 प्रमुख मत

भक्ति की अवधारणा को कई स्तरों और कई दृष्टिकोणों से परिभाषित और विश्लेषित किया गया। अत: एक दक्षिण भारतीय शैव ब्राह्मण शंकरा ने अद्वैत (एकेश्वरवाद) का सिद्धांत प्रतिपादित किया और उपनिषद् में दिए गए ज्ञान के द्वारा मुक्ति के सिद्धांत का प्रचार प्रसार किया। रामानुज एक दूसरे भारतीय ब्राह्मण थे जिन्होंने अद्वैतवादी होते हुये भी यह स्वीकार नहीं किया कि ईश्वर रूप और गुणों से परे हो सकता है। भक्ति के माध्यम से ही मुक्ति हो सकती है और भक्ति योग सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहस्यवादी प्रशिक्षण है। भक्त और ईश्वर का आपसी संबंध पूर्ण संबंध का एक कण था। प्राप्ति मुक्ति का दूसरा साधन था। रामानुज के भगवान में व्यक्ति तत्व की प्रधानता थी उनका मानना था कि जिस प्रकार मनुष्य को ईश्वर की आवश्यकता होती है उसी प्रकार ईश्वर को भी मनुष्य की आवश्यकता होती है। ईश्वर अपने में से ही व्यक्तिगत आत्मा का निर्माण करता है। पुन: यह आत्मा परमेश्वर में हमेशा के लिए लीन हो जाती है। उसका अलग अस्तित्व भी होता है। रामानुज के इस मत को विशिष्ट अद्वैतवाद कहा जाता है।

NMDC-288

भागवत् पुराण के संस्कृत संस्करण के भारतीय भाषाओं में अनुवादित होने से हिंदू धर्म में भक्ति की अवधारणा तेजी से फैली।

रामानुज के शिष्य (1360-1470) ने नये पंथ की स्थापना की। मध्यकालीन भारत के धार्मिक इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। उन्होंने तुगलकों के अधीन, उत्तर भारत में इस्लाम के विकास की बेहतर जानकारी दी। उन्होंने पूरे भारत का भ्रमण किया, विचार एकत्र किये और उनका सावधानी पूर्वक निरीक्षण किया। उन्होंने हिंदू अनुष्ठानों की रूढ़िवादिता का विरोध किया और उनके अनुयायी अद्वधुता (असंबद्ध) के नाम से प्रसिद्ध हुये और उन्होंने अपने को सभी प्रकार के धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों से मुक्त कर लिया। पर वे अतीत से बहुत दूर तक जाने को तैयार नहीं थे। इसी कारण अपने आनंद भाष्य में उन्होंने शुद्रों द्वारा वेद पढ़ने के अधिकार को मान्यता प्रदान नहीं की। इस प्रकार रामानंद से सामाजिक समानता की आशा नहीं की जा सकती थी। इसके बावजूद रेदास और कबीर जैसे व्यक्ति उनके शिष्य हुए। रामानन्द की शिक्षा से हिंदुओं में दो विचारधाराओं का उदय हुआ। इन्हें सगुण और निर्गुण के रूप में जाना जाता है। सगुण धर्म से तुलसीदास का नाम जुड़ा हुआ है जिन्होंने धार्मिक भक्ति को साहित्यिक रूप प्रदान किया। राम को एक अवतार मानते हुये और व्यक्तिगत रूप से उसकी आराधना करते हुए इस मत के अनुयायियों ने राम को लोकप्रियता दिलाई और इसके साथ-साथ वेदों की मान्यता भी बनाए रखी।

कबीर दूसरे मत का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्होंने एकेश्वरवाद का प्रचार किया। वर्णाश्रम व्यवस्था को समाप्त करने की बात की और वेदों और अन्य पवित्र ग्रंथों की सर्वोच्चता पर प्रश्न चिह्न लगाया। कबीर मत के अनुयायियों ने इस्लाम धर्म को समझने की कोशिश की और उन्होंने उसके आधारभूत सिद्धांतों को अपनाने का उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया। इसी कारण सूफी साहित्य में भी उनका उल्लेख मिलता है। 17वीं शताब्दी में मिरात उल असर में उन्हें फिरदोसिया सूफी कहा गया है। दाबिस्तान-ए-मजाहिब ने कबीर को वैष्णववादी वैरागियों की पृष्ठ भूमि में देखा है। अबुल फज़ल ने कबीर को मुवाहिद (एकेश्वरवादी) कहा है। कबीर के दर्शन पर आधारित प्रमुख ग्रंथ बीजक के तौर पर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने कभी भी धर्म की स्थापना की बात नहीं सोची थी। यह प्रवृत्ति उनके देहांत के बाद पनपी। वे मुख्य रूप से भक्ति द्वारा प्रतिपादित समन्वय की अवधारणा को स्वीकार करते थे और जिन लोगों ने उनसे जुड़ने की कोशिश की उन्होंने उनका स्वागत किया। सर्वोच्च ईश्वर में विश्वास उनकी अवधारणा का मूल आधार था। उनका यह मानना था कि ज्ञान या कर्म से नहीं बल्कि भक्ति से ही मुक्ति संभव है। उन्होंने न तो हिंदुओं का पक्ष लिया और न मुसलमानों का बल्कि उनमें निहित अच्छे तत्वों की प्रशंसा की।

### सिख धर्म

भारतीय दर्शन और विचारधारा में गुरू नानक के उपदेश और दर्शन का विशेष महत्व है। उनके दर्शन में 3 तत्व प्रमुख हैं (गुरू, शबद और संगत)। गुरू नानक ने प्रचलित धार्मिक विचारों का मूल्यांकन और आलोचना की और एक सच्चे धर्म की स्थापना करने का प्रयास किया जो उन्हें मुक्ति की ओर ले जा सकता था। उन्होंने मूर्ति पूजा का विरोध किया, तीर्थ स्थानों की यात्रा का समर्थन नहीं किया और न ही अवतारवाद के सिद्धांत को माना। उन्होंने रूपवाद और अनुष्ठानवाद का भी विरोध किया। उन्हें ईश्वर की एकता पर विश्वास था और उनका मानना था मुक्ति के लिए एक सच्चे गुरू का होना आवश्यक है। उन्होंने लोगों को आचार और पूजा के सिद्धांतों का पालन करने को कहा : सच, हलाल, खैर, नियत और ईश्वर की सेवा। नानक ने जाति प्रथा की भी भर्तसना की और इससे पैदा होने वाली असमानता का भी विरोध किया। उनके अनुसार किसी व्यक्ति के व्यवहार और कार्यों के आधार पर जाति और सम्मान निर्धारित होना चाहिए। वे मनुष्य के सार्वभौम बंधुत्व, पुरुष और नारी की समानता में विश्वास रखते थे। उन्होंने नारी मुक्ति की दिशा में भी काफी प्रयत्न किये और सती-प्रथा का विरोध किया। नानक ने ब्रह्मचर्य और शाकाहारिता का समर्थन नहीं किया। उन्होंने न्याय, न्यायोचित और स्वतंत्रता जैसी अवधारणाओं पर बल दिया। नानक के पदों में मुख्य रूप से दो अवधारणाएँ शामिल हैं : सच और नाम। शबद (शब्द), गुरू और हुक्म (ईश्वर का आदेश) ईश्वर आत्माभव्यक्ति के आधार बनते हैं। उन्होंने कीर्तन और सतसंग पर भी बल दिया। उन्होंने सांप्रदायिक भोज (लंगर) की शुरुआत की। ताराचंद के अनुसार नानक पर सूफियों का प्रभाव था। नानक और बाबा फरीद के पदों में विचारों की समानता देखी जाती है। इन दोनों में निष्ठापूर्ण समर्पण और एकेश्वर के प्रति समर्पण का भाव मिलता है। पर इसी के साथ-साथ गुरू नानक ने ऐश्वर्यपूर्ण जिंदगी व्यतीत करने के लिए सूफियों की आलोचना भी की। गुरू

NMDC-268

नानक ने हिंदूओं और मुसलमानों को एक करने की कोशिश की और निश्चित रूप से उन्होंने अपने उपदेशों में हिंदू धर्म और इस्लाम की आधारभूत अवधारणाओं को शामिल करने की कोशिश की। सिखों के धार्मिक ग्रंथ गुरू ग्रंथ साहब का संकलन गुरू अर्जुन ने किया था। 10वें गुरू गोविंद सिंह की मृत्यु के बाद ईश्वरीय तत्व दूसरे गुरू को हस्तांतरित नहीं हुआ और यह ग्रंथ और संप्रदाय के लोगों में समाविष्ट हो गया।

ये गुरू मुख्य रूप से खत्री , व्यापारिक जाति के थे और उनके अनुयायी मुख्य रूप से ग्रामीण जाट थे। गुरू गोविंद सिंह ने सिखों के बीच खालसा (बंधुत्व) का प्रतिपादन किया। सिख सम्प्रदाय के अंतर्गत खत्री और अरोड़ा के साथ-साथ जाट भी शामिल हैं। राम गढ़िया सिख के रूप में जाने जाने वाले शिल्पकार और अनुसूचित जाति से सिख धर्म में परिवर्तित लोग हुये। सिख पंथ में जातिगत चेतना अस्तित्व में थी पर इसका महत्व अधिक नहीं था।

दादू (लगभग 1544-1603) भी कबीर के सिद्धातों से प्रभावित थे। दोहों और कविताओं के अपने संग्रह बाणी में उन्होंने अल्लाह, राम और गोविंद को अपना गुरू माना है। दादू के ब्रह्माण्ड ज्ञान और आत्मा शुद्धि जैसे विचारों पर सूफी प्रभाव दिखाई पड़ता है। 18वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के पतन के बाद दादू पंथ नागाओं या पेशेवर लड़ाकुओं में तबदील हो गया।

### बोध प्रश्न 1

1) भक्ति आंदोलन के दो प्रमुख मतों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भक्ति आंदोलन की विचारधारा पर संक्षिप्त में विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) सिख धर्म के प्रमुख विचारों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

### मराठा वैष्णव धर्म

वैष्णव धर्म के मराठा पंथ या भागवत् धर्म का लम्बा इतिहास है। 13वीं शताब्दी के अंत तक महाराष्ट्र के कवि संतों ने भक्ति आंदोलन के दर्शन से इसे समृद्धि और तीव्रता दी। इनमें सर्वप्रमुख ज्ञानेश्वर हैं वे एक ब्राह्मण थे और उन्हें मराठा वैष्णव धर्म का महान प्रतिपादक बताया जाता है। उन्होंने भागवत् गीता पर भावार्थ दीपिका या ज्ञानेश्वरी नाम से मराठी टीका लिखी थी। इस आंदोलन का मुख्य केंद्र पंढरपुर था। बाद में पंढरपुर स्थित विठोबा का पूजा-स्थल महाराष्ट्र में भक्ति आंदोलन का प्रमुख आधार बन गया। पंढरपुर का कृष्ण भक्ति आंदोलन, मंदिर और मूर्ति से गहरे रूप में जुड़ा हुआ था। पर इसकी प्रकृति मुख्य रूप से मूर्ति पूजा पर ही आधारित नहीं थी, विठोबा का महत्व एक साधारण देवता से कहीं ज्यादा था, इसका महत्व प्रतीतात्मक था।

NMDC-268

इस वैष्णव धर्म की मुख्य विशेषता इसका अनुष्ठान विरोधी और जाति विरोधी होना था। महाराष्ट्र के इस वैष्णववादी, अनुष्ठान विरोधी और जाति विरोधी आंदोलन की तुलना उत्तर भारत के अन्य रूढ़िवादी आंदोलन से की जा सकती है।

कवि संतों ने समाज के निचले हिस्से तक धर्म को पहुँचाने की कोशिश की। इन्होनें भागवत् गीता को मराठी धुनों में संगीतबद्ध किया। ज्ञानेश्वर ने महाराष्ट्र में भागवत् धर्म की आधारशिला रखी और विठोबा की मूर्ति की स्थापना करने वाले और उन्हें पूजने वाले बरकरी पंथ को बढ़ावा दिया। विठोबा बरकरी पंथ के भगवान थे। इसके अनुयायी गृहस्थ होते थे जो साल में दो बार विठोबा के दर्शन हेतु जाया करते थे। इसकी सदस्यता में जाति के आधार पर कोई बंधन नहीं था। अतिशुद्र कुम्हार, माली, माहार (जाति बहिष्कृत) और अलुते-बलुतेदारों को भी इसमें शामिल किया गया। संत चोका, गोरा कुम्हार, नरहसि सुनार, बंका माहार आदि हरिजन संत थे।

ज्ञानेश्वर के काल में नामदेव (दर्जी), तुकाराम, रामदास और एकनाथ (ब्राह्मण) प्रमुख मराठी संत थे। उन्होंने ज्ञानेश्वर की परम्परा को आगे बढ़ाया। तुकाराम और रामदास (शिवाजी के गुरू) ने भी जाति विरोधी और अनुष्ठान विरोधी मान्यताओं का प्रचार किया। एकनाथ ने लोक भाषा मराठी में अपनी रचनायें प्रस्तुत कीं। उन्होंने माराठी साहित्य में अध्यात्मवाद की जगह वर्णानात्मक रचनाओं पर विशेष बल दिया। उन्होंने अवंग ओर छंद (दोहा) के रूप में अपने उपदेश प्रस्तुत किये जिसे गाथा के नाम से जाना जाता है। यह मराठा वैष्णव वाद के अध्ययन के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत है। धार्मिक निर्देश के लिए वरकरी मराठा संतों ने कीर्तन और निरूपण जैसी नयी विधियों का विकास किया। इस मराठा आंदोलन ने मराठी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन संतों ने लोक भाषा का उपयोग किया जिसके कारण मराठी को साहित्यक भाषा की गरिमा प्राप्त हुई। वरकरी सम्प्रदाय के साहित्य से हमें इस आंदोलन की अकुलीन या जन प्रवृत्ति का पता चलता है। इस आंदोलन ने कुनबियों (किसानों), बनियों (व्यापारियों), शिल्पियों आदि को संबोधित किया। एम. जी. रानाडे बताते हैं इस आंदोलन के दौरान लोक साहित्य का तेजी से विकास हुआ और इसने निम्न जाति के उत्थान में सहायता की।

## गौड़िया वैष्णववाद

गौड़िया वैष्णववाद आंदोलन और चैतन्य आंदोलन (तब वैष्णव आंदोलन) ने चैतन्य के जीवन और शिक्षा से प्रभाव ग्रहण किया और इसका प्रभाव आसाम, बंगाल और उड़ीसा के लोगों के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन पर पड़ा। लोग केवल उनके उपदेशों से ही प्रभावित नहीं हुये बल्कि उन्हें ईश्वर के अवतार के रूप में पहचानने लगे। पहले हम चैतन्य के काल से पूर्व के बंगाल और उड़ीसा की सामाजिक और धार्मिक स्थितियों का सर्वेक्षण कर लें । सामाजिक ढाँचा वर्णाश्रम पर आधारित था। शुद्रों और निम्न जातियों पर तरह-तरह के जुल्म ढाये जाते थे। शाक्त-तांत्रिक जैसे धार्मिक पंथों का वर्चस्व कायम हो रहा था। बंगाल की मध्यकालीन भक्ति वैष्णव और गैर वैष्णव बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म से प्रभावित थी। जयदेव का **गीत गोविंद** पालवंश के शासन काल में लिखा गया जिसमें राधा और कृष्ण के प्रेम को श्रृंगारिक रहस्य वाद का आवरण प्रदान किया गया है। बौद्ध धर्म भी पतन की ओर उन्मुख था और इस पतनोन्मुख बोद्ध धर्म ने वैष्णववाद को प्रभावित किया जिसने बंगाली भक्ति आंदोलन को प्रभावित किया। इसमें मुख्य रूप से श्रृंगार, नारी वर्णन और भोगवाद पर बल दिया गया है। चैतन्य के पूर्व बंगाल और उड़ीसा में ब्राह्मणों द्वारा निम्न वर्ग की जातियों पर जुल्म ढाए जाते थे। एक भक्त कवि चंडीदास, **गीत गोविंद** और सहजिया सिद्धांतों (बौद्ध धर्म) दोनों से ही प्रभावित थे। सामाजिक और धार्मिक पतन के दौर में चैतन्य आन्दोलन ने आगे बढ़कर महत्वपूर्ण बदलाव किये। इस आंदोलन के प्रतिपादक चैतन्य ने अपने आपको सभी प्रकार की सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त रखा। मूलभूत रूप में यह सामाजिक सुधार आंदोलन नहीं था हालांकि इसने जातिगत बाधाओं को नकार दिया था। ब्राह्मण होने के बावजूद चैतन्य ब्राह्मणों की सर्वोच्चता में विश्वास नहीं रखते थे। उन्होंने खुले रूप में जाति संबंधी नियमों का उल्लंघन किया और निम्न वर्गीय जातियों के साथ मेल-मिलाप रखा। **चैतन्य भागवत्** के लेखक वृंदावन दास ने बताया है कि किस प्रकार उन्होंने निम्न जातियों के साथ मेल-जोल रखा। उन्होंने ब्राह्मणवाद के प्रतीकों को नकार दिया। नव वैष्णववाद आंदोलन समाज के अछूत माने जाने वाले वर्गों को साथ लेकर चला।

भक्ति सिद्धांत के प्रभाव में मीरा एक महत्वपूर्ण कवियत्री के रूप में उभरी और उन्होंने कृष्ण भगवान को अपना प्रेमी और आराध्य बनाया। अपनी कविता **पदावली** में उन्होंने अपने को शुद्ध आत्मा कहा है और

NMDC-268

कृष्ण के प्रति अपने को पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया है और सांसारिक जीवन की ओर से मुँह मोड़ लिया। मीरा ने मूर्ति पूजा और विशेष व्रत जैसे पक्षों पर बल दिया है।

### 29.2.3 भक्ति आंदोलन का प्रभाव

भक्ति के सिद्धांत ने समकालीन समाज को कई रूपों में ऊपर उठाया। भोजपुरी, मगधी और मैथिली (बिहार), अवध क्षेत्र की अवधी, मथुरा क्षेत्र की ब्रजभाषा और राजस्थानी, पंजाबी, कश्मीरी, सिंधी और गुजराती जैसी बहुरूपीय बोलियों को नया स्वरूप प्रदान किया। भक्ति काल के प्रमुख कवियों के लेखन से तमिल और मराठी साहित्य में अभूतपूर्व विकास हुआ। कृष्ण भक्ति से संबंधित चैतन्य सम्प्रदाय के गीत, संगीत कथाओं और नाटकों से बंगाली साहित्य समृद्ध हुआ (देखिए इकाई 31)।

साहित्य के अलावा भक्ति सिद्धांत एवं संतों के प्रयास से सामाजिक धार्मिक अवधारणाओं में भी परिवर्तन हुआ जिसके कारण मध्य काल में सामाजिक परिवर्तन की भूमिका निर्मित हुई। यह सही है कि भक्ति आंदोलन मूलत: देशी है पर इस देश के मुसलमानों का भी इस पर गहरा प्रभाव पड़ा। यह केवल दोनों धर्मों का मिलन स्थल ही नहीं है बल्कि इसने खुले रूप में मनुष्य की समानता का प्रतिपादन किया था और कर्मकांड और जातिभेद का जमकर विरोध किया है। यह मूलत: नयी विचारधारा थी जो पुरानी परम्पराओं से अलग थी और इसके धार्मिक विचार भी नये प्रकार के थे। यह पूरी जीवन पद्धति को नये ढंग से सवांरना चाहती थी। इसने नये और समानता के आधार पर समाज का निर्माण करने का उद्देश्य अपने सामने रखा और एक नैतिक आध्यात्मिक ढाँचे के निर्माण की कोशिश की।

**बोध प्रश्न 2**

1) समकालीन समाज और साहित्य पर भक्ति आंदोलन का क्या प्रभाव पड़ा?

.....

.....

.....

.....

.....

2) मराठा वैष्णववाद की मुख्य विशेषतायें क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3) गौड़िया वैष्णव आंदोलन की पृष्ठभूमि पर विचार कीजिए। इसकी मुख्य विशेषतायें क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

## 29.3 रहस्यवाद

रहस्यवाद धर्म का ही एक प्रतिफलन है। ईश्वरीय गुणों एवं आज्ञा और जगत पर उसके प्रभाव के संदर्भ में समय-समय पर कई विचार उत्पन्न हुए और इन्हीं विवादों के बीच से सभी इस्लामी आंदोलनों का जन्म हुआ। इस्लाम के धार्मिक और आध्यात्मिक आंदोलन से राजनैतिक आयाम भी जुड़ा हुआ है। अत:

NMDC-268

धार्मिक आंदोलन के कई प्रतिपादकों ने अपनी विचारधारा को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से राज्य का समर्थन प्राप्त करना चाहा। काफी समय से **इल्लमुलकलाम** (कट्टरपंथ को तर्कसंगत ढंग से समर्थन देने की विचारधारा) और यूनानी दर्शन से प्रभावित और ईश्वर के साक्षातीकरण पर बल देने वाले विचारकों के बीच द्वंद्व चल रहा था। सब प्रकार के प्रयासों के बावजूद कट्टर धर्मशास्त्री न तो दर्शन के अध्ययन को रोक सके और न ही शासकों को दार्शनिकों को संरक्षण देने से रोक सके। सूफी सिद्धांत ने इस्लामी दर्शन का तीसरा दृष्टिकोण सामने रखा।

## 29.3.1 सूफी दर्शन

दार्शनिक उस मूल तत्व के स्वरूप को तर्क का आधार देने का प्रयत्न कर रहे थे और कलाम के विद्वान ईश्वर को अनुभव से परे मान रहे थे अर्थात् ईश्वर का न तो साक्षात्कार किया जा सकता है न उसे आत्मसात किया जा सकता है। इन सबसे अलग सूफी वाद अंतर्ज्ञानी और आध्यात्मिक प्रयासों के द्वारा उस ईश्वर के साथ आत्मसात होने की आंतरिक अनुभूति की बात करता है। तर्क को नकारते हुए सूफियों ने मनन और ध्यान करने पर बल दिया।

भारत के अठारवीं शताब्दी के एक प्रमुख विद्वान शाह वलिउल्लाह के विश्लेषण के अनुसार सूफी धर्म इस्लाम के गोपनीय पक्ष को न्यायोचित ठहराता है जिसमें नैतिक आचरण के द्वारा हृदय को पवित्र करने की बात कही गई है। इस्लामी सिद्धांत में इस आयाम को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अल्लाह की इबादत करते हुए ध्यान रखना चाहिए कि भक्त अल्लाह को देख रहा है और वह भक्त को देख रहा है।

सूफी पंथ चार चरणों में विभक्त है। प्रथम चरण की शुरुआत पैगम्बर मोहम्मद और उनके सहयोगियों द्वारा होती है और यह बगदाद के सूफी शेख जुनैद के समय (मृत्यु 910 ) तक जारी रहता है। इस काल में सूफियों ने अपने को प्रार्थना (**नमाज**), उपवास (**रोजा**) और ईश्वर का नाम लेने (**जिक्र**) तक सीमित रखा। जुनैद के काल में सूफी अपने को ध्यान और मनन में लीन रखते थे। इस दौरान आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त होता था जिसे प्रतीकात्मक रूप में या असामान्य मुहावरों द्वारा व्यक्त किया जाता था। इस चरण में सूफियों ने **समा** (धार्मिक संगीत) के भावनात्मक प्रभाव पर विशेष बल दिया। भौतिक इच्छाओं से अपने को बचाने के लिए सूफियों ने आत्मग्लानि की प्रथा की शुरुआत की। संसार की माया और भौतिक सुख सुविधाओं से अपने को दूर रखकर सूफी दूरदराज के जंगलों और पहाड़ों पर जीवन व्यतीत करने लगे।

शेख अबु सैयद बिन अबुल खैर (मृत्यु 1049) के साथ तीसरे चरण की शुरुआत हुई। अब हर्षातिरेक दूरसंवेदन पर जोर दिया जाने लगा और इसके माध्यम से आध्यात्मिक संवाद कायम किया गया। भौतिक और शाश्वत को एकाकार किया गया और इसमें उनका व्यक्तित्व समाहित हो गया तथा सूफियों ने नियमित प्रार्थना, उपवास आदि भी छोड़ दिया।

चौथे चरण में सूफियों ने मूल तत्व (**वाज़िब उल वजूद**) से पाँच अवस्थाओं में अवरोहण सिद्धांत ग्रहण किया। यहीं से **वहादत-उल वजूद** की समस्या शुरू हुई।

बायजिद बुस्तानी (मृत्यु 874 या 877-78) ने सूफी धर्म के इतिहास में महत्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका अदा की। वह ईरानी था। उसने **फना** (अस्तित्व मिटाना) की अवधारण से परिचित कराया। इसके अनुसार मनुष्य अपने अस्तित्व को ईश्वर में डूबो देता है, यह एक ऐसी स्थिति है जहां रहस्यवादी को शाश्वत जीवन (**बका**) की अनुभूति होती है।

बायजीद के चिंतन को जुनैद के एक शिष्य हुसैन इब्न मन्सूर अल हल्लाल ने आगे बढ़या। उसके रहस्यावादी सिद्धात **अन अल हक** (मैं सत्य या ईश्वर हूँ) ने फारस और भारत में रहस्यावादी विचारों के अभ्युदय में महत्वपूर्ण भमिका निभाई। कई सिलसिलों की स्थापना हुई और दूर दराज इलाकों में शिष्यों को नियुक्त करने की प्रथा चली। तीसरे चरण में इस प्रवृत्ति में तेजी आई और कई प्रमुख सूफी संत भारत आए। भारत आने वाले सूफी संतों में शेख सफीउद्दीन गजिरूनी और अबुंल हसन अली बिन उस्मानी अल-हुजवारी उल्लेखनीय हैं।

NMDC-268

## 29.3.2 सैद्धान्तिक ग्रंथ

हुजवारी का **काशफ-उल-महजूब** और शेख शहाबुद्दीन सुहरवर्दी कृत **अवारिफ-उल-मआरिफ** दो प्रमुख सूफी धर्म ग्रंथ हैं। इनमें मोहम्मद साहब के दिनों से लेकर सभी सूफियों की जीवनी और विचारधाराओं का उल्लेख हुआ है। दोनों **शरियत** (इस्लाम के सिद्धांत) की सर्वोच्चता स्वीकार करते हैं। इनमें कहा गया है कि सूफियों को अनिवार्य रूप से शरियत का पालन करना चाहिए। उनके अनुसार **शरियत, मारिफत** (अध्यात्म विद्या) और **हकीकत** (यथार्थ) एक दूसरे के पूरक हैं।

## 29.3.3 प्रमुख सिलसिले

13वीं शताब्दी तक आते-आते सूफी धर्म चौदह सिलसिलों में विभक्त हो गया। शेख शहाबुद्दीन के कुछ शिष्य भारत आए, पर शेख बहाउद्दीन जकारिया भारत में सुहरवर्दी सम्प्रदाय का असली संस्थापक था। उसने अपने को दरबार से जोड़ लिया और 1228 ई. में इल्तुतमिश ने उसे **शेख-उल-इस्लाम** नियुक्त किया। इसके बाद से सुहरवर्दी सिलसिले शासन व्यवस्था से जुड़े रहे और राजनैतिक गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे। शेख रूकनुद्दीन इस सिलसिले का महान संत था जिसे दिल्ली के सुल्तानों ने खूब सम्मान दिया। उसके अनुसार एक सूफी के पास तीन चीजें होनी चाहिए : सम्पत्ति (कलंदर की भौतिक मांगों की पूर्ति के लिए), ज्ञान (उलेमा के साथ प्रश्नों पर विद्वतापूर्वक बहस करने के लिए) और हाल (रहस्यवादी अंतर्ज्ञान, दूसरे सूफियों को प्रभावित करने के लिए)। उसकी मृत्यु (1334-35) के बाद सुहरवर्दी सिलसिला मुल्तान के बाहर अन्य प्रांतों में भी विकसित हुआ और कच्छ से गुजरात, पंजाब, कश्मीर और यहां तक कि दिल्ली तक फैला। फिरोजशाह तुगलक के अधीन इस सिलसिले को सैयद जलालुद्दीन बुखारी ने प्रतिष्ठा दिलवाई। वह एक कट्टर और शुद्धतावादी मुसलमान था और मुस्लिम सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं पर हिंदूओं के बढ़ते प्रभाव का विरोध करता था। कुतुब आलम और शाह आलम इस सिलसिले के प्रमुख संत हैं। इन्होंने अपने समय के राजनीतिक शासकों को प्रभावित किया था।

इसी के साथ-साथ 14वीं शताब्दी में **फिरदौसिया** नामक एक और **सिलसिला** उदित हुआ। शेख शर्फुद्दीन अहमद याहया इस समय के प्रमुख संत थे। वे **हादत उल वजूद** के प्रबल समर्थक थे।

चिश्ती सिलसिला भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसे लोगों के बीच सम्मान भी प्राप्त हुआ और इसने भारत में सूफी धर्म की नींव भी मजबूत की। इसकी स्थापना ख्वाजा चिश्ती (मृत्यु 966) ने की थी और भारत में इसे ख्वाजा उसमान हारूनी के शिष्य ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती लेकर आए। दुर्भाग्यवश हमें उनके जीवन का कोई विश्वस्त दस्तावेज उपलब्ध नहीं है। जो कुछ भी उनके जीवन के बारे में मालूम है वह उनके प्रति विभिन्न संतों की श्रद्धांजलि के रूप में उपलब्ध है। उनका जन्म 1143 में सिस्तान में हुआ था और वे मोहम्मद गोरी के आक्रमण के ठीक पहले भारत पहुँचे थे। अपने गुरू के परामर्श पर 1190 में वे भारत पहुँचे और अंतत: अजमेर में बस गए। ऐसा माना जाता है कि उनकी मृत्यु 1234 में हुई थी।

ख्वाजा मुईनुद्दीन के कथनों से प्रतीत होता है कि वे ईश्वर के समक्ष अपनी दीनता, लघुता और भक्ति प्रकट करते हैं। उनके अनुसार जो ईश्वर को जानते हैं वे दूसरे लोगों में घुलना मिलना पसंद नहीं करते और ईश्वर से संबंधित ज्ञान पर मौन रहते हैं। उनकी मृत्यु के बाद, उनके शिष्यों की देखरेख में इस **सिलसिले** ने उल्लेखनीय प्रगति की।

चिश्ती संत संगीत के आध्यात्मिक प्रभाव में विश्वास रखते थे। ख्वाजा मुइनुद्दीन के शिष्य ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी का संगीत सुनते हुए आनंदातिरेक की अवस्था में देहावसान हुआ था। वे दिल्ली में रहते थे ओर यहां के लोगों पर उनका जबरदस्त प्रभाव था।

ख्वांजा फरीदउद्दीन मसूद ख्वाजा कुतुबुद्दीन के खलीफा (उत्तराधिकारी) थे। उन्होंने अपने को राजनेताओं और धनी तथा शक्तिशाली व्यक्तियों से अलग रखा। उसने अपने शिष्य सैयदी मौला को सलाह दी थी : "राजाओं और कुलीनों से मित्रता मत करो। उनके घर जाना तुम्हारे लिए घातक होगा (तुम्हारे ज्ञान के लिए)। राजाओं और कुलीनों से मित्रता करने वाले हर दरवेश का अंत बुरा होता है।' ऐसा ही संदेश उन्होंने अपने प्रमुख शिष्य शेख निजामुद्दीन औलिया को भेजा था और कहा था कि राजाओं से दूर रहो। बाबा फरीद का 1265 में 93 वर्ष की आयु में देहावसान हुआ।

NMDC-268

शेख निजामुद्दीन उनके प्रमुख शिष्य थे। हालांकि उनके जीवन काल में दिल्ली में सात सुल्तानों का शासन हुआ पर उन्होंने कभी दरबार के अंदर कदम नहीं रखा। शेख के उदारवादी दृष्टिकोण और संगीत से उनके जुड़ाव के कारण कट्टरपंथी उलेमाओं ने उनकी निंदा की। 1325 में उनकी मृत्यु के बाद भी शेख को बहुत सम्मान मिला और अभी भी उन्हें महान् आध्यात्मिक शक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है। उन्होंने लोगों को ईश्वर से प्रेम करना सिखाया और सांसारिक मामलों से मुक्त होने की सलाह दी। प्रेम मार्ग से ही ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है- यह उनकी शिक्षा का मूल सार था। उन्होंने यह भी बताया कि मानव प्रेम से ईश्वर प्रेम पूर्णतया प्राप्त होता है। उनके अनुसार सामाजिक न्याय और सहिष्णुता इस्लाम के अंग हैं।

शेख निजामुद्दीन का यह प्रेम का संदेश उनके शिष्यों द्वारा देश के कोने-कोने में ले जाया गया। शेख सिराजुद्दीन उस्मानी इस संदेश को बंगाल तक ले गये। शेख अलाउद्दीन अलाउल हक उनके उत्तराधिकारी बने और वह पूर्वी भारत में इस संदेश का प्रचार करते रहे। शेख निजामुद्दीन के एक अन्य शिष्य शेख बुरहानुद्दीन दौलताबाद में बस गए और वहां उनके शिष्य शेख जैनुद्दीन और शाह बरकतुल्ला ने समानता और मानवता का संदेश फैलाया। ये लोग आंतरिक प्रकाश और हृदय के धर्म के प्रचारक और पुजारी थे।

यहां एक बात ध्यान देने की है कि अपने गूढ़ ज्ञान के बावजूद मुस्लिम संत जीवन के यथार्थ से कटे हुए नहीं थे। वे आध्यात्मिक ज्ञान और आनंदातिरेक के लिए जीवन के सामाजिक नैतिक आयाम को छोड़कर आगे बढ़ने में विश्वास नहीं रखते थे। इसीलिए उन्होंने न्याय और परोपकार की मांग की। कुरान में यह बात कही गई है कि प्रार्थना लोगों की सेवा से जुड़ी हुई है, सेवा से कटी प्रार्थना अधूरी और अप्रभावी होती है। जब भी कोई शासक इस पथ से अलग हुआ उन्होंने खुलकर उसकी आलोचना की। इसी कारण से वे राज्य की अनुकंपा लेने के इच्छुक नहीं थे क्योंकि इससे उनके सोच और कार्य की स्वतंत्रता में बाधा पहुंचती। सूफियों ने संगीत समा (समा) को यह कहकर सही ठहराया कि सूफी ईश्वर का प्रेमी है, उसका ईश्वर से अलग संबंध है और वह दूसरों की तरह ईश्वर का "अब्द" या दास नहीं है। संगीत से प्रेम की लौ उठती है और इससे आनंदातिरेक के माहौल में प्रवेश करना आसान हो जाता है, अत: सूफियों को संगीत की अनुमति थी।

बाबा फरीद की मृत्यु के बाद चिश्ती **सिलसिला** दो प्रमुख उपविभागों में विभक्त हो गया—निजामिया और साबरिया। साबरिया की स्थापना मख्दुम अलाउद्दीन अली साबरी ने की जिन्होंने अपने को दुनिया से काट लिया था और सन्यासी का जीवन व्यतीत करने लगे थे।

शेख अब्दुल कुद्दूस गंगोत्री ही (मृत्यु 1537) साबरिया सिलसिले के एक प्रमुख संत थे। वह ईश्वर की एकता" (**वहादत उल वजूद**) सिद्धांत के प्रतिपादक थे। यह अवधारणा भारत की जनता और बुद्धिजीवियों के बीच काफी लोकप्रिय हुई।

आइए अब **कादरी** और **नक्शबंदी** जैसे दूसरे महत्वपूर्ण सिलसिलों के योगदान की चर्चा की जाए।

कादरी सिलसिला के संस्थापक बगदाद के शेख अब्दुल कादिर जिलानी (मृत्यु 1166) थे। पश्चिमी अफ्रीका और मध्य एशिया के बीच इस्लाम के प्रसार में इस **सिलसिले** ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। 15वीं शताब्दी के मध्य में शाह निआमतुल्लाह और मखदूम मोहम्मद जिलानी इस **सिलसिले** को लेकर भारत आए। इस परिवार के एक सदस्य शेख मूसा ने अकबर की सेवा स्वीकार कर ली पर उनके भाई शेख अब्दुल कादिर ने सरकारी सेवा स्वीकार नहीं की।

राजकुमार दारा शिकोह कादिरी सिलसिला का प्रमुख अनुयायी था। वह शाहजहाँ के साथ लाहौर स्थित कादिरी सिलसिले के संत मियां मीर (1550-1635) के दर्शन के लिए प्रस्तुत हुआ था। वह उनके व्यक्तित्व से काफी प्रभावित हुआ था। शेख की मृत्यु के बाद दारा मुल्ला शाह बदखशी का शिष्य बना। राजकुमार के रहस्यवादी ग्रंथों, **सफीनत-उल-औलिया**, **सकीनत-उल-औलिया**, **रिसाला ए हक नुमा, मजमा उल बहैरन,** आदि पर **वहादत उल वजूद** अवधरणा का प्रभाव देखा जा सकता है।

अकबर के शासन काल में चिश्ती सिलसिला फिर एक बार प्रमुख हो उठा। सम्राट फतेहपुर स्थित शेख सलीम चिश्ती का परम भक्त था। इस काल के एक प्रमुख कुलीन बैरम खाँ की भी शेख सलीम चिश्ती में असीम आस्था थी।

18वीं शताब्दी के दौरान दिल्ली के शेख कलीमुल्लाह और उनके शिष्य शेख निजामुद्दीन चिश्ती प्रमुख हस्तियों के रूप में उभरे।

भारत में नक्शबंदी **सिलसिले** की शुरुआत ख्वाजा बाकी बिल्लाह (1563-1603) ने की। इस सिलसिले के संस्थापक ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबंदी (1317-1389) थे। बाकी बिल्लाह इस सम्प्रदाय के 7वें उत्तराधिकारी थे। आरंभ से इस सिलसिले के संतों ने इस्लाम के कानून (**शरियत**) पर काफी बल दिया और उन सभी बिददतों (धर्म में नई प्रथाओं का प्रयोग) की जमकर आलोचना की जिससे इस्लाम की शुद्धता पर आंच आती थी। इस प्रकार इसे वहादत उल वजूद के सिद्धांतों के खिलाफ एक प्रकिया के रूप में देखा जा सकता है। ख्वाजा बाकी बिल्लाह के प्रमुख शिष्य शेख अहमद सरहिंदी ने इस सिद्धांत की जमकर आलोचना की। उसने यह मत प्रचारित किया कि जिस भगवान ने विश्व को बनाया है उसकी तुलना मनुष्य के साथ नहीं की जा सकती। वहादत उल वजूद के स्थान पर उसने वहादत उल शहूद की स्थापना की। उसके अनुसार ईश्वर की एकता वस्तुनिष्ठ नहीं बल्कि आत्मनिष्ठ अनुभव है। एक संत को ऐसा लग सकता है कि उसने ईश्वर से साक्षात्कार कर लिया है पर यथार्थ में ऐसा नहीं होता। आनंदातिरेक की स्थिति में वह धर्म में इतना खो जाता है कि वह अपना अस्तित्व खो बैठता है। पर यह एक अस्थाई अनुभव होता है और संत अपने को अबदियत (पराधीनता) की स्थिति में पाता है। शेख के अनुसार मनुष्य और ईश्वर का संबंध दास और मालिक या आराधक और आराध्य का संबंध होता है। यह प्रेमी और प्रेमिका का संबंध नहीं होता जैसा कि सूफी आम तौर पर मानते हैं। वह इस बात पर बल देते हैं कि ईश्वर और अपने सर्जक के प्रति मनुष्य का संबंध निष्ठा और उत्तरदायित्व का होता है। ईश्वर के प्रति श्रद्धा भाव से ही मनुष्य और ईश्वर के बीच सही संबंध स्थापित होता है। केवल **शरियत** के माध्यम से ही मनुष्य उस असीम सत्ता का अनुभव कर सकता है। शेख अहमद ने सूफी रहस्यवादी सिद्धांत और कट्टरपंथी इस्लाम की शिक्षा को एक साथ मिलाने की कोशिश की इसलिए उन्हें इस्लाम का मुजददिद कहा जाता है। औरंगजेब मुजददिद के पुत्र ख्वाजा मोहम्मद मासूम का शिष्य था।

शाह वलीउल्लाह (1702-1762) एक जाने माने विद्वान और नक्शबंदी सिलसिले के एक प्रमुख संत थे। उन्होंने **वहादत उल वजूद** और **वहादत उल शहूद** के दोनों सिद्धांतों को एक साथ मिलाने की कोशिश की क्योंकि उनका मानना था कि इन दोनों सिद्धांतों में कोई मूलभूत अंतर नहीं है। उनके अनुसार इन दोनों विचारों में ईश्वर का अनुभव करने का तत्व छिपा हुआ है और ईश्वर का अस्तित्व स्वतंत्र है। इस संसार का अस्तित्व सत्य नहीं है और इसे काल्पनिक भी नहीं कहा जा सकता है। उनका यह भी मानना है कि यथार्थ एक ही है। जो अनेक रूपों में परिलक्षित होता है। इसके बावजूद अगर कहीं थोड़ी बहुत भिन्नता है तो यह बहुत महत्वपूर्ण नहीं है।

ख्वाजा मीर दर्द एक प्रमुख उर्दू कवि के साथ-साथ नक्शबंदी सिलसिले के एक प्रमुख संत थे। वह शाह वलीउल्लाह के समकालीन थे। अपने आंतरिक अनुभव के प्रकाश में उन्होंने **वहादत उल वजूद** की भी आलोचना की थी। उनके अनुसार आनंदातिरेक के नशे में सूफियों ने इस सिद्धांत की स्थापना की थी। अत: इस प्रकार का सिद्धांत न्यायोचित नहीं है। उन्होंने वहादत उल वजूद में आस्था रखने वाले लोगों की यह कहकर आलोचना की कि उन्हें यथार्थ का कोई ज्ञान नहीं है। उनका यह भी मानना था कि ईश्वर के समक्ष दास बनकर ही पहुंचा जा सकता है।

भारत के लगभग प्रत्येक हिस्से में सूफियों ने अपने केंद्र (खानकाह) स्थापित कर लिए थे जहां पीर के नेतृत्व में आध्यात्मिक चर्चाएँ हुआ करती थीं।

17वीं शताब्दी के अंत तक संतों और पीरों की परम्परा चलती रही इसके बाद इसका ह्रास शुरू हुआ। पर 18वीं शताब्दी में भी कुछ **खानकाह** आध्यात्मिक संस्कृति के प्रमुख केंद्र बने रहे। ऐसी **खानकाहों** में ख्वाजा मीर दर्द की खानकाह एक प्रमुख केंद्र थी जहां सम्राट शाह आलम अक्सर जाया करते थे।

NMDC-268

**बोध प्रश्न 3**

1) सूफी दर्शन के मुख्य तत्व क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) प्रमुख सूफी **सिलसिलों** पर प्रकाश डालिये।

.....

.....

.....

.....

.....

## 29.3.4 महदवी आंदोलन

पैगम्बर मोहम्मद या उनके साथियों के काल से ही उद्धारकों की परम्परा चली आ रही है। इस्लाम के इतिहास में हज़रत अली के पुत्र मोहम्मद अल हनीफा पहले उद्धारक (महदी) माने जाते हैं। इसके बाद महदियों का आगमन हुआ जो मुख्य रूप से आर्थिक और राजनीतिक आदोलनों से जुड़े हुये थे। जौनपुर के सैयद एक मात्र महदी थे जिन्होंने राजनीतिक सत्ता से अपने को नहीं जोड़ा और जो मुख्य रूप से आध्यात्मतावाद और इस्लाम के शुद्धीकरण से जुड़े रहे।

उन्होंने मक्का में अपने को उद्धारक घोषित किया। भारत लौटने पर ऐसे उलेमाओं ने उन पर काफी दबाव डाला जो उनके खिलाफ दुश्मनी का रवैया रखते थे। इसके बावजूद कुछ उलेमा उनके शिष्य बने। महदी शरीयत के कानून के मुताबिक ईश्वर की आराधना करते थे। अल्लाह, उनके पैगम्बर और उनकी पुस्तक उनके लिए प्रमुख दिशा-निर्देशक थे। महदवी दायरों में रहा करते थे जहां वे शरियत के कानून का पालन किया करते थे। महदवियों के लिए कुरान के आदेश दो हिस्सों में विभक्त थे। **शरियत** से जुड़े ऐसे भाग जिनकी व्याख्या पैगम्बर मोहम्मद ने की थी, और अंतिम वली या महदी की व्याख्या। बाद वाले भाग में निम्नलिखित बातें शामिल हैं। संसार का त्याग, सत्य को अपनाना, मनुष्य मात्र से अलगाव, ईश्वर की इच्छा के प्रति समर्पण, ईश्वर की खोज, आय के 10वें हिस्से का वितरण, लगातार **जिक्र** (ईश्वर का) करना और प्रवास करना (हिजरत)। जौनपुर के सैयद मोहम्मद की मृत्यु के बाद महदी की शिक्षाओं के प्रचार-प्रसार के लिए कई **दायरों** की स्थापना की गई। इन दायरों में रहने वाले गुरुओं को खलीफा कहा जाता था। दीक्षा के लिए स्थानीय बोलियों का प्रयोग करते थे। महदियों के आत्म बलिदान और रहन-सहन के साधारण ढंग के कारण जनता इन दायरों की ओर आकृष्ट हुई। इन दायरों की स्थापना दक्षिण और उत्तर भारत में गुजरात, चंडीगढ़, अहमदनगर, बयाना आदि में हुई।

# 29.4 18वीं शताब्दी में पुनर्रुत्थानवादी इस्लामी आंदोलन

औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य का तेजी के साथ पतन हुआ। मराठा, जाट और सिखों जैसे हिंदू सम्प्रदायों ने मुस्लिम शक्ति को गंभीर चुनौती दी। इस पृष्ठभूमि में धार्मिक राजनीतिक प्रकृति का इस्लामी पुनरूत्थान आंदोलन शुरू हुआ और यह शाह वलीउल्लाह (1703-62) के लेखन के माध्यम से सामने आया। वह मूल रूप से एक धर्म शास्त्री थे जिन्होंने मूल तत्व की रक्षा पर बल दिया और इस्लाम में किसी प्रकार के बदलाव को अस्वीकार कर दिया। शाह अपने आपको मुस्लिम समाज का सुधारक कहते थे। वे पैगम्बरी परम्पराओं को फिर से स्थापित करना चाहते थे। उनके धार्मिक और राजनीतिक

विचारों ने मुजाहिदीन (धर्म यौद्धा) नामक धार्मिक सुधारकों को प्रभावित किया। गदर (1857) के बाद के काल में उनके धार्मिक विचारों से इस्लामी पुनरुत्थान के कई मत प्रभावित हुये : सैयद अहमद खान का आधुनिकवाद और अलीगढ़ आंदोलन, देवबंद संस्था के परम्परागत धर्मशास्त्री और नव-परम्परावादी अहलेह दीस (पैगम्बर मोहम्मद की परम्परा के अनुगामी) इससे प्रभावित हुये।

**बोध प्रश्न 4**

1) महदवी आंदोलन की प्रमुख विशेषताएँ क्या थीं ?

.....

.....

.....

.....

.....

2) 18वीं शताब्दी में इस्लामी पुनरूत्थानवादी आंदोलन की प्रकृति पर विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 29.5 सारांश

इस इकाई में हमने भारत में भक्ति आंदोलन के विकास का अध्ययन किया। इसके साथ-साथ हमने इसकी विचारधारा, विभिन्न मतों और सामाजिक तथा साहित्यिक क्षेत्र में इसके प्रभाव का भी अध्ययन किया। इस इकाई में इस्लामी रहस्यवाद की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया। सूफी दर्शन की प्रकृति, इसके मुख्य **सिलसिले** और ग्रंथों के साथ-साथ महदवी आंदोलन की प्रकृति पर भी विचार किया गया। अंत में इस इकाई में 18वीं शताब्दी के दौरान इस्लामी पुनरूत्थानवादी आंदोलनों की प्रकृति पर प्रकाश डाला गया।

## 29.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) देखिए भाग 29.2 और उपभाग 29.2.3
2) देखिए भाग 29.2 और उपभाग 29.2.2
3) देखिए भाग 29.2 और उपभाग 29.2.3

**बोध प्रश्न 2**

1) देखिए भाग 29.2 और उपभाग 29.2.4
2) देखिए भाग 29.2 और उपभाग 29.2.3
3) देखिए भाग 29.2 और उपभाग 29.2.3

**बोध प्रश्न 3**

1) देखिए भाग 29.3 और उपभाग 29.3.1
2) देखिए भाग 29.3 और उपभाग 29.3.3

**बोध प्रश्न 4**

1) देखिए भाग 29.3 और उपभाग 29.3.4
2) देखिए भाग 29.4

NMDC-268

# इकाई 30 राज्य और धर्म

## इकाई की रूपरेखा


30.0 उद्देश्य
30.1 प्रस्तावना
30.2 ऐतिहासक परिप्रेक्ष्य
  30.2.2 समकालीन इतिहास लेखन
  30.2.3 आधुनिक इतिहास लेखन
30.3 धर्म के प्रति मुगल शासकों का दृष्टिकोण
  30.3.1 अकबर
  30.3.2 जहांगीर
  30.3.3 शाहजहां
  30.3.4 औरग्रजेब
30.4 सारांश
30.5 शब्दावली
30.6 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 30.0 उद्देश्य

इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- तत्कालीन लेखकों के धर्म संबंधी लेखनों के स्वरूप के बारे में जान सकेंगे,
- मुगल शासकों की धार्मिक नीतियों के बारे में कुछ इतिहासकों के विचारों कें बारे में जान सकेंगे तथा
- मुगल शासकों की नीतियां कहां तक उनके व्यक्तिगत धर्म से प्रभावित हुई।

## 30.1 प्रस्तावना

उत्तर भारत में मुगलों की विजय के बाद उच्च शासकीय वर्ग के संघटन में एक आमूलकारी परिवर्तन हुआ। यह भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस समय से एक नये युग की शुरूआत मानी जा सकती है। इस नए युग के सूत्रपात का एक महत्वपूर्ण राजनैतिक कारण यह था कि इसके बाद से भारतीय राजनैतिक व्यवस्था में मुसलमानों का उदय एक प्रभावकारी तत्व के रूप में हुआ। यह प्रक्रिया कई वर्षो तक जारी रही और मुगल शासन काल तक कायम रही। इसका भारतीय इतिहास के काल विभाजन पर भी प्रभाव पड़ा। कुछ आधुनिक इतिहासकार मध्ययुग को "मुस्लिम काल" की संज्ञा देने लगे। उनका यह सोचना है कि इस काल में मुसलमान शासक वर्ग के रूप में मौजूद थे अत: इस्लाम का राज्य धर्म के रूप में मान्य होना अनिवार्य था। पर यह दृष्टिकोण भ्रांतिपूर्ण है क्योंकि यह उच्च वर्ग के धर्म पर जरूपत से ज्यादा बल देता है और मध्यकालीन समाज के आर्थिक, राजनैतिक और सामातिक हितों को नजरअंदाज कर देता है। दूसरी बात यह है कि शासक के धर्म को राज्य का धर्म मान लेना तर्कसंगत नहीं है। इस प्रकार सोचने से राज्य और धर्म का मुद्दा उलझ जाता है।

इस इकाई में सबसे पहले हम उस पृष्ठभूमि का उललेख करेंगे जिसमें मुगल राज्य तंत्र सकिय था। हम समकालीन लेखकों की टिप्पणियों का भी उल्लेख करेंगे। धर्म के प्रति मुगल सम्राटों के दृष्टिकोण का भी

NMDC-268

परीक्षण किया जाएगा। इस इकाई में शासक की व्यक्तिगत आस्था, राज्य की नीतियों और गैर-मुसलमानों के साथ संबंधों को चर्चा की जाएगी। हमने यहां जानबुझकर मुगल-रापूत संबंधों की चर्चा नहीं की है क्योंकि इस पर इकाई 11 में विस्तार से बातचीत की जा चुकी है।

हम यहां एक बात जोर देकर कहना चाहते हैं कि मध्यकालीन इतिहास, खासकर इस काल के धर्म, का मुल्यांकन करते समय आधुनिक शब्दावलियों का खूब सावधानी के साथ उपयोग किया जाना चाहिए। "सम्प्रदायवाद" "धर्माधता", "धार्मिक कट्टरता" जैसी शब्दावलियों का आज खुलकर उपयोग हो रहा है। कई बार इसके माध्यम से तथ्यों को तोड़-मरोड़ दिया जाता है। अत: इन मुद्दों को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए हमें एक अनुशासित ऐतिहासिक दृष्टिकोण का मार्ग अपनाना होगा और मध्ययुग की कुछ महत्वपूर्ण विशेष्ताओं को सावधानी से परखना होगा।

## 30.2 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

इस भाग में हम धर्म के प्रति राज्य और जनता के दृष्टिकोण पर विचार करेंगे। इसके साथ-साथ राज्य और धर्म के संबंध के नाजुक मुद्दे पर समकालीन और आधुनिक इतिहासवेत्ताओं का दृष्टिकोण जानने में भी मदद मिलेगी।

### 30.2.1 तत्कालीन परिदृश्य

इस काल में अधिकांश लोग धर्म के प्रति आस्थावान थे। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति से धार्मिक विषय का ज्ञाता होने की अपेक्षा की जाती थी। इसके परिणामस्वरूप इस काल में हिंदुओं या मुसलमानों द्वारा लिखे गए ऐतिहासिक लेखों, आदि पर धार्मिक विचारों की गहरी छापा है।
इन पर अगर जरा विवेकहीन तरीके से विचार किया गया तो गलम निर्णय और भ्रामक निष्कर्ष सामने आएंगे।

दूसरे, जनजीवन में धर्म के महत्व को देखते हुए शासक अपने व्यक्तिगत और रातनैतिक हितों के लिए इसका खुलकर उपयोग करते थे। महमूद गजनी जैसे शासक अपने दुश्मनों के खिलाफ अक्सर **जेहाद** (धार्मिक युद्ध) का नारा दे दिया करते थे जबकि वस्तुत: इनमें से किसी ने धर्म के लिए लड़ाई नहीं की। पी. सरन के अनुसार "हमें उेसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता है जिसमें मुसलमान शासक ने शुद्ध रूप से धार्मिक आधार पर और धार्मिक उद्देश्य के लिए युद्ध किया हो"।

तीसरे, **उलेमा** (मुस्लिम धर्मशास्त्री) का मनोबल काफी ऊँचा था। वे चाहते थे। कि शासक अपने प्रशासन में इस्लामी संहिता का पालन करें और इसी के तहत गैर-मुसलमानों के साथ व्यवहार करें पर पी. सरन लिखते हैं, "मुसलमान धर्मशास्त्रियों ने मुसलमानों को गैर-मुसलमानों, खासकर मूतिपुजकों के प्रति एक खास तरह का व्यवहार करने का निर्देश दिया था। यह ब्राह्मण धर्मशास्त्रियों के उस दर्शन से भिन्न नहीं था जिसमें धर्म की पवित्रता के नाम पर अपने देश के एक बड़े हिस्से को त्याज्य, और अदुत समझा गया था और उन पर कई तरह के जुल्म ढाए जाते थे।"

दूसरी तरफ प्रशासनिक मामलों में अक्सर भारत के मुसलमान शासक कट्टरनंथी **उलेमा** के विचार से सहमत नहीं होते थे। अधिकांश मामलों में वे अपनी नीतियों के अनुकुल न पड़ने वाले धार्मिक समुदायों के आदेशों को स्वीकार नहीं करते थे। उदाहरण के लिए, 14 वीं शताब्दी का इतिहासकार जिआउद्दीन बर्नी विस्तार के साथ अलाउद्दीन खलजी के दृष्टिकोण का इसप्रकार उललेख करता है : "वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा था कि राजनैतिक व्यवस्था और सरकार अलग चीज है और धार्मिक कानून (**शरीयत**) अलग चीज है। शासकीय आदेश राजा के अधिकार क्षेत्र में आते हैं और न्याय निर्दिष्ट करने वाले आदेशों पर **काजियों** और **मुफ्तियों** का अधिकार होता है। उसके मतानुसार राज्य के मामलों में वह जनता के हित का ख्याल रखता है और अपने किसी कार्य को कानूनी और गैर-कानूनी तराज पर नहीं तोलता है।" सुल्तान के काजी बयाना के मुगीसुद्दीन ने गैर-मुसलमान जनता के प्रति कठोरे और अपमानजनक

NMDC-268

दृष्टिकोण अपनाने की सलाह दी थी, पर अलाउद्दीन ने उसकी सलाह अस्वीकृत कर दी और **काजी** को कहा कि उसके लिए सरकार और उसकी जनता का हित सर्वोपरि है। अत: उसने कट्टरपंथी विचारों को नजरअंदाज करते हुए आदेश जारी किए और नीतियां निर्धारित कीं। वस्तुत: धार्मिक कट्टरता और राजनैतिक मामलों के प्रति अलाउद्दीन के दृष्टिकोण ने नया मार्ग प्रशस्त किया : मध्यकालीन शासकों ने धार्मिक कानूनों की अपेक्षा प्रशसनिक जरूरतों और राजनैतिक आवश्यकताओं को अधिक महत्व दिया। परंतु इसके साथ-साथ **उलेमा** को खुश रखने की नीति भी अपनाई जाती रही। ये शासक इस समुदाय को संतुष्ट करने और राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्राय: **उलेमा** को वित्तीय और अन्य प्रकार की सहायता प्रदान किया करते थे।

एक बात यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मध्य युग में धर्म जीवन का अहम हिस्सा था अत: आम तौर पर शासकों ने अपनी नीतियों और कार्यों को धार्मिक शब्दावली में व्यक्त किया।

## 30.2.2 समकालीन इतिहास लेखन

मध्यकाल में शिक्षा की व्यवस्था के अनुरूप एक इतिहासकार **मदरसों** (मध्यकालीन शिक्षा केंद्र) में, धार्मिक माहौल में, प्रशिक्षण प्राप्त किया करता था। इसका उसके लेखन पर गहरा असर पड़ा। अपने संरक्षक की सेना के लिए वह **लश्कर-ए इस्लाम** (इस्लाम की सेना) और उसके दुश्मन की सेना के लिए **लश्कर-ए कुफ्र** (**काफिरों** की सेना) शब्दावली का इस्तेमाल किया करते थे। इसी प्रकार अपने स्वामी के सैनिकों की मौत को वह **शहादत** (शहीद) की संज्ञा देता था जबकि दूसरे पक्ष के सैनिकों को वह नर्क भेजने में जरा भी देर नहीं करता था। भारत में शासक के धर्म की अपेक्षा शासितों के धर्मानुयायियों की संख्या ज्यादा थी और इस स्थिति में ऐसी शब्दावली का उपयोग उलझन ही पैदा करता है। इन अभिव्यक्तियों को देखकर कोई भी असावधान व्याख्याता मध्यकालीन भारत के संघर्ष को मूलत: धार्मिक मान सकता है और वह यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि यह संघर्ष मूलत: इस्लाम और **कूफ्र** के बीच का संघर्ष था। लेकिन यह तथ्यों को विश्लेषित करने का सही ढंग नहीं होगा क्योंकि इन्हें किसी भी स्थिति में समकालीन राज्य की नीतियों के साथ उलझाना उचित नहीं है। वस्तुत: मूलत: यह एक प्रकार की शैली थी, लिखने का ढंग था, इस संबंध में कई प्रमाण भी उपलब्ध हैं। शाहजहां के शासनकाल के एक इतिहासकार मोहम्मद सालिह (**अमल-ए सालिह** के लेखक) ने कमालुद्दीन रोहिला के नुतृत्व में हुए अफगान विद्रोह को **दुश्मन -ए दीन** (धर्म का दुश्मन) की संज्ञा दी है। 1630 ई. में जब ख्वाजा अबुल हसन (शाहजहां का एक कुलीन) ने नासिक अभियान की शुरूआत की तो अब्दुल हमीम लौहौरी (शाहजहां का दरबारी इतिहासकार) ने मुगल सेना के लिए **मुजाहिदान-ए दीन** (धर्म की रक्षा के सैनिक ) शब्दावली का प्रयोग किया जबकि वास्तविक स्थिति यह थी कि विपक्षी सेना में गैर-मुसलमानों की अपेक्षा मुसलमानों की संख्या अधिक थी और मुगल सेना में भी गैर-मुसलमान सैनिक पर्याप्त मात्रा में शामिल थे।। यह भी रोचक तथ्य है कि इन्ही इतिहासकारों ने निजामशाही सेना के खिलाफ लड़ रहे मुगल सैनिकों को मु**जाहिदान -ए इस्लाम** (इस्लाम की रक्षा में लड़ रहे सैनिक) कहा जबकि निजामशाही सेना में अधिकांश सैनिक मुसलमान थे। गैर-मुसलमान सरदारों और कुलीनों के खिलाफ भी जब मुगल सेना भेजी जाती थी तो उनके लिए भी उसी शब्दावली का इस्तेमाल किया जाता था। जुझार सिंह बुंदेला के विद्रोह को कुचलने के लिए गई सेना को **लश्कर-ए इस्लाम** कहा गया जबकि मुगल सेना में बड़ी संख्या में गैर-मुसलमान सैनिक मौजूद थे। शाहजहां के अधीन बल्ख और बदख्शां के खिलाफ भेजे गए अभियान में भी **मुजाहिद**, शहादत, आदि शब्दों का इस्तेमाल किया गया। ध्यान रहे इस बार मुगल शुद्ध रूप से अपने सहधर्मियों के साथ लड़ रहे थे। इससे पता चलता है कि इन शब्दों का धार्मिक महत्व कम और शैलीगंत महत्व ज्यादा था। यह अभिव्यक्ति का एक ढंग था, एक शैली थी। अत: इस प्रकार के लेखन को पढ़ते समय कुलीन सावधानी बरतनी चाहिए।

## 30.2.3 आधुनिक इतिहास लेखन

"धर्म और राज्य" विषय पर शोध का प्रारंभ एलियट और डाफवसन ने काफी पहले किया था। उन्होंने मध्यकालीन फारसी ग्रंथों के अंग्रेजी में अनुवाद की एक बड़ी योजना प्रारंभ की थी। उन्होंने अक्सर ऐसे प्रसंग उद्धृत किए जिनका संबंध या तो शासक की (मूलम: मुसलमान) की "धार्मिक कट्टरता" से था। अथवा उन्होंने उन उद्धरणों को लिया जिसमें मुट्ठी भर मुसलमान शासकों द्वारा स्थानीय भारतीय जनता (जो ज्यादातर हिंद को दबाए जाने का उल्लेख किया था।)

वस्तुत: अंग्रेजी ने ऐसा एक सोची-समझी राजनैतिक नीति के तहत किया था। परंतु जदुनाथ सरकार, ए. एल. श्रीवास्तव, श्रीराम शर्मा, आदि भारतीय इतिहासकारों ने भी उनके ही दृष्टिकोण को अपना लिया।

एक बात गौर करने की है कि जब शासक और शासित अलग-अलग धर्म के होते थे तभी "धार्मिक नीति" के तहत उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं की चर्चा की जाती थी। अगर अपने ही धर्मानुयायियों के प्रति शासक सही और गलत रुख अपनाता था तो उसे "धार्मिक नीति " का अंग नहीं माना जाता था। इसी कारण औरंगजेब के "हिंदू विरोधी" रवैये का तो खूब प्रचार किया गया पर उसने अपने ही धर्म के विद्वानों, दार्शनिकों और संतों पर जो जुल्म ढाए उसकी चर्चा कोई नहीं करता। याद रहे औरंगजेब के ही आदेश से सरमद, शाह मौहम्मद बदख्शी, मौहम्मद ताहिर और सैय्यद कुतबुद्दीन अहमदाबादी को फांसी की सजा दे दी गयी थी।

सीधे-सीधे शब्दों में कहा जाए तो धर्म शासक के हितों की पूर्ति का एक हथियार मात्र था। कभी शासक अपने स्थानीय सरदारों को धार्मिक रियायतें दिया करते थे तो कई बार शक्ति का उपयोग कर उन्हें कुचलते थे। उच्च और निम्न शासकीय समुदायों की क्रिया-प्रतिक्रिया को केवल धर्म के परिप्रेक्ष्य में देखना इतिहास के साथ अन्याय करना होगा। यह आर्थिक और राजनैतिक मुद्दों की भी अनदेखी होगी।

अंतत: इस विषय (राज्य और धर्म) के प्रति एक और दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है जो महत्वपूर्ण होते हुए भी इतिहासकारों का ध्यान अपनी ओर कम ही आकर्षित कर सका है। शासक की व्यक्तिगत आस्था, विश्वास, अहं और अपने समय की समस्याओं के प्रति उसके स्वयं के दृष्टिकोण और उसके द्वारा उन समस्याओं को हल करने के तरीके का भी विशेष महत्व है। इस दृष्टिकोण के तहत शासकों और उच्च पदस्थ लोगों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषणात्मक परीक्षण किया जा सकता है। औरंगजेब के कार्यों और आदेशों का मूल्यांकन करते समय इस दृष्टिकोण से काफी मदद मिलेगी।

**बोध प्रश्न 1**

1) राज्य की नीतियों के साथ धर्म को उलझाने में समकालीन लेखन किस हद तक उत्तरदायी है ?

.....

.....

.....

.....

.....

2) मुगल शासकों की "धार्मिक नीति" संबंधी इलियट और डॉवसन के दृष्टिकोण का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 30.3 धर्म के प्रति मुगल शासकों का दृष्टिकोण

इस भाग में हम धर्म और धार्मिक समुदायों के प्रति मुगल शासकों के दृष्टिकोण का परीक्षण करेंगे।

### 30.3.1 अकबर

1560-65 के बीच अकबर ने जो कदम उठाए और इससे साम्राज्य की गैर-मुस्लिम जनता पर जो प्रभाव पड़ा उसी के आधार पर आम तौर पर धर्म और धार्मिक समुदायों के प्रति अकबर के दृष्टिकोण का

मूल्यांकन किया जाता है। इस काल में सम्राट ने राजपूतों से वैवाहिक संबंध स्थापित किए, तीर्थ कर हटा दिया, युद्ध बंदियों के इस्लाम धर्म में परिवर्तन करने पर रोक लगा दी और **जजिया** कर समाप्त कर दिया। अकबर के इन सब कार्यों ने उसे एक "धर्मनिरपेक्ष" व्यक्तित्व प्रदान किया। पर अपने व्यक्तिगत जीवन में अकबर एक श्रद्धावान मुसलमान था। **"गुलजार-ए अकबर"** और **"नफाइस-उल मासिर"** जैसे ग्रंथों में इस बात का उल्लेख है कि अकबर के मन में **उलेमा** के प्रति गहरा सम्मान था और उसने इस समुदाय को कई प्रकार की रियायतें भी दी थीं। सम्राट की शह पाकर उनमें से कुछ ने यहां तक कि मुसलमानों के गैर-सुन्नी संप्रदायों को दंडित करना शुरू कर दिया। महादवियों और शियाओं पर ढाए गए जुल्मों को इस काल के ऐतिहासिक लेखों में लगभग नजरअंदाज कर दिया गया है।

अकबर के "उदारवाद" की व्याख्या कई रूपों में की जाती है। यह कहा जाता है कि उसके पालन-पोषण और विविध बौद्धिक प्रभावों ने उसके व्यक्तिगत विचारों को बदल दिया। दूसरी तरफ एक मत यह भी है कि अकबर ने इस्लाम छोड़ दिया था और उसका उदारवादी दृष्टिकोण आडंबरपूर्ण था। आज इस धारणा से लोग सहमत हैं कि अकबर के इन कार्यों के पीछे राजनैतिक उद्देश्य था। किसी विश्वसनीय मुस्लिम समर्थन के अभाव में अकबर के पास राजपूतों और भारतीय मुसलमानों के साथ संधि करने के अलावा और कोई चारा नहीं था। इन कार्यों के माध्यम से वस्तुत: गैर-मुसलमानों को कुछ रियायतें दी गईं और उनका सहयोग हासिल किया गया। हालांकि 1565 ई. के बाद उसके दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन हुआ। "धर्म के मामले में उसके दृष्टिकोण में महत्वपूर्ण बदलाव आया।" उसके वकील मुनीम खां ने एक दस्तावेज (अगस्त-सितंबर 1566) पर हस्ताक्षर किए जिसमें आगरा के आसपास के इलाके से **जजिया** कर वसूल करने का आदेश था। 1568 ई. में अकबर ने प्रसिद्ध चित्तौड़ में जारी किये गये **फतहनामा** (**मुन्शात्-ए नमकीन** में संग्रहीत) में धार्मिक शब्दावलियाँ और प्रतीकों का जमकर उपयोग किया गया है और उसकी तुलना किसी भी अन्य पूर्वाग्रहयुक्त और धार्मिक आदेश से की जा सकती है। उसने राजपूतों के खिलाफ लड़े गए युद्ध को **जेहाद** कहा, मंदिर तोड़कर और काफिलों को मारकर गर्वान्वित हुआ। **शरायफ-ए उस्मानी** के अनुसार सम्राट ने बिलग्राम के काजी अब्दुल समद को वहां हिंदुओं द्वारा की जाने वाली मूर्तिपूजा रोकने का आदेश दिया था। बदायूंनी के अनुसार और तो और 1595 ई. में अकबर ने पुन: **जजिया** कर लगा दिया पर यह कार्यान्वित न हो सका। इस काल का एक रोचक तथ्य यह है कि धार्मिक असहिष्णुता के इस वातावरण में भी 1566-79 के बीच राजपूत राजा उसकी सेवा में शामिल होते रहे (देखिए इकाई 11)।

अत: सम्राट के लिए धर्म प्रमुख मुद्दा नहीं था। अकबर का मुख्य उद्देश्य स्थानीय सरदारों को नियंत्रण में रखना था। राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए धर्म का औजार के रूप में प्रयोग किया गया। जब अकबर को इससे पूरा फायदा नहीं मिला तो उसने यह नीति स्थगित कर दी। अकबर ने 1575 ई. में **इबादत खाना** की स्थापना की। इस पक्ष पर चर्चा वांछनीय है। इस्लाम धर्म सिद्धांत के विभिन्न मुद्दों पर मुक्त बहस करने के लिए इसकी स्थापना की गई थी। परंतु इसमें मुस्लिम व्याख्याता आपस में लड़ते ही रहते थे अत: अकबर जल्द ही इनसे ऊब गया। आरंभ में केवल सुन्नियों को ही इस बहस में हिस्सा लेने का मौका मिला। परंतु सितंबर 1578 ई. से सम्राट ने सूफियों, शियाओं, ब्राह्मणों, जैनों, ईसाइयों, यहूदियों, पारसियों, आदि सभी धर्म के व्यक्तियों के लिए भी **इबादत खाना** के द्वार खोल दिए। **इबादत खाना** में हुए विवाद से अकबर को नई दिशा मिली और वह यह जान सका कि सभी धर्मों का मूलतत्व एक है। अपने को **मुजतहिद** और **इमाम-आदिल** घोषित कर अकबर ने सभी धार्मिक मसलों पर **उलेमा** के बीच के मतभेदों को निपटाने और मत व्यक्त करने का अधिकार प्राप्त करने का दावा किया। मुगल समाज के एक समुदाय ने इसका जमकर विरोध किया परंतु अकबर अंतत: कट्टरपंथियों को दबाने में सफल रहा।

अकबर का **तौहीद-ए इलाही** (इसे प्राय: **दीन-ए इलाही** कहा जाता है जो गलत है) इस शासन काल की एक महत्वपूर्ण घटना थी। आर. पी. त्रिपाठी (**राइज ऐंड फॉल ऑफ द मुगल एम्पायर,** इलाहाबाद, 1956, पृ. 285-89) ने इस विषय का विस्तार से परीक्षण किया है। उनके कथन को यहां विस्तार से रखना प्रासंगिक होगा : "अकबर जैसे चालाक शासक ने यह भली-भांति समझ लिया होगा कि न तो सभी धर्मों को एक में मिलाना संभव था और न ही मौजूद धर्मों से अलग एक और नया धर्म स्थापित करना संभव था। परंतु उसने उसे सुनने वालों तक अपनी बात पहुंचाने की आवश्यकता महसूस की। इस पंथ का कोई धार्मिक ग्रंथ नहीं था, किसी पुजारी की व्यवस्था नहीं थी, उपासना का कोई पवित्र

NMDC-268

स्थल नहीं था, दीक्षा के अलावा कोई अनुष्ठान या समारोह नहीं था ..... प्रत्येक सदस्य को वचन पत्र लिखना होता था, जैसे सम्पत्ति, जीवन, सम्मान और धर्म का त्याग ..... (यह) एक धर्म नहीं था और अकबर ने कोई "चर्च" स्थापित करने की कोशिश नहीं की ..... अनुयायियों को शामिल करने के लिए शक्ति और धन का सहारा नहीं लिया गया ..... यह पूर्णत: एक व्यक्तिगत मुद्दा था, यह सम्राट और उसकी जनता के बीच का मामला नहीं था बल्कि अकबर और उसे पीर या गुरू मानने वालों के बीच का मामला था।"

ऐसा लगता है कि अकबर अपने चारों ओर एक निष्ठावान वर्ग खड़ा करना चाहता था जिन्हें वह आध्यात्मिक दिशा प्रदान कर सके। अत: **तौहीद-ए इलाही** का अकबर की धार्मिक या राजनैतिक नीति से कुछ भी लेना-देना नहीं था।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि राजनैतिक स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए आम तौर पर अकबर ने धार्मिक भेदभाव की नीति नहीं अपनाई। परंतु अकबर ने धर्म और जाति को भूलकर उन सबके खिलाफ कड़े कदम उठाए जिन्होंने उसे चुनौती देने की कोशिश की या अपनी सामाजिक या वैचारिक मूल्यों की सीमा का अतिक्रमण किया। यह भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि किसी भी धार्मिक समुदाय के खिलाफ कड़ा रुख नहीं अपनाया गया बल्कि व्यक्तियों को दंड दिया गया।

### बोध प्रश्न 2

1) 1565 ई. तक धर्म और धार्मिक समुदायों के प्रति अकबर के दृष्टिकोण का विश्लेषण कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) **इबादत खाना** के बारे में 50 शब्द लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 30.3.2 जहांगीर

समग्र रूप से जहांगीर ने अपने पिता के उदारवादी दृष्टिकोण का पालन किया। आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार जहांगीर " अपने पिता से ज्यादा और पुत्र खुर्रम से कम कट्टर था।" उस पर आरोप लगाया जाता है कि उसने सिक्खों, जैनियों और सुन्नियों के खिलाफ कठोर कदम उठाए। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि गुरू अर्जुन सिंह, मानसिंह सूरी और शेख अहमद सरहिंदी जैसे लोग व्यक्तिगत रूप से उसके कोपभाजन बने, पूरे धार्मिक समुदाय को इसका दंड नहीं भोगना पड़ा। दूसरी तरफ जहांगीर तीन बार जदरूप गोसाई के पास गया था और उसके साथ हिंदू दर्शन पर विचार-विमर्श किया था।

जहांगीर कभी-कभी दूसरे व्यक्तियों के धार्मिक विचारों से उत्तेजित हो जाया करता था। अपनी इसी कमी के कारण उसने सुन्नी धार्मिक नेता शेख अहमद सरहिंदी, मुजद्दिद अलिफ सानी को तीन साल तक ग्वालियर के किले में बंद रखा। शेख ने दावा किया था कि अपने "सपने" में वह पहले के **खलीफाओं** की अपेक्षा ईश्वर के अधिक समीप आ गया था। जहांगीर को यह वक्तव्य निंदनीय लगा था। कौकब,

NMDC-268

अब्दुल लतीफ और शरीफ जैसे कई मुसलमानों को केवल इसीलिए कैदखाने में डाल दिया गया क्योंकि उनके विचार सम्राट को पसंद नहीं थे।

यह भी ध्यान देने की बात है कि जहांगीर के शासनकाल में हिंदू **मनसबदारों** का प्रतिशत कम नहीं हुआ। उसने कभी भी हिंदू मंदिरों को तोड़ने की नीति नहीं अपनाई उसने **जजिया** भी लागू नहीं किया और वह जोर-जबरदस्ती से इस्लाम कबूल कराने के पक्ष में भी नहीं था।

## 30.3.3 शाहजहां

शाहजहां जब 1627 ई. में गद्दी पर बैठा उस समय तक सहिष्णुता और उदारवाद की नीति में परिवर्तन का सिलसिला शुरू हो गया था। इस्लाम की विचारधारा का राज्य के मामले में हस्तक्षेप होने लगा, सम्राट को सलाम करने की प्रथा में बदलाव से तथ्य स्पष्ट होता है। अकबर ने अपने दरबार में **सिजदा** या झुक कर सलाम करने की प्रथा चलाई थी परंतु शाहजहां ने प्रथा को समाप्त कर दिया क्योंकि **सिजदा** खुदा के सामने ही किया जा सकता था। शाहजहां ने **सिजदा** के स्थान पर **चहार तस्लीम** की प्रथा शुरू की। इसके अतिरिक्त **अमल-ए सालिह** के लेखक ने बताया है कि सम्राट के आदेश से बनारस के आसपास के 76 मंदिर तोड़े गए थे। उनका तर्क था कि कोई भी नया मंदिर (**ताजा सनमखाना**) नहीं बनवाया जा सकता था। हां, शाहजहां के शासनकाल से पहले बने मंदिरों को नहीं तोड़ा गया। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इस्लामी कानून के खिलाफ सम्राट संगीत और चित्रकला को सरंक्षण दिया करता था और इस मामले में उस पर मुसलमान कट्टरपंथियों का जोर नहीं चलता था। ध्रुपद सम्राट का प्रिय राग था। सम्राट ने प्रसिद्ध हिंदू संगीतकार जगन्नाथ को प्रोत्साहन दिया और बाद में उसे **महा कवि राय** की उपाधि से सम्मानित किया। शाहजहां के शासन काल में चित्रकला का भी विकास हुआ। संगीत और चित्रकला को संरक्षण देना अकबर के जमाने से ही राज्य नीति का हिस्सा था। उसके पोते ने भी इस परंपरा का पालन किया।

शाहजहां अकबर के रास्ते से थोड़ा हट गया था। जहांगीर ने कामोबेश अकबर के पथ का ही अनुगमन किया था। परंतु शाहजहां ने कभी भी गैर-मुसलमानों पर **जजिया** कर नहीं लगाया था। इसके अलावा पहले की अपेक्षा उसके हिंदू **मनसबदारों** की संख्या में भी कमी नहीं आई थी।

## 30.3.4 औरंगजेब

औरंगजेब का शासनकाल विवादों से घिरा हुआ है। विद्वानों के विचारों में खासकर धर्म के मामले में काफी मतभेद है। इस दृष्टि से हम विद्वानों को तीन कोटियों में विभक्त कर सकते हैं :

क) जदुनाथ सरकार, एस. आर. शर्मा और ए. एल. श्रीवास्तव औरंगजेब को धार्मिक कट्टरवाद और पक्षपात के लिए दोषी ठहराते हैं।

ख) शिबली नोमानी, जहीरूद्दीन फारूकी और इश्तियाक हुसैन कुरैशी औरंगजेब के सभी कार्यों को राजनैतिक प्रकृति का मानकर न्यायोचित ठहराते हैं।

ग) सतीश चन्द्र और अतहर अली एक "निष्पक्ष" रुख अपनाते हुए औरंगजेब के कार्यों का विश्लेषण करते हैं और पक्ष-विपक्ष के तर्क जाल में नहीं उलझते हैं।

औरंगजेब पर विचार करने में यह सुविधा है कि उस पर विद्वानों ने खूब लिखा है और उस पर तत्कालीन दस्तावेज पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। हम औरंगजेब के कार्यकलापों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं : (क) गौण असंगत अध्यादेश, और (ख) प्रधान आदेश जिन्हें 'राज्य' नीति का हिस्सा समझा जा सकता है। हम इन आदेशों और कार्यों पर क्रम से विचार करेंगे और उनके आधार पर औरंगजेब की धार्मिक नीति का मूल्यांकन करेंगे। सबसे पहले निम्नलिखित मुद्दों पर विचार किया जाएगा :

i) औरंगजेब ने सिक्कों पर **कलमा** (इस्लाम धर्म के प्रति आस्था) खुदवाने की प्रथा बंद कर दी। सिक्कों के पैर के नीचे पड़ने से अथवा इस्लाम को न मानने वाले **काफिरों** द्वारा इसे स्पर्श करने से पाक **कलमे** के नापाक हो जाने का भय था।

NMDC-268

ii) उसने अपने पूर्ववर्ती शासकों के समय से मनाया जाने वाला **नौरोज** (पारसी धर्म के वर्ष का पहला दिन) के पर्व का आयोजन समाप्त कर दिया।

iii) पुरानी मस्जिदों, आदि की मरम्मत के आदेश दिए गए और **इमामों** और **मुअज्जिनों** आदि की नियमित वेतन पर बहाली हुई।

iv) मौहम्मद साहब द्वारा प्रतिपादित नियमों को लागू कराने और उनके द्वारा निषेध प्रथाओं को रोकने के लिए **मुहतसिब** (नैतिक आचरण की देख-रेख करने वाले) की नियुक्ति की गई। शराब पीना, भांग खाना, जुआ खेलना और वेश्यावृत्ति की इस्लाम धर्म में मनाही है। अत: इन पर रोक लगाई गई। सम्राटों को उनके दो जन्म दिनों (चंद्र और सूर्य कैलेंडर के हिसाब से) पर सोने और चांदी से तौलने की प्रथा समाप्त कर दी गई।

v) सम्राटों को उनके दो जन्म दिनों (चन्द्र और सूर्य कैलेंडर के हिसाब से) पर सोने और चांदी से तोलने की प्रथा समाप्त कर दी गई।

vi) 1665 ई. में सम्राट ने गुजरात के गवर्नर को आदेश दिया कि होली और दीवाली अहमदाबाद और इसके **परगनों** के बाजारों से बाहर मनाई जाए। होली पर इस आंशिक रोक के पीछे यह तर्क दिया गया था कि हिंदू "गंदी-गंदी गालियां" देते हैं और **चकलों** और बाजारों में होली जलाते हैं, लोगों का सामान जबरदस्ती और चोरी से आग में फेंक देते हैं।

vii) उसके शासन के ग्यारहवें वर्ष में झरोखा दर्शन की प्रथा समाप्त की दी गई। सम्राट इसे इस्लाम के विरुद्ध मानता था क्योंकि दर्शनार्थियों का समूह उन्हें पृथ्वी पर भगवान का अवतार मानते थे इसलिए वे सम्राट का दर्शन किए बिना कुछ खाते नहीं थे।

viii) औरंगजेब ने दरबार में अपने सामने दरबारी संगीतकारों के गायन पर रोक लगा दी। "संगीत में उसका मन नहीं रमता था और उसके पास काम इतना अधिक था कि वह मनोरंजन का समय नहीं निकाल पाता था, धीरे-धीरे दरबार में संगीत का पूर्णत: निषेध हो गया।" परंतु संगीतकारों को अवकाश भत्ता दिया जाता था। इसके अलावा **नौबत** (शाही ढोल) को बरकरार रखा गया।

पहले पांच कार्यों से औरंगजेब की इस्लाम धर्म के प्रति आस्था के साथ-साथ सामाजिक सुधार की झलक भी मिलती है। इनमें से किसी को "हिंदू विरोधी" नहीं कहा जा सकता है। सातवें और आठवें के संबंध में भी यही बाद लागू होती है। केवल छठा कार्य सीधे हिंदुओं को प्रभावित करता है। जदुनाथ सरकार टिप्पणी करते हैं "यह निश्चित रूप से होली के मामले में पुलिस कानून और दीवाली के मामले में धर्मांधता थी।"

जदुनाथ सरकार के यह कथन विचारणीय हैं परंतु सरकार एक बात ध्यान में नहीं रखते हैं कि पूरे साम्राज्य में होली या दीवाली पर रोक नहीं लगाई गई थी। इसे औरंगजेब के अन्य आदेश के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखना चाहिए " जब 1669 ई. में बुरहानपुर में प्रतिद्वंदी गुटों के बीच संघर्ष होने पर उसने मुहर्रम का जुलूस निकालने पर प्रतिबंध लगा दिया था।" यह प्रतिबंध भी एक "पुलिस कानून" था और दीवाली और होली की तरह यह किसी खास प्रांत तक सीमित नहीं बल्कि संपूर्ण मुगल राज्य में लागू किया गया था।

**झरोखा दर्शन** से संबंधित सातवें कार्य से हिंदू समुदाय का कोई सरोकार नहीं था। यह इस्लाम के सिद्धांतों के प्रति सम्राट के व्यक्तिगत दृष्टिकोण का परिणाम था।

आठवें आदेश में दरबार में संगीत पर रोक लगा दी गई थी, अब इसे भी हिंदुओं के खिलाफ एक कदम मानना गलत होगा। इस आदेश से खुशहाल खां और बिसराम खां जैसे दरबारी मुस्लिम संगीतकार भी प्रभावित हुए। इसके बावजूद कुलीनों ने संगीत सुनना बंद नहीं कर दिया।

अब हम उन प्रधान अध्यादेशों पर विचार करेंगे जो "राज्य" नीति के रूप में पूरे साम्राज्य में हिंदुओं को सीधे प्रभावित करती थी। इसमें से सबसे पहला कदम था नये बने हिंदू मंदिरों का विध्वंस। आपको याद होगा कि शाहजहां ने भी नये बने (**ताजा सनमखाना**) मंदिरों को ही तोड़ा था। परंतु उसका यह कार्य

NMDC-268

बनारस तक ही सीमित रहा था। दूसरी तरफ औरंगजेब का आदेश पूरे साम्राज्य (खासकर उत्तर भारत) पर लागू होता था। उसने पुराने मंदिरों की मरम्मत न करने का आदेश दिया था।

1670 ई. में एक **फरमान** जारी किया गया कि "उड़ीसा में पिछले 10-12 वर्षों के भीतर ईंट या मिट्टी के बने सभी मंदिरों को अविलंब तोड़ दिया जाए।" औरंगजेब के शासनकाल में नष्ट किए गए मंदिरों में बनारस का विश्वनाथ मंदिर, मथुरा का केशव राय मंदिर और सोमनाथ का पुनर्निर्मित मंदिर उल्लेखनीय है। 1664 ई. में औरंगजेब जब गुजरात का वायसराय था तब उसने अहमदाबाद स्थित चिंतामन के मंदिर में गौ हत्या कर उसे अपवित्र कर दिया था और तत्पश्चात उसे मस्जिद में बदल दिया था। अन्य मंदिरों में भी जानबुझकर गौ हत्या की जाती थी।

मथुरा के मंदिरों का मामला बड़ा रोचक है। इस मंदिर का निर्माण बीर सिंह बुंदेला ने तैंतीस लाख रुपए खर्च करके किया था। 1602 ई. में अबुल फजल की हत्या कर वह जहांगीर का विश्वासपात्र बन गया था अत: उसके मंदिर को स्पर्श नहीं किया गया पर औरंगजेब ने इसे विशाल मस्जिद में बदल दिया और मथुरा का नाम बदलकर इस्लामाबाद कर दिया।

अकबर ने जिस **जजिया** कर को काफी पहले समाप्त कर दिया था उसे औरंगजेब ने पुन: 1679 ई. में लागू कर दिया। औरंगजेब के इस कार्य ने कई आधुनिक विद्वानों को विचलित किया है। जदुनाथ सरकार जैसे इतिहासकार ने इसे मंदिर तोड़ने की भाँति ही धर्मांधता से परिपूर्ण कार्य बताया है। पर सतीश चन्द्र का मानना है कि इसका संबंध दक्खन समस्या (गोलकुंडा, बीजापुर और मराठा) से है, वे यह भी बताते हैं कि सम्राट गहरे राजनैतिक संकट में फंसा हुआ था और वह मुसलमानों, खासकर कट्टरपंथियों का सहयोग प्राप्त करने के लिए कुछ चमत्कारिक कदम उठाना चाहता था। (**इकॉनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री ऑफ द ओरिएंट**, भाग XII, अंक III, नामक पत्रिका में 'जजिया एंड द स्टेट इन इंडिया ड्यूरिंग द 17 सेंचुरी' नामक लेख से उद्धृत) **जजिया** से वित्तीय संकट कम करने के बारे में भी सोचा गया था पर यह तर्क बहुत कमजोर है क्योंकि **जजिया** से प्राप्त आय इतनी नगण्य थी कि उससे राज्य का वित्तीय संकट हल नहीं किया जा सकता था।

1665 ई. में आदेश जारी किया गया कि हिंदू व्यापारियों को उनके माल पर 5 प्रतिशत सीमा शुल्क देना पड़ेगा जबकि मुसलमानों को मात्र $2^1/_2$ प्रतिशत शुल्क देना पड़ता था। 1671 ई. में जारी दूसरे **फरमान** के अनुसार **खालिसा** भूमि का राजस्व संग्राहक केवल मुसलमान हो सकता था। बाद में उसने अनिच्छापूर्वक हिंदुओं को केवल कुछ विभागों में जगह दी, फिर भी उनकी संख्या मुसलमानों की अपेक्षा आधी से कम रही।

औरंगजेब के व्यक्तित्व में एक विरोधाभास दिखाई पड़ता है। अपने असहिष्णुता के कार्यों के विपरीत उसने राज्य नौकरशाही में बड़ी संख्या में गैर-मुस्लिम अधिकारियों को नियुक्त किया था। औरंगजेब ने **मनसब** व्यवस्था में भी हिन्दुओं का प्रतिशत कम नहीं किया, बल्कि अपने पूर्वजों की तुलना में यह कुछ ज्यादा ही था। कई हिंदुओं को बड़े पद मिले और दो को गर्वनर नियुक्त किया गया। यह भी रोचक तथ्य है कि एक तरफ तो सम्राट बड़े पैमाने पर मंदिर तुड़वाने का आदेश देता है वहीं दूसरी तरफ मंदिरों और पुजारियों के भरण-पोषण के लिए अनुदान भी जारी करता है।

औरंगजेब के इन कार्यों के **'मनोवैज्ञानिक विश्लेषण'** से साफ जाहिर है कि औरंगजेब ग्लानि का अनुभव कर रहा था। उसने अपने भाइयों की हत्या की थी और बूढ़े पिता को कैदखाने में डाल दिया था — बाबर से लेकर शाहजहां तक के मुगल इतिहास में कभी भी ऐसा नहीं हुआ था। उसके अंतिम कार्य से तो **तुरा-ए चगताई** की भी अवमानना हुई थी क्योंकि अपने पिता के जिंदा रहते ही वह सिंहासन पर बैठ गया था। कभी न कभी ऐसे व्यक्ति को कुंठा, पीड़ा और पश्चाताप से गुजरना पड़ता है। अत: उसने इस्लाम का कवच ओढ़ लिया। इस दृष्टि से उसके सभी कार्य उसके व्यक्तिगत निर्णय के परिणाम थे।

### बोध प्रश्न 3

1) गैर-मुस्लिम जनता के प्रति जहांगीर के दृष्टिकोण पर विचार-विमर्श कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित को परिभाषित कीजिए :

**सिजदा**

.....

.....

**जमीं बोस**

.....

.....

**ताजा सनमखाना**

.....

.....

3) होली और दीवाली संबंधी औरंगजेब के आदेशों पर टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 30.4 सारांश

इस इकाई में हमने प्रमुख धार्मिक समुदायों के प्रति मुगल शासकों की नीतियों पर विचार-विमर्श किया है। मुगल शासकों पर कोई संवैधानिक प्रतिबंध नहीं लगा हुआ था, इसलिए वे निरंकुश थे और किसी के प्रति वे उत्तरद्रायी भी नहीं थे। अत: उनके कार्य और नीतियां एक प्रकार से राज्य की ही नीतियां बन जाती थीं।

मुगल राज्य की अपनी कोई धार्मिक नीति नहीं थी। यह नीति मुगल सम्राट की सोच और व्यक्तिगत दृष्टिकोण पर निर्भर थी। अकबर और जंहागीर काफी हद तक सहिष्णु थे। शाहजहां अपने पूर्वजों के बनाए रास्ते से कई मामलों में अलग हट कर चला। पर औरंगजेब के शासनकाल में धार्मिक और हिंदू विरोधी कदम स्पष्ट रूप से उठाए गए। इन सबसे पीछे औरंगजेब की व्यक्तिगत सोच और अंदर छिपी कुंठा और गलानि काम कर रही थी।

## 30.5 शब्दावली

**इबादत खाना** : मूलत: अकबर ने 1575 ई. में **इबादत खाना** की स्थापना की। यह मुस्लिम (सुन्नी) धर्मशास्त्रियों के साथ धार्मिक बहस करने के उद्देश्य से की थी। बाद में इसके दरवाजे सभी धर्मावलंबियों के लिए खोल दिए गए।

**इमाम-ए आदिल** : सही शासक

**मुअज्जिन** : वह व्यक्ति जो मस्जिद में नमाज पढ़ने के लिए **अजान** देता है।

**मुजाहिद** : धर्म के लिये युद्ध करने वाला

**मुजतहिद** : अपरिहार्य सत्ता

## 30.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

### बोध प्रश्न 1

1) देखिए उपभाग 30.2.1, 30.2.2 । स्पष्ट कीजिए कि अभिव्यक्ति की इस शैली के कारण आधुनिक इतिहासकार उलझन में पड़ गए और जिन्होंने उनके ग्रंथों के अर्थों को ठीक ढंग से विश्लेषित करने की कोशिश नहीं की। अत: वे सही निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाए। किसी भी युद्ध को **जेहाद** और दुश्मन को **कुफ्र** आदि की संज्ञा देना आम बात थी। इसी तथ्य पर विस्तार से चर्चा कीजिए।

2) देखिए उपभाग 30.2.3 । विश्लेषण करके यह बताइए कि किस प्रकार इलियट और डॉउसन ने मुगल इतिहास के दस्तावेजों के उन्हीं अंशों का अनुवाद किया है जिससे मुगल शासक वर्ग को शोषक और धर्मांध के रूप में दिखाया जा सके या फिर मुसलमानों (मुगल शासकों) को हिंदुओं (जनता) पर अत्याचार करते हुए दिखाया जा सके।

### बोध प्रश्न 2

1) देखिए उपभाग 30.3.1 । इस तथ्य पर विचार कीजिए कि 1556-1568 के बीच विभिन्न समुदायों को धार्मिक रियायत दिए जाने के पीछे राजनैतिक उद्देश्य काम कर रहा था। तुरानी कुलीनों की बगावत का सामना करने के लिए अकबर को भारतीय मुसलमानों और राजपूतों पर निर्भर रहना पड़ता था। पर जब भी उसे जरूरत महसूस हुई उसने उनके खिलाफ कड़े कदम उठाने में जरा भी संकोच नहीं किया और राजनैतिक जरूरत के अनुसार इसे धार्मिक स्वर भी प्रदान किया (बिल्कुल वैसा ही जैसा 1568 ई. में किया था)।

2) देखिए उपभाग 30.3.1 । इबादत खाने में होने वाली बहस से उसके चिंतन में आमूल परिवर्तन हो गया और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि सभी धर्मों में एक तत्व की समानता है और इसके पीछे एक तर्क भी है।

### बोध प्रश्न 3

1) देखिए उपभाग 30.3.2 । बताइए कि आमतौर पर उस पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह इन समुदायों के विरुद्ध था पर ऐसी बात नहीं है।

2) देखिए उपभाग 30.3.3 ।

3) देखिए उपभाग 30.3.4 । बताइए कि कुछ कारणों से उसने केवल गुजरात क्षेत्र के लिए ऐसे कदम उठाए (विस्तार से चर्चा कीजिए)। उसने ऐसा ही कदम **मुहर्रम** के संदर्भ में भी उठाया था। अत: यह सब धार्मिक से अधिक राजनैतिक मामलों से संबद्ध था।

NMDC-268

# इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें


इरफान हबीब (संपादक) : **मध्यकालीन भारत,** भाग 1 व 2

के. एम. अशरफ : **हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और परिस्थितियाँ**

एस. आर. शर्मा : **मुगल सम्राटों की धार्मिक नीतियाँ**

रामनाथ : **मध्यकालीन भारतीय कलाएं एवं उनका विकास**

जी. डी. शर्मा : **मध्यकालीन भारतीय सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक संस्थाएं**

इन्दू बन्गा : **द सिटी इन इन्डियन हिस्ट्री**

एस. ए. ए. रिजवी : **द वन्डर दैट वाज इन्डिया,** भाग II

शिरीन मूसवी : **इकोनॉमी ऑफ द मुगल अम्पायर**


NMDC-268

NMDC-268

Uttar Pradesh Rajarshi Tandon
Open University

# UGHY -104 /CSSHY-03

## भारत : 16 वीं से 18 वीं शताब्दी के मध्य तक

खंड

# 3

## समाज और संस्कृति-II


इकाई 31
भारतीय भाषाएँ और साहित्य 131

इकाई 32
विज्ञान और तकनीकी 148

इकाई 33
स्थापत्य 163

इकाई 34
चित्रकला और ललित कलाएँ 185

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें 202

## विशेषज्ञ समिति

प्रो. के एन. पणिक्कर (अध्यक्ष)
प्रो. बी.डी. चट्टोपाध्याय
प्रो. एस. भट्टाचार्य
इतिहास अध्ययन केंद्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. द्विजेन्द्र त्रिपाठी
भारतीय मैनेजमेंट इंस्टीट्यूट
अहमदाबाद

प्रो. ए.जे. सैयद
इतिहास विभाग
बंबई विश्वविद्यालय

प्रो. सुधीर चंद्र
सामाजिक अध्ययन केंद्र, सूरत

प्रो. अनिरुद्ध रे
इस्लामी इतिहास तथा संस्कृति विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता

प्रो. ज्ञान पांडेय
इतिहास विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. आलोक पराशर सेन
इतिहास विभाग
हैदराबाद विश्वविद्यालय
हैदराबाद

डॉ अहमद रज़ा खान
इ.गां.रा.मु.वि.
नई दिल्ली

प्रो. कपिल कुमार (संयोजक)
इ.गां.रा.मु.वि.
नई दिल्ली

## पाठ्यक्रम समिति

डॉ. ए.आर. खां
डॉ. आभा सिंह
सुश्री संगीता पांडे

**पाठ्यक्रम संयोजक**

## खंड निर्माण समिति

| इकाई सं. | लेखक | संकाय सदस्य |
|---|---|---|
| 31 | डॉ. रत्नावली चैटर्जी<br>इस्लामी इतिहास तथा संस्कृति विभाग<br>कलकत्ता विश्वविद्यालय<br>कलकत्ता | सुश्री संगीता पाण्डे |
| 32 | प्रो. ए. जान कैसर<br>इतिहास विभाग<br>अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय<br>अलीगढ़ | डॉ. आभा सिंह |
| 33<br>और<br>34 | डॉ. रवीन्द्र कुमार<br>इतिहास विभाग<br>बड़ौदा विश्वविद्यालय<br>बड़ौदा | डॉ. ए.आर. खां<br>डॉ. आभा सिंह |

**पाठ्यक्रम संपादक**
प्रो. ए. जान कैसर
इतिहास विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय
अलीगढ़

## अनुवाद

श्रीमती सीमा कुमारी
नई दिल्ली

**संकाय सदस्य**
डॉ. ए.आर. खां
डॉ. रवीन्द्र कुमार
डॉ. आभा सिंह
सुश्री संगीता पाण्डे

## सामग्री निर्माण

प्रोफेसर पांडव नायक
निदेशक
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

*मई, 1998 (पुनः मुद्रित)*

*© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991*

ISBN-81-7283-624-5

*सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन के पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।*

NMDC-268

# खंड 8 समाज और संस्कृति II

खंड 5 और 6 में आपने कृषि व्यवस्था, उत्पादन और व्यापार आदि विषयों के अंतर्गत मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था का अध्ययन किया। अब इस खंड (8) में आप समाज और संस्कृति का अध्ययन करेंगे। इस विषय के कुछ प्रमुख आयामों का अध्ययन आप पहले ही खंड 7 में कर चुके हैं।

इस खंड में 4 इकाइयां हैं। प्रथम इकाई (31) भारत के विभिन्न क्षेत्रों की भाषाओं और उनमें लिखे गए साहित्य से संबंधित है। आप देखेंगे कि विद्वानों, सूफी-संतो तथा जन-साधारण सभी ने साहित्य रचना के लिए प्रेरणा प्रदान की।

इस खंड की दूसरी इकाई (32) मध्यकालीन विज्ञान और तकनीकी के विकास के स्तर की जानकारी देती है। विज्ञान में कोई बहुत महत्वपूर्ण विकास देखने को नहीं मिलता, किंतु तकनीकी के क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण सुधार और प्रयोग किए गए। हमने यूरोपीय तकनीकी के प्रति भारतीयों की प्रतिक्रिया पर भी प्रकाश डाला है।

इकाई 33 में हम स्थापत्य के विभिन्न आयामों की चर्चा करेंगे। क्षेत्रीय विभिन्नताओं तथा उपलब्ध इमारतों के उदाहरणों के साथ उनकी विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है।

इकाई 34 में चित्रकला तथा ललित कलाओं का अध्ययन किया गया है। इस इकाई में आप पढ़ेंगे कि किस प्रकार मुगल चित्रकला शैली का जन्म और विकास हुआ तथा यह परिपक्वता को पहुंची। मुगल शैली पर यूरोपीय शैली के प्रभाव की भी चर्चा की गई है। क्षेत्रीय शैलियों (विशेषकर दक्खन तथा राजपूत) की विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है।

NMDC-268

NMDC-268

# इकाई 31 भारतीय भाषाएँ और साहित्य

## इकाई की रूपरेखा


31.0 उद्देश्य
31.1 प्रस्तावना
31.2 अरबी और फारसी
31.3 संस्कृत
31.4 उत्तर भारत
  31.4.1 हिंदी
  31.4.2 उर्दू
  31.4.3 पंजाबी
31.5 पश्चिमी भारत
  31.5.1 गुजराती
  31.5.2 मराठी
31.6 पूर्वी भारत
  31.6.1 बंगला
  31.6.2 असमी
  31.6.3 उड़िया
31.7 दक्षिण भारतीय भाषाएं
  31.7.1 तमिल
  31.7.2 तेलुगु
  31.7.3 कन्नड़
  31.7.4 मलयालम
31.8 सारांश
31.9 शब्दावली
31.10 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 31.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम 16वीं-18वीं शताब्दियों के दौरान भारत में विभिन्न भाषाओं में विकसित होने वाले साहित्य के बारे में विचार विमर्श करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- इस काल के दौरान विकसित साहित्य की समृद्धि और अनेकरूपता का अवलोकन कर सकेंगे;
- भारत में लिखे गये अरबी, फारसी, संस्कृत, हिंदी, पंजाबी, बंगला, असमी, उड़िया, तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ भाषाओं के साहित्य की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे; और
- उपर्युक्त भाषाओं में लिखने वाले कुछ इतिहासकारों, लेखकों और कवियों के बारे में जान सकेंगे।

## 31.1 प्रस्तावना

मुगल शासन की स्थापना से भारत में कुछ हद तक राजनैतिक एकता कायम हुई। इस शासन काल में न केवल आंतरिक बाजार आपस में जुड़े बल्कि विदेशी व्यापार में भी वृद्धि हुई। इसके साथ-साथ सर्जनात्मक बौद्धिक गतिविधियों के लिए भी माहौल निर्मित हुआ। सम्राटों के अलावा मुगल शाहजादों और सामंतों ने भी साहित्यिक गतिविधियों को संरक्षण दिया। राजपूत राजा और दक्खन तथा दक्षिण भारतीय शासक भी इस क्षेत्र में पीछे नहीं रहे। मुख्य रूप से भक्ति आंदोलन से प्रभावित होकर इस काल में विभिन्न देशी भाषाओं में

NMDC-268

समानांतर रूप से लोकप्रिय साहित्य विकसित हुआ।

खंड I में हम पहले ही फारसी और अन्य भाषाओं में लिखी ऐतिहासिक कृतियों पर विचार विमर्श कर चुके हैं। इस इकाई में हम ऐतिहासिक कृतियों की चर्चा नहीं करेंगे। हम अपनी चर्चा को साहित्य तक ही सीमित रखेंगे।

सभी भाषाओं में लिखे गये समग्र साहित्य को समेटना असंभव है। हमारा मुख्य उद्देश्य देश के विभिन्न भागों में लिखी जा रही प्रमुख साहित्यिक रचनाओं से आपको परिचित कराना है।

## 31.2 अरबी और फारसी

मुगलों के अधीन अरबी भाषा में लिखा गया साहित्य मुख्य रूप से धार्मिक प्रकृति का था पर कुछ कवियों ने अरबी भाषा में कविताएं भी लिखीं।

फारसी मुगल दरबार की सरकारी भाषा थी। प्रथम मुगल शासक, बाबर, एक कुशल लेखक था और उसने तुर्की में अपना संस्मरण लिखा था जिसे बाद में अब्दुर रहीम खानखाना ने फारसी में अनूदित किया। बाबर ने **मसनवी मुबीन** नामक एक उपदेशात्मक ग्रंथ भी लिखा है। भारत में फारसी साहित्य के विकास में बाबर का महत्वपूर्ण योगदान यह है कि वह अपने साथ कई फारसी कवियों को लेकर आया। हुमायूँ के ईरान से वापस लौटने के बाद भारत में फारसी लेखकों का आगमन तेजी से हुआ। ईरान के शाह तहमस्प के दरबार में उसकी कई कवियों और कलाकारों से मुलाकात हुई थी। उनमें से कुछ कवियों और कलाकारों से उसने भारत चलने का अनुरोध किया। बाद में अपना दरबार कायम करने के बाद उसने देशी कवियों और लेखकों के साथ-साथ बाहर से आने वाले प्रतिभाशाली कवियों और लेखकों की कृतियों का भी सम्मान किया।

16-17वीं शताब्दी के दौरान फारसी कवियों का एक समूह भारत आया था। इन कवियों ने फारसी साहित्य को एक नये रूप में प्रस्तुत किया। इसे **सबक-ए-हिंदी** (भारतीय शैली) के रूप में जाना गया। अकबर से लेकर शाहजहाँ तक ने इस धारा के कवियों को संरक्षण दिया। इसमें फैजी, उर्फी, नजीरी, तालिब-अमूली, कालिम, गनी कश्मीरी, सायब और बेदिल जैसे महान् भारतीय और फारसी लेखक शामिल हैं।

अक्सर मुगल सम्राट और राजकुमार खुद भी कविताएं लिखा करते थे, उदाहरण के लिए हुमायूँ ने एक फारसी दीवान लिखा। अबुल फजल के अनुसार अकबर के दरबार में हजारों कवि उपस्थित रहते थे। फैजी के अलावा गजली मश्नदी भी एक मशहूर और बहुत ही तेजस्वी कवि था। उसने कई मसनवियाँ लिखीं। गजली मश्नदी के उत्तराधिकारी के रूप में फैजी आया। उसकी प्रमुख कृतियों में एक दीवान शामिल है। जिसका शीर्षक **तब्शिर-अल-सुबह** है। इसमें **कसीदा, गजल, मरसिया, किता** और **रूबाइयां** शामिल हैं समय के साहित्यिक चलन के अनुरूप उसने एक **खामसाह** लिखने की योजना भी बनाई थी, पर वह अधूरा ही लिख पाया, उदाहरण के लिए **नल दमयंती**। फैजी के गद्य ग्रंथों में **लीलावती** का फारसी रूपांतरण, उसके संदेश पत्र और हिंदू धार्मिक ग्रंथों के फारसी अनुवाद शामिल हैं। कुछ आलोचकों के अनुसार फैजी का तुर्की में बड़ा सम्मान था और उसके प्रभाव के कारण ही भारतीय-फारसी कविता का भारत के बाहर भी प्रचार प्रसार हुआ।

अब्दर रहीम खानखाना एक जाना माना विद्वान और तेजस्वी कवि था। उसने अकबर और जहांगीर दोनों का शासनकाल देखा था। उसके पास एक विशाल पुस्तकालय था, जिसमें चार हजार से भी ज्यादा पुस्तकें थीं। यह पुस्तकालय भी उसकी समृद्धि का प्रमुख कारण था। उसने नजीर निशापुरी, उर्फी शिराजी और मुल्ला अब्दुल बाकी निहवंदी जैसे कई लेखकों को संरक्षण प्रदान किया था।

शाहजहां को फारसी साहित्य और साहित्यकारों का महान् संरक्षक कहा जाता था। समकालीन फारसी कवि अली कुली सलेम के अनुसार उसके शासनकाल में भारत में फारसी कविता अपने उत्कर्ष पर थी। शाहजहां के दरबारी कवि के रूप में कुदसी का स्थान हमादान के अबु तालिब कालिम ने लिया। उसने अपने दीवान के अतिरिक्त शाहजहां की उपलब्धियों पर आधारित **पादशाहनामा** नामक महाकाव्य भी लिखा। तबरीज का मिर्जा मुहम्मद अली

सायब इस काल का महानतम फारसी कवि था। उसने फारसी कविता को एक नयी शैली प्रदान की। इसफहान लौटने पर भारत को दूसरा स्वर्ग कहकर उसने इस देश के प्रति अपनी कृतज्ञता जाहिर की। इस प्रकार मुगल शासकीय वर्ग के संरक्षण के कारण न केवल फारसी साहित्य की एक नयी शैली विकसित हुई बल्कि इससे गद्य लेखन में भी निखार आया।

दक्षिण में, बीजापुर के आदिल शाही शासकों ने फारसी साहित्य को भरपूर संरक्षण प्रदान किया। इब्राहीम अदिल शाह द्वितीय (1580-1626) के दरबार में उत्तर भारत और मध्य एशिया से अनेक लेखक और कवि एकत्रित होने लगे। आदिलशाही राजवंश का संरक्षण पाने वाले कवियों में मलिक कुम्मी (मृत्यु 1640 ई.) का नाम महत्वपूर्ण है। उसका समकालीन कवि मुल्ला जूहूरी निश्चित रूप से दक्खन का महानतम फारसी कवि था। उसने कविता और गद्य लेखन दोनों क्षेत्रों में एक नयी शैली विकसित की और सादी के **गुलिस्तां** के नमूने पर **साकीनामा** नामक पुस्तक लिखी। गोलकुंडा के कुतुब शाहियों ने भी फारसी विद्वानों और साहित्य को संरक्षण प्रदान किया। इनके संरक्षण में फारसी भाषा में अनेक पुस्तकें लिखी गयीं। अब्दुल्ला कुतुब शाह के संरक्षण में 1651 ई. में मुहम्मद हुसैन तबरेजी ने अपना फारसी शब्दकोश निर्मित किया। 1681 ई. में बुस्तमी ने **हदीकल सलातीन** शीर्षक से प्रमुख फारसी कवियों की जीवनी प्रस्तुत की।

मुहम्मद कुली कुतुब शाह के शासनकाल में कुतुब शाही राज्यवंश के चार ऐतिहासिक अभिलेखों को छंद में ढाला गया। अबु इमाद ने **खिर कतुल आलम** नाम से छह खंडों में एक बृहद् संदर्भ ग्रंथ निर्मित किया। इनसे पता चलता है कि कुतुबशाही शासकों का ईरानी संस्कृति से लगाव बना हुआ था और वे इसमें रुचि भी लेते थे। साथ ही यह भी लगता है कि कुतुबशाही शासक अपने राज्य में आने वाले फारसी विद्वानों का गर्मजोशी से स्वागत और सम्मान करते थे। इसके परिणामस्वरूप फारसी ने दक्षिण में बीजापुर और गोलकुंडा की क्षेत्रीय दरबारी भाषा के रूप में पैर जमा लिया।

फारसी भाषा में रहस्यवादी या सूफी साहित्य भी लिखा गया। इसके अंतर्गत सूफियों द्वारा रहस्यवाद पर लिखे शोध ग्रंथ, सूफियों द्वारा लिखे गये पत्र **मलफूजात** (सूफी संतों की बहस), सूफियों की जीवनियां और सूफी कविता के संग्रह शामिल हैं।

शाहजादा दारा शिकोह ने **सकीनतुल औलिया** शीर्षक से सूफी मियां मीर और उनके शिष्यों की जीवनी लिखी है। **मजमउल बहरैन** (दो सागरों का मिलन) सूफीवाद से संबद्ध एक अन्य ग्रंथ है। इस कृति में उसने इस्लामी सूफी अवधारणाओं की तुलना हिंदू दार्शनिक दृष्टिकोण के साथ की है।

इस काल में मुगल सम्राटों ने महान् भारतीय ग्रंथों को फारसी में अनूदित करवाकर फारसी साहित्य को समृद्ध बनाया। अकबर के समय में **सिंहासन बतीसी, रामायण** और **कल्हण** की **राजतरंगिणी** का अनुवाद हो चुका था। ये सभी अनुवाद बदायूनी ने किये थे।

मुगल दरबार में विकसित हो रहे फारसी साहित्य का क्षेत्रीय साहित्य के विकास पर अच्छा खासा प्रभाव पड़ा। साहित्यिक उर्दू भाषा का विकास इसी का परिणाम था। पंजाबी, पश्तो, सिंधी, बलूची और कश्मीरी जैसी भाषाओं के विकास में भी फारसी परंपरा का महत्वपूर्ण योगदान है।

## 31.3 संस्कृत

मध्यकाल में संस्कृत दरबार की प्रमुख भाषा नहीं रह गयी। हालांकि मुगल सम्राटों और दारा जैसे राजकुमारों ने संस्कृत विद्वानों को संरक्षण दिया पर उत्तर भारत में इसका पहले जैसा महत्व नहीं रहा। दूसरी तरफ दक्षिण में माधवाचार्य और शंकराचार्य के प्रभाव के कारण संस्कृत साहित्य फलता फूलता रहा और विजयनगर के राजाओं ने उसे संरक्षण भी प्रदान किया। 1565 ई. के बाद तुलुवा और अराविडु राजवंशों के शासकों, तंजोर के नायकों और कोचीन तथा त्रावणकोर के सरदारों ने संस्कृत को संरक्षण देने की परम्परा जारी रखी। संस्कृत साहित्य की कई विधाएं, महाकाव्य, श्लेष काव्य, चम्पू काव्य, नाटक और खासकर ऐतिहासिक काव्य, विकसित होती रहीं। महाकाव्य के क्षेत्र में तंजोर के शासक रघुनाथ

नायक और उसके दरबारी कवियों का उल्लेख किया जा सकता है। उसकी कई कृतियों में उसके पिता अच्युत की जीवनी का विशेष महत्व है। जिंजी के नायकों के एक मंत्री, श्रीनिवास दीक्षित ने कई रचनाएं लिखी थीं। उसकी रचनाओं में अठारह नाटक और साठ काव्य ग्रंथ शामिल हैं। गोविंद दीक्षित तंजोर के नायक के दरबार का एक अन्य महान् साहित्यकार था। **साहित्य सुधा** और **संगीतसुधानिधि** उसकी महान् रचनाएं हैं।

वेल्लोर के नायक सरदारों ने एक अन्य संस्कृत विद्वान अप्पय दीक्षित (1520-92) को प्रश्रय दिया था। उसने संस्कृत की ज्ञान परम्परा की अनेक शाखाओं पर सौ से अधिक ग्रंथ लिखे।

नीलांत दीक्षित (17वीं शताब्दी) मदुरा के तिरुमलनायक का एक मंत्री था। उसने कई महाकाव्य लिखे। उसके शिव लीला और भगीरथ की तपस्या से सम्बद्ध काव्य को विद्वान उच्च कोटि का मानते हैं।

इस काल का एक महत्वपूर्ण संस्कृत कवि चक्रकवि, कोझीकोडे के राजा मानदेव जमोरी (1637-1648) का मित्र था। उसने **जानकी परिणय** और **नारायण** या **नारायण भट्टतीरे** नामक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। मानदेव जमोरी ने संस्कृत साहित्य को काव्य, मीमांसा, व्याकरण आदि के क्षेत्र में महत्वपूर्ण ग्रंथ दिए। महाकाव्य के क्षेत्र में वह बहुत प्रतिभावान था। उसे केरल का महानतम कवि माना गया।

इस काल में लिखे गये ऐतिहासिक "काव्यों" और "नाटकों" में इन संस्कृत लेखकों के सामाजिक दृष्टिकोण की झलक मिलती है जो अभी तक शास्त्रीय नियमों की वकालत करते आ रहे थे। एक रोचक तथ्य यह है कि इन प्रारंभिक ऐतिहासिक काव्यों में से एक काव्य एक महिला द्वारा भी रचित है। इसका नाम तिरुमल्लांबा है जिसे अभिलेख में 'पाठक' बताया गया है। उसकी कृति **वरदगुम्बिका परिणय** में अच्युतदेवराय के विवाह की कथा है। इस कृति का ऐतिहासिक महत्व होने के साथ-साथ यह उस काल में "चम्पू" काव्य का बेहतरीन नमूना है।

तंजोर के रघुमल्ल नायक की वीरता को लेकर अनेक वीरकाव्य लिखे गये पर इसमें गोविंद दीक्षित रचित **रघुनाथभ्युदय** उल्लेखनीय है। इसमें कई ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन है।

शिवाजी और उनके पुत्र के जीवन को आधारित कर लिखे गये कई महाकाव्य मराठा इतिहास के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इस संदर्भ में **अनुभरत** या **शिव भरत** नामक काव्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। शिवाजी के समकालीन कवीन्द्र परमानंद ने यह कार्य शुरू किया। उसके पुत्र देवदत्त ने इसे जारी रखा और उसके पोते गोविंद ने शम्भूजी के जीवन का वर्णन किया।

एक रोचक तथ्य यह है कि ऐतिहासिक काव्यों में दरबारी कवियों ने मुसलमान शासकों को भी नायक के रूप में पेश किया है। मसलन, पंडित जगन्नाथ ने दारा शिकोह की प्रशंसा में **जगदभ** और आसफ खां के लिए **आसफ विलास** लिखा। दारा शिकोह ने खुद बनारस के नृसिंह सरस्वती के सम्मान में एक प्रशस्ति की रचना की।

दक्षिण भारत में लिखित तर्क ग्रंथों में सबसे ज्यादा लोकप्रिय **तर्क संग्रह** (लगभग 1625 ई.) है। इसका लेखक अनामभट्ट चित्तूर जिले का रहने वाला था। उसने कई दार्शनिक ग्रंथों पर टीकाएं भी लिखी थीं। द्वैत दर्शन के क्षेत्र में वियसराय (मृ. 1537) और उसके शिष्य विजयेन्द्र (1576) का विशेष योगदान है। वियसराय ने **भदोजजीवन, तात्पर्यचन्द्रिका** और **न्यायमित्र** नामक ग्रंथ लिखे। विजयेन्द्र ने **उपसंहारविजय** और **माधव तंत्रमुख भूषण** नामक रचनाएं रचीं। अहमदनगर के निजामशाही दरबार के एक उच्च पदाधिकारी दलपति (1490-1533) ने **नृम्हिप्रद** नामक वृहद ग्रंथ लिखा जो धर्म और नागरिक कानूनों से सम्बद्ध था।

ऊपर दिए गए सभी उदाहरणों के बावजूद संस्कृत साहित्य पतनोन्मुख था। लेखक मूल रचनाओं का लेखन करने के बजाय टीकाओं पर अधिक ध्यान केन्द्रित कर रहे थे। हालांकि वैज्ञानिक ग्रंथ लिखे जा रहे थे और संगीत और दर्शन पर अध्ययन जारी था, पर इनकी संख्या काफी कम थी। मुख्य रूप से इस समय रूप की तकनीक और व्याकरण ग्रंथों की टीकाओं से सम्बद्ध ग्रंथ लिखे गये। संस्कृत साहित्य के पतन का एक महत्वपूर्ण कारण इस काल के दौरान देशी साहित्य का उदय माना जाता है। भक्ति आंदोलन ने पूरे देश को प्रभावित किया। इससे क्षेत्रीय कवि अपनी बोलचाल की भाषा में छंदबद्ध काव्य लिखने को प्रेरित हुए।

NMDC-268

यह भाषा बोलचाल की भाषा के नजदीक थी। इन साहित्यिक कृतियों की लोकप्रियता का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि सामान्य जन के साथ-साथ कुलीन वर्ग भी इसकी ओर तेजी से आकर्षित हुआ।

**बोध प्रश्न 1**

1) निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :

क) रहस्यवादी साहित्य :

.....

.....

.....

.....

.....

ख) दक्षिण भारत की फारसी साहित्यिक कृतियाँ :

.....

.....

.....

.....

.....

ग) फारसी भाषा में श्रेष्ठ भारतीय ग्रंथों का अनुवाद :

.....

.....

.....

.....

.....

2) 16वीं-17वीं शताब्दियों के दौरान संस्कृत भाषा में लिखी गयी कृतियों पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 31.4 उत्तर भारत

उत्तर भारत में मुख्य रूप स हिदा, उर्दू और पंजाबी भाषा में साहित्य का निर्माण हुआ।

### 31.4.1 हिंदी

हिंदी भाषा के विकास की कहानी लंबी है। यह कई कालों और दौरों से गुजरकर अपने आधुनिक स्वरूप में हमारे सामने है। उत्तरी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बोली जाने वाली बोलियों का इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। इन बोलियों में ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी, मालवी आदि प्रमुख हैं, हिंदी के एक मिश्रित रूप खड़ी बोली का उदय भी 15वीं-16वीं शताब्दियों के दौरान हुआ।

हिंदी का उद्गम 7वीं से दसवीं शताब्दी के बीच हुआ। इस समय हिंदी अपभ्रंश रूप से उभर रही थी। हिंदी साहित्य के आरंभिक काल को वीरगाथा काल के नाम से जाना जाता है। इस काल में कवियों ने राजपूत राजाओं और सरदारों की कीर्ति में काव्यों की रचनाएं कीं। ऐसी कविताओं में **'पृथ्वीराज रासो'**, **'हमीर रासो'** आदि प्रमुख हैं।

इसके बाद भक्तिकाल का दौर शुरू हुआ। कबीर इस युग के सबसे महत्वपूर्ण कवि थे। यह परम्परा 16वीं-17वीं शताब्दियों के दौरान भी जारी रही। संस्कृत के भ्रष्ट रूप मागधी-प्राकृत से हिंदी भाषा का विकास हुआ और भक्तिकाल में इस भाषा में अभूतपूर्व रचनाएं सामने आयीं। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने लेखन के माध्यम से इस भाषा को सर्जनात्मक शक्ति प्रदान की। इनका जन्म 1523 ई. के आसपास पूर्वी उत्तर प्रदेश में हुआ था। उन्होंने सन्यास धारण कर लिया और 1574 ई. में अपनी विख्यात पुस्तक **रामचरित मानस** की रचना शुरू की। तुलसीदास ने इसकी रचना अवधी लोकभाषा में की। लोकभाषा में लिखे होने के कारण यह ग्रंथ अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। तुलसीदास ने अपने इस ग्रंथ में राम को आदर्श पुरुष के रूप में प्रस्तुत किया। इसमें उन्होंने भक्ति का आदर्श स्थापित किया।

तुलसीदास ने अनेक ग्रंथों की रचना की लेकिन **विनयपत्रिका** में उनका दर्शन अधिक मुखर हुआ है। हालांकि उन्होंने ईश्वर मात्र के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना की शिक्षा दी थी पर अपने व्यक्तिगत जीवन में वे एक ईश्वर की पूजा करते थे और उसी के प्रति समर्पित थे। तुलसीदास ने अग्रदास और नाभादास जैसे अन्य भक्त कवियों को भी प्रेरित किया। इन्होंने भक्तमाल की रचना की थी जिसमें प्राचीन काल के वैष्णव संतों तक का उल्लेख किया गया था।

राम के अलादा कृष्ण की भी ईश्वर के अवतार के रूप में पूजा की गयी और उनके प्रति भक्ति भाव प्रकट किया गया। कृष्ण के प्रति भक्ति करने वाले कवियों को "अष्टछाप" के नाम से जाना गया। ये सभी आठ कवि वल्लभाचार्य के शिष्य थे। इनमें सूरदास सर्वोत्तम माने गये। उनका रचना काल 1503-1563 ई. के बीच का है। मीराबाई ने कृष्ण भक्ति को एक नया आयाम दिया। राजपूत घराने की इस रानी ने सन्यासिनी का वेश धारण किया। मीरा खुद कई रोमांटिक दंत कथाओं की नायिका बन गयीं। अपने गीतों में उन्होंने कृष्ण को प्रेमी के रूप में चित्रित किया और अपने आराध्य देव के प्रति एक "भक्त" के समान खुद को पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया। ये गीत मूल रूप से राजस्थान की मारवाड़ी बोली में रचे गये थे पर बाद में बोलचाल के क्रम में उसमें ब्रजभाषा का प्रभाव पड़ गया। यह भाषा मुख्य रूप से गुजरात और उत्तरी भारत के हिस्सों में लोकप्रिय थी।

सूफी कवियों ने अवधी भाषा में अपनी रचनाएं लिखीं और अपने रहस्यवादी दर्शन को अभिव्यक्त करने के लिए लोककथाओं का सहारा लिया। अधिकांशतः प्रेमकथाएं ही अभिव्यक्ति का माध्यम बनीं। इस प्रकार के लेखकों में **चंदायन** के लेखक मुल्ला दाउद और **मृगावती** के लेखक कुतुबन का नाम लिया जा सकता है। पर इस परम्परा के महान् कवि मलिक मुहम्मद जायसी थे जिन्होंने 1520-40 ई. के बीच प्रसिद्ध ग्रंथ **पद्मावत** की रचना की। इसमें अलाउद्दीन खिलजी और चित्तोड़ की रानी पद्मिनी की लोकप्रिय लोककथा का विस्तार से रहस्यवादी विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। यह कृति विषय की दृष्टि से तो उल्लेखनीय है ही, इसमें अवधी भाषा को एक नया स्वरूप भी प्रदान किया गया है। इससे अवधी भाषा की सर्जनात्मक क्षमता में वृद्धि हुई। 17वीं और 18वीं शताब्दियों के मुसलमान कवियों में उस्मान शेख नबी, कासिम और मीर मुहम्मद उल्लेखनीय हैं।

अकबर के संरक्षण में ब्रजभाषा साहित्य समृद्ध हुआ और तानसेन जैसे संगीतकारों तथा अब्दुर रहीम खानखाना जैसे कवियों ने कृष्ण की लीला संबंधी पद रचे।

### 31.4.2 उर्दू

तुर्की "उर्दू" शब्द का अर्थ सैनिक छावनी है। यह 14वीं शताब्दी के बाद दक्खन और दक्षिणी भारत में शासन कर रहे मुसलमानों की बोली के रूप में उभरी। इसका साहित्यिक रूप 15वीं शताब्दी में सामने आया जिसे "दक्खनी" के रूप में जाना गया। हालांकि इस भाषा में मुस्लिम शासन के पहले के काल की बोलियों की झलक मिलती है पर इसका मुख्य प्रेरणा

स्रोत तत्कालीन फारसी साहित्य बना। रूप और विषय उन्होंने इसी साहित्य से ग्रहण किया। यह प्रवृत्ति 17वीं शताब्दी के अंत तक कायम रही और यहां तक कि इसकी लिपि भी फारसी अरबी बनी रही।

गुजरात, बीजापुर, गोलकुंडा, औरंगाबाद और बीदर दक्खनी साहित्य के प्रमुख केंद्र थे। मुसलमानी हिंदी परम्परा के सबसे प्राचीन लेखक प्रसिद्ध सूफी कवि सैयद बंदा नवाज गेसूदराज (मिराज़ उल आशिकी का लेखक) हैं जिन्होंने 1422 ई. में बहमनी राज्य की राजनीति में मुख्य भूमिका अदा की थी।

इस साहित्यिक रूप के दो प्रमुख कवि शाह अली मोहम्मद जान और शेख खूब मोहम्मद ने गुजरात में रहकर अपनी रचनाएं प्रस्तुत कीं। गोलकुंडा के कुतुबशाही सुल्तान दक्खनी साहित्य के प्रमुख संरक्षक थे। उनमें मुहम्मद कुली कुतुब शाह (1580-1619) खुद कवि था। इसके अलावा उसके दरबारी कवि मुल्ला वजही ने उन्हें अपने काव्य के रोमांटिक नायक के रूप में भी प्रस्तुत किया। गोलकुंडा में रहने वाले उल्लेखनीय कवियों में घसवी, इब्नी, निशाती और तबी का नाम प्रमुख है।

बीजापुर का सुल्तान इब्राहिम आदिल शाह द्वितीय (1580-1626) कला एवं संस्कृति का एक महान् संरक्षक था और उसने स्वयं दक्खनी संगीत पर एक पुस्तक लिखी थी। दक्खनी कवि अपनी कृतियों में स्थानीय घटनाओं और वृत्तांतों का भी उल्लेख करते थे। हसन शौकी ने अपनी एक कविता में तालिकोटा के युद्ध (1565) का उल्लेख किया है। इस युद्ध में दक्खन के मुसलमान सुल्तानों ने विजयनगर के हिंदू राज्य पर विजय प्राप्त की थी। रूस्तमी और मलिक खुनसुद के समान अधिकांश कवि मुसलमान थे, पर हिंदू भी इस भाषा में कविता रचते थे। हिंदू कवियों में सर्वप्रथम एक हिंदू, ब्राह्मण था जो "नुसरती" के नाम से कविता लिखता था। **अलीनामा** और **गुलशने इश्क** उसकी प्रमुख कृतियां हैं। **अलीनामा** एक लंबी कविता है जिसमें कवि ने अपने आश्रयदाता अली आदिल शाह द्वितीय (1656-1672) का जयगान किया है। **गुलशने इश्क** में मनोहर नामक हिंदू और मधुमालती की प्रेमकथा को विषय बनाया गया है। उन्हें कविता के नायक-नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

रूस्तमी की प्रमुख कृतियों में **खावरनामा** का नाम सर्वोपरि आता है। वजही दूसरा महत्वपूर्ण कवि है। उन्होंने **कुतबो मुश्तरी**, एक **मसनवी** और **सब रस** (गद्य रचना) की रचना की। वली दक्खनी इस काल का सबसे महत्वपूर्ण उर्दू कवि था। उर्दू कविता को गज़ल शैली से उसी ने परिचित करवाया। उसने फारसी परम्परा की तर्ज पर उर्दू गज़ल का विकास किया। वली की दृष्टि तीक्ष्ण थी, उसकी अनुभूति प्रबल थी और उसकी शैली में फैलाव और अनेकरूपता थी। उसके समकालीन उर्दू कवि मिर्जा दाउद ने भी इस काल में उर्दू साहित्य के विकास में योगदान किया।

1750 ई. तक दिल्ली क्षेत्र में उर्दू अच्छी तरह जम गयी और दक्खन पर औरंगजेब के अभियान के बाद दक्खनी का पतन हो गया।

### 31.4.3 पंजाबी

पंजाबी भाषा संस्कृत के एक अपभ्रष्ट रूप सौरशेनी प्राकृत या और स्पष्ट रूप से कहें तो सौरशेनी अपभ्रंश से निकली है। ब्रजभाषा और राजस्थानी के साथ-साथ पंजाबी का व्याकरणिक आधार एक है। हालांकि गुरुनानक (1469-1538) के पहले का लिखित पंजाबी साहित्य प्राप्त नहीं हुआ है। 'आदि ग्रंथ' इस भाषा की प्रारंभिक कृति है, जिसे 1604 ई. में गुरू अर्जुन देव ने संग्रहीत किया था। इस ग्रंथ से एक शब्द निकालना या जोड़ना पाप माना गया है अतः यह अपने मूल रूप में सुरक्षित है। इस प्रकार यह मध्यकालीन साहित्य का सर्वोत्तम प्रारूप है।

इस ग्रंथ में गुरुओं ने ईश्वर के रूवरूप और महिमा का बखान किया है और इस ग्रंथ को विभिन्न राग वाले पदों से संवारा गया है। गुरुनानक की वाणी में उपदेशात्मकता का स्वर प्रमुख है। उनके ये उपदेश गहरी तपस्या, अंतः प्रज्ञात्मकता और सहज बोध को ही अभिव्यक्त करते हैं।

गुरुओं के अलावा सिक्ख धर्म के प्रचार प्रसार के लिए भाई गुरुदास (1559-1637) ने भी कविताओं की रचना की। उनकी छंद पर असाधारण पकड़ थी। उनके बाद भक्ति साहित्य से

NMDC-268

सम्बद्ध अनेक रचनाएं प्रकाशित हुईं। इससे पंजाबी या गुरुमुखी भाषा समृद्ध हुई।

काव्य के अलावा गद्य रचनाएँ भी सामने आयीं। इनमें मुख्य रूप से जनम साखियां नाम से जीवनियां लिखी गयीं। सिक्ख धर्म के सिद्धांतों और वचनों को भी गद्य के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। गैर धार्मिक क्षेत्र में अधिकतर प्रेम कथाओं की रचना की गयी। इन्हें "किस्सा" के नाम से जाना गया। इनकी रचना मुख्य रूप से मुसलमान लेखकों ने की है। इन प्रेम कथाओं में हीर रांझा और मिर्जा तथा साहिबान की कथाएं प्रमुख हैं। हीर और रांझा कथा के सर्वोत्तम प्रवक्ता वारिस शाह हैं। वारिस शाह एक कुशल कवि थे जिनकी संवाद पर असाधारण पकड़ थी। कथा में मार्मिक अंशों और त्रासदिक तत्वों के समावेश में वे सिद्हस्त थे। नायक और नायिका की मृत्यु का वर्णन करते हुए उनकी यह कला अपने उत्कर्ष पर पहुंची दिखाई देती है।

मिर्जा-साहिबान की कथा का सर्वोत्तम रूप कवि पीलू की रचना में देखने को मिलता है। उसने गहराई में जाकर नायिका साहिबान के मनोवैज्ञानिक द्वंद्व का चित्रण किया है जिसमें नायिका अपने परिवार के प्रति निष्ठा और मिर्जा के प्रति प्रेम के दोहरे पाट में पिसती दिखाई गई है।

एक हिंदू कवि अग्र ने हकीकत राय नामक एक सिक्ख युवा की शहादत की गाथा गाई है। यह युवक शाहजहां के शासनकाल में लाहौर में अपने धर्म के लिए शहीद हो गया था।

सूफी कवियों ने भी पंजाबी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इनमें सुल्तान बाहु (1631-91) प्रमुख है। वह झंग क्षेत्र का रहने वाला एक सूफी था। उसने अपनी कविताओं के माध्यम से ईश्वर से मिलन और भक्ति का प्रतिपादन किया है।

शाह हुसैन एक घुमक्कड़ संत फकीर थे जो गांव-गांव घूमा करते थे। लोग उन्हें बहुत प्यार करते थे। उन्होंने लयबद्ध गीत लिखे। इस पद को **काफी** के नाम से जाना जाता है और अधिकांश सूफी कवियों ने इसे अपनाया। शाह हुसैन द्वारा प्रयुक्त संगीत और लय को भी सूफी कवियों ने अपनाया। बुल्लेशाह (1680-1758) सर्वाधिक नामवर सूफी कवि थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में परमानंद, प्रेम और जीव के ईश्वर से मिलन के बारे में लिखा है। उन्होंने अपनी कृतियों में मुख्य रूप से जीवन के आध्यात्मिक पक्ष पर जोर डाला है पर उनकी कविताओं में पंजाब की मिट्टी की गंध है। बुल्लेशाह की कविताएं लोक गीतों में ढल गयीं। आज वह पंजाबी साहित्यिक परम्परा का एक समृद्ध अंग है।

**बोध प्रश्न 2**

1) हिंदी साहित्य को समृद्ध करने में भक्ति आंदोलन के योगदान पर विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) उर्दू साहित्य के विकास में दक्खन राज्यों के योगदान पर विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित पर संक्षेप में लिखिए :

क) **"आदि ग्रंथ**

..... .....

..... .....

.....

.....

.....

ख) पंजाबी में लिखने वाले सूफी कवि :

.....

.....

.....

.....

.....

## 31.5 पश्चिमी भारत

पश्चिम भारतीय भाषाओं में हम यहां गुजराती और मराठी का अध्ययन करेंगे।

### 31.5.1 गुजराती

16वीं शताब्दी के आरंभ से गुजराती साहित्य के इतिहास में एक नये अध्याय की शुरुआत होती है। यह दूसरा चरण कहा जा सकता है। आधुनिक गुजराती साहित्य के आगमन के पहले लगभग दो सौ वर्षों तक इसी चरण का प्रभुत्व कायम रहा। कई अन्य भाषाओं के समान धर्म और रहस्यवाद गुजराती साहित्य की भी विषयवस्तु रही। 16वीं शताब्दी के आरंभ में गुजरात में वैष्णव भक्ति आंदोलन एक प्रमुख सामाजिक विषय था। अतः इस काल का अधिकांश साहित्य भक्ति परम्परा से जुड़ा हुआ है।

इस काल के प्रमुख गुजराती कवि निम्नलिखित हैं :

| | |
|---|---|
| भलन | (लगभग 1426—1500) |
| नरसिंह मेहता | (लगभग 1500—1580) |
| अक्खो | (लगभग 1615—1674) |

इनमें से नरसिंह मेहता ने परवर्ती कवियों को विशेष रूप से प्रभावित किया। उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा और बहुरंगी लेखन के कारण उन्हें गुजराती कविता का महान कवि माना जाता है। भलन एक परम्परागत कवि थे। उनकी कविता विषयवस्तु की दृष्टि से श्रेष्ठ और अभिव्यक्ति में गरिमामय होती थी। उन्हें गुजराती छंद का उत्तम कलाकार माना जाता है। अक्खो एक कुशाग्र और तेजस्वी कवि थे और उनकी कविताओं में आध्यात्मिकता के साथ-साथ सामाजिक दृष्टिकोण भी मुखर हुआ है। वे कोई विद्वान नहीं थे पर उन्होंने आध्यात्मिक और सामाजिक सुधार संबंधी गीत बिल्कुल भक्ति में डूबकर गाये हैं।

17वीं शताब्दी के बाद गुजराती साहित्य में गिरावट का रुख शुरू हो जाता है। इसके बावजूद इस काल में तरह-तरह के साहित्य रचे गये। इस समय भक्ति, नीति, अर्द्धतात्विक और धर्मनिरपेक्ष साहित्यों की भी रचना की गयी।

### 31.5.2 मराठी

16वीं-17वीं शताब्दी के मराठी साहित्य में दो प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं धार्मिक और गैर धार्मिक। इस काल की धार्मिक कविताओं में निम्नलिखित रचनाएं प्रमुख हैं :

- ज्ञानेश्वर की शैली में फादर थॉमस स्टीफिन्स (1549-1619) का **ख्रावित्त पुराण** लिखा गया।
- मुक्तेश्वर ने **रामायण** और **महाभारत** के अंशों पर आधारित अपनी कविताओं में अपने समाज को प्रतिध्वनित किया है।
- तुकाराम के **अभंग** में लोगों से प्रत्यक्ष रूप में संवाद स्थापित किया गया है।

इस काल के गैरधार्मिक साहित्य में शिवाजी के गुरू और महान् संत रामदास की कविताएं और वामन पंडित (1615-1678) की रचनाएँ शामिल हैं। रामदास की रचनाओं में भक्ति और धार्मिक संवेदना के साथ मुक्ति और राष्ट्रीय पुनर्संरचना का भाव मिला होता था। वामन का दृष्टिकोण विद्वतापूर्ण और शैक्षिक था। इस कारण उसकी भाषा क्लिष्ट और संस्कृतनिष्ठ थी। उनकी प्रमुख रचना गीता की टीका है जिसमें उन्होंने भक्ति के स्थान पर ज्ञान की महत्ता स्थापित की है।

इस काल की गैरधार्मिक कविताओं में **पोवडों** और **लवनियों** को भी गिना जा सकता है। **पोवडा** जीवंत नृत्य नाटिका कविता होती थी और इसकी काव्य भाषा में चटकीलापन होता था। **लवनियों** की प्रकृति रोमांटिक होती थी और इसमें गहरी संवेदनाओं का सुंदर उपयोग किया जाता था।

## 31.6 पूर्वी भारत

पूर्वी भारत में मुख्य रूप से बंगला, असमी और उड़िया भाषा में साहित्य का सृजन हुआ।

### 31.6.1 बंगला

पूर्व में, चैतन्य महाप्रभु के आगमन के बाद बंगला भाषा और साहित्य की समृद्धि शुरू हुई। श्री चैतन्य वैष्णव कवि थे। संतों की वाणी से प्रभावित होकर उन्होंने रहस्यवाद का उपदेश देना आरंभ किया और मैथिली और संस्कृत की मिली जुली नयी भाषा में अपने गीत रचने लगे। यह भाषा ब्रज बोली के नाम से जानी गई और इसके गीतों को पदावली के रूप में जाना गया। वैष्णव संतों की कई जीवनियां भी प्रकाशित हुईं। हालांकि श्री चैतन्य की जीवनी सबसे पहले मुरारी गुप्त ने संस्कृत में लिखी थी पर इसके तुरंत बाद बंगला में वृंदावनदास के द्वारा रचित एक जीवनी सामने आयी। अनुमानत: वृंदावनदास ने श्री चैतन्य की मृत्यु के एक दशक के भीतर ही **चैतन्य भागवत** या **चैतन्य मंगल** की रचना कर दी थी और इसे तत्कालीन सामाजिक अवस्था का सर्वाधिक महत्वपूर्ण दस्तावेज माना जाता है।

कृष्णदास कविराज का चैतन्य चरितामृत इस कड़ी की एक महत्वपूर्ण कृति है। हालांकि इसके लेखन काल के संबंध में विवाद है, पर यह ग्रंथ गौड़ीया वैष्णव धर्म का दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। इसमें पहली बार दार्शनिक सिद्धांत का प्रतिपादन कर श्री चैतन्य को श्री कृष्ण का अवतार बताया गया है।

श्री चैतन्य की जीवनी में चूड़ामणिदास का गौरंग विजय प्रमुख है। जयनंद और लोचनदास नामक दो कवियों की **चैतन्य मंगल** नाम से दो अलग-अलग रचनाएं उल्लेखनीय हैं। लोचनदास लोक संगीत **धमाली** नामक शैली विकसित करने के लिए ज्यादा जाना जाता है। इस शैली में मुख्य रूप से कृष्ण की प्रेम कथाओं का उल्लेख होता था।

**पदावली** के नाम से प्रसिद्ध गीतकाव्य वैष्णव साहित्य की एक अन्य महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। इन "**पदों**" के निर्माण के लिए संस्कृत साहित्य में वर्णित रसों को आधार बनाया गया। राधा-कृष्ण का प्रेम प्रमुख विषय बना। इन ग्रंथों के आरंभ में श्री चैतन्य की स्तुति की जाती थी और राधा और कृष्ण का मिला जुला रूप मानकर उनकी वंदना की जाती थी। कृष्ण लीला को आधार बनाकर कई आख्यानात्मक कविताएँ लिखी गयीं। मुख्य रूप से इनमें **भागवत्** दशम स्कंध में वर्णित वृंदावन लीला को आधार बनाया गया है।

एक तरफ जहां हिंदू जमींदारों और मुसलमान सूबेदारों ने वैष्णव साहित्य को प्रश्रय देना शुरू किया वहीं "मंगल काव्य" के नाम से आख्यानात्मक काव्य की एक अन्य धारा का भी विकास हुआ। इसमें चड़ी मनसा धर्म आदि स्थानीय देवी-देवताओं का महत्व स्थापित किया गया और शिव तथा विष्णु जैसे पौराणिक भगवानों को बंगाली कृषक या कलाकार के रूप में प्रस्तुत कर पारिवारिक देवी-देवता के रूप में प्रतिस्थापित किया गया। "मंगल काव्य" की वर्णनात्मक शैली पुराणों से प्रेरित है। इन काव्यों पर पौराणिक लेखकों के प्रभाव का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि इन बंगाली कवियों ने शैली पुराण से ली है पर उसे अपने अनुभवों के आधार पर लिखा है। इसी कारण से पुराणों में वर्णित राक्षसों का नाश

NMDC-268

करने वाले डरावने भैरव शिव का त्रिशूल खेती के औजारों में बदल दिया गया है और उन्हें एक अर्द्ध विक्षिप्त ग्रामीण योगी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। धर्म मंगल काव्यों में समन्वयात्मक प्रवृत्ति देखने को मिलती है। इसमें पौराणिक नारायण में बौद्ध धर्म को समाविष्ट किया गया है और मुसलमान पीर को सत्यपीर या सत्यनारायण कहा गया है।

कई मुसलमान लेखकों ने भी बंगला भाषा में रचनाएं प्रस्तुत कीं। पहला उल्लेखनीय लेखक दौलत काज़ी था, जो अराकान से आया था। अराकान के बर्मा से स्वतंत्र होने के बाद से ही बंगाल और अराकान के बीच घनिष्ठ संबंध स्थापित हो गया था। अराकान से भागकर वहां का शासक बंगाल में शरण लेने को बाध्य हुआ था और उसे वहां 26 वर्षों तक रहना पड़ा था। इसी कारण से बंगला भाषा वस्तुतः अराकान की राजकीय भाषा बन गयी।

दौलत काज़ी ने गुजरात-राजस्थान क्षेत्रों में प्रचलित लोर-चंढ़ानी या मैना सती की प्रेम कथाओं को बंगला भाषा में प्रस्तुत किया। यह कहा जाता है कि लोर चंढ़ानी उसके मरने के बाद पूरी की गयी। इसे पूर्ण करने वाला कवि अलौल और भी ज्यादा प्रतिभाशाली था। अलौल निचले बंगाल के एक मुसलमान अमीर का बेटा था। उसे पुर्तगाली डाकुओं ने पकड़कर अराकान सेना के सैनिक के रूप में बेच दिया। उसकी संगीत प्रतिभा और कवि रूप से अराकान दरबार के एक मंत्री सुलेमान और राजा के पौष्य भतीजे मगन ठाकुर प्रभावित हुए। इन प्रभावशाली मित्रों ने अलौल को उसके दासत्व से मुक्त करा दिया। उसने मलिक मुहम्मद जायसी की **पद्मावत,** फारसी प्रेम कथा **सैफुल मुल्क बदउज्जमाल** और निजामी की दो कृतियों को बंगला में प्रस्तुत किया। फारसी कविता और अन्य प्रेम कथाओं का बंगला भाषा में अनुवाद कर अलौल ने बंगला साहित्य को गैर धार्मिक विषय प्रदान किए।

16वीं शताब्दी और उसके बाद बंगाल में अनेक मुसलमान लेखक रचना कर रहे थे और हालांकि उन्होंने ज्यादातर गैर धार्मिक विषय (साबिर ने **विद्या सुंदर** का सार लिखा था) ही उठाए थे पर उन्होंने **करबला** की त्रासद कथा तथा पैगम्बरों और गाजियों के विषय में भी लिखा। सैयद सुल्तान की कृति **रसूल अर्ज** दोनों धर्मों से मिली जुली विषयवस्तु पर आधारित है इसमें कुछ हिंदू भगवानों को भी शामिल किया गया है। उसके शिष्यों द्वारा लिखित **युगसंवाद** या **सत्य कली विवाद संवाद में भी** यह प्रवृत्ति पायी जाती है।

## 31.6.2 असमी

बंगला के समान असमी साहित्य का विकास भी भक्ति आंदोलन की छत्र-छाया में हुआ। शंकरदेव ने वैष्णव धर्म धारण किया और एक अच्छा कवि होने के नाते उन्होंने असमी साहित्य को श्रेष्ठ कविताएं प्रदान कीं। शंकरदेव की परम्परा को उनके शिष्य मांधवदास ने आगे बढ़ाया। **भक्ति रत्नावली** में कई श्लोक हैं और इसमें भक्ति के विभिन्न आयामों की चर्चा की गयी है। **बारागीता** में वृंदावन बिहारी कृष्ण का वर्णन है और एक अन्य कृति में कृष्ण के बचपन को चित्रित किया गया है। बंगाल और गुजरात में वर्णित राधा कृष्ण की प्रेम कथा में अक्सर पायी जाने वाली कामुकता का असमी वैष्णव कविता में नामो निशान नहीं है। इस दृष्टि से असमी वैष्णव कविताएं अलग हैं। असमी वैष्णव कविताओं में कृष्ण प्रेम की कथा की अति श्रृंगारिकता को त्यागने की कोशिश की गयी है और उनके बाल रूप पर अधिक बल दिया गया है।

असमी लेखकों ने महाकाव्यों और पुराणों का भी अनुवाद किया। राम सरस्वती ने अपने आश्रयदाता कूच बिहार के राजा के लिए महाभारत के कुछ अंशों का अनुवाद किया। इसी प्रकार चंद्र द्विज ने भागवत और विष्णु पुराण के आधार पर कृष्ण कथा लिखी।

असमी गद्य साहित्य का विकास मुख्य रूप से ऐतिहासिक अभिलेखों 'बुरेंजी' के संग्रहण के क्रम में हुआ। ये अहोम राजाओं के निर्देश पर लिखे गये थे। जिन्होंने आसाम पर कब्जा जमाकर यहां राज्य किया और जरूरत पड़ने पर मुगलों से टक्कर भी ली। अहोमो की चीनी-तिब्बती संस्कृति का प्रभाव आसाम पर पड़ा और असमी गद्य भी इससे प्रभावित हुआ।

## 31.6.3 उड़िया

इस काल में उड़िया साहित्य पर भी संस्कृत का प्रभाव मौजूद था। मधुसूदन, भीम, द्विवर, सदाशिव और शिश् ईश्वरदास ने पौराणिक विषयों पर आधारित कई काव्यों की सर्जना की।

धनंजय भार्या ने गैर-पौराणिक विषय पर आधारित प्रेम कथाएं लिखीं। **'रस कल्लोल'** नामक एक कृति में एक अभिनत काव्य प्रयोग किया गया है, जिसमें प्रत्येक पंक्ति 'इ' वर्ण से शुरू होती है। इसमें राधा और कृष्ण की प्रेम कथा कही गयी है। शिशु शंकर दास का **उषाविलास,** देव दुर्लभ दास की **रहस्यमंजरी** और कार्तिक दास का **रुक्मणी बिभा** इसी प्रकार की उल्लेखनीय रचनाएं हैं।

17वीं शताब्दी में रामचंद्र पटनायक की कृति **हारावली** की रचना से उड़िया साहित्य को एक लोक आधार प्राप्त हुआ। इसमें एक आम आदमी नायक और एक किसान की बेटी नायिका है। हालांकि यह अपने आप में एक नूतन प्रयोग था पर आमतौर से उड़िया साहित्य संस्कृत साहित्य का ही अनुगमन करता रहा। भूपति पंडित की रचना **प्रेम पंचमित्र** में धर्म सिद्धांत को भक्ति के सूत्र में पिरोकर काव्य रूप प्रदान किया गया है। इस रचना की भाषा की तुलना अक्सर जयदेव के साथ की जाती है।

हालांकि आमतौर पर उड़िया भाषा पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट था, पर 18वीं शताब्दी के दौरान एक कृत्रिम शैली का विकास हुआ जिसमें अतिश्रृंगारिकता होती थी और भाषा का चमत्कार होता था। उपेन्द्र भंज (1670-1720) इस धारा का प्रतिनिधि कवि था जिसने उड़िया साहित्य में नये युग का प्रवर्तन किया जो 19वीं शताब्दी तक कायम रहा।

**बोध प्रश्न 3**

1) बंगला साहित्य को चैतन्य परम्परा ने कैसे प्रभावित किया?

.....

.....

.....

.....

.....

2) अध्ययनरत काल के असमी साहित्य पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

## 31.7 दक्षिण भारतीय भाषाएँ

तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम प्रमुख दक्षिण भारतीय भाषाएं थीं जिनमें इस काल में साहित्य की रचनाएं हुईं।

### 31.7.1 तमिल

इस काल के तमिल साहित्य में कई प्रकार के दार्शनिक ग्रंथ, टीकाएँ, साहित्यिक कृतियाँ और पुराण लिखे गये। बहुत-सी कृतियां वैष्णव और शैव धर्म से सम्बद्ध हैं। हरिदास नामक एक वैष्णव कवि ने **इरूसमय्या विलक्कम** (शैव और वैष्णव धर्म की व्याख्या) की रचना की। मरैनानरबंदर ने **सिवधारु मोत्तरम्** (1533) नामक एक अन्य तमिल कृति की रचना की। इस पुस्तक में 1200 श्लोक हैं। इनमें कालानुक्रम, मंदिर और उसकी संरचना और धर्म सिद्धांत की बातें की गयी हैं। इसकी लेखक ने **शैवा-समयनेरी** (शैव पंथ का पथ) नामक कृति की भी रचना की जिसमें शैवों के प्रतिदिन की उपासना पद्धति का उल्लेख है। कमलई नानप्रकारा ने तिरुमलुवड़ी पर पुराण और शैव पूजा पर अनेक निर्देशिकाएं प्रकाशित कीं। निरम्बा अलीगया और उनके शिष्यों ने भी पुराण साहित्य को समृद्ध किया। देसिकर ने **सेतु पुराणम्** और **तिरुप्परंगिरि** और **तिरुवैय्युर** पर पुराण लिखे। उनके एक शिष्य ने **तिरुवल्तरपुराणम्** (1592 ई) की रचना की।

मदुरा के नायक का एक अधिकारी मदई तिरुवेंगदनत्थार 17वीं शताब्दी का एक महत्वपूर्ण साहित्यकार था। अद्वैत वेदांत की व्याख्या करते हुए उसने तमिल में एक लंबी कविता लिखी थी।

पुराण तिरुमलैनाथन कृत **चिदंबरा पुराणम्** (1508), नल्लूर वीरकविरायर रचित **अरीचंद्र पुराणम्** (1524), अंदारी का **सुंदर पाड्यन** (1580), काच्चियप्पा शैवाचार्य का **कंदपुराणम्** (1625) और बालासुब्रह्मणयम् कविरायर रचित **पॉलनि तल पुराणम्** (1628) इस काल के अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथ हैं। इसी समय के आसपास तंजोर के एक वेल्लाल कवि एल्लपा नवलार (लगभग 1542-80) ने तिरुवरुर पर एक उत्कृष्ट **कोवई** लिखी। तेनकराइ के एक पांड्य राजा अतिवीररामा ने **नैडतम** नामक एक सुंदर ग्रंथ लिखा। उन्होंने संस्कृत के कई महत्वपूर्ण ग्रंथों का तमिल में अनुवाद भी प्रस्तुत किया।

परनजोति रचित **चिदंबरा पाहियल,** कुरुगई पेरुमल कवियर कृत **मारन अलंकारम** और वैद्यनाथ दसिकर कृत **इलक्कनाविलक्कम** प्रमुख व्याकरणिक ग्रंथ हैं। जैन कवि मंडलपुरुष की कृति **निगंटु चूड़ामणि,** कयदरार कृत **कोयदरम** इस काल के प्रमुख शब्दकोश हैं।

## 31.7.2 तेलुगु

तेलुगु भाषा के स्तर पर तमिल और कन्नड़ से जुड़ी हुई है परंतु इसके साहित्यिक मानदंड संस्कृत पर आधारित हैं।

हमारे इस अध्ययनरत काल में विजयनगर के राजा कृष्ण देव राय (1509-1529) के शासनकाल में तेलुगु साहित्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। वह स्वयं एक प्रतिष्ठित विद्वान था। उसकी रचना **अमुक्तमालयदा** को तेलुगु साहित्य का महान् काव्य माना जाता है। अल्लारानी पेद्दना उसके दरबार का सर्वोत्कृष्ट कवि था। उन्हें आंध्रकवि तपितामह (तेलुगु कविता के पितामह) की उपाधि प्रदान की गयी थी। **स्वरोचिश मनुसंभवम्** या **मनुचरित** उसके प्रमुख ग्रंथ हैं। कृष्णदेव राय के दरबार के एक अन्य कवि नंदी तिम्मन ने **पारिजातपहरणम्** की रचना की जिसमें श्री कृष्ण के जीवन के एक अंश को काव्य रूप में प्रस्तुत किया गया था।

भट्टमूर्ति, जो राम राजा भूषण के नाम से विख्यात थे, ने **वसु चरित** (महाभारत के एक अंश पर आधारित काव्य) की रचना कर ख्याति अर्जित की। उन्होंने **हरिशचंद्र नलोपाख्यानम्** नामक काव्य की भी रचना की जिसके प्रत्येक श्लोक के दो अर्थ हैं : इनमें नल के साथ राजा हरिश्चन्द्र की भी कथा कही गयी है। **रामायण** और **महाभारत** की कथाओं को आधार बनाकर पिंगली सुरन्न ने **राघव-पांडवीयम्** की रचना की। कुमार धूरजेटि ने 16वीं शताब्दी के आसपास अपनी महान् कृति **कृष्णदेवराय विजयम्** की रचना की जिसमें उन्होंने महान् राजा की विजयों का उल्लेख किया है। तेनाली राम कृष्ण तेलुगु साहित्य का सर्वाधिक लोकप्रिय व्यक्ति है। उन्हें वाक्पटु और हँसोड़ व्यक्ति के रूप में याद किया जाता है। उनका **पाडुरंग महात्म्यम** तेलुगु कविता की एक महान् कृति मानी जाती है। निम्न जाति की कही जाने वाली मोल्ला एक कवयित्री थी जिसने **रामायण** का लोकप्रिय तेलुगु रूपांतरण प्रस्तुत किया। कुली कुतुब शाह (1550-83) भी तेलुगु साहित्य का संरक्षक था। अदानकी गंगाधर और पोन्नागंती तेलेंगाना ने अपनी पुस्तकें **तपति संमहरणोपाक्ख्यानाम** और ययाजीचरित शाह को समर्पित की थीं।

मनुमन्ची भट्ट ने 16वीं शताब्दी में **हथलक्षण** नामक कृति लिखी। इसमें घोड़ों और उनके प्रशिक्षण के बारे में लिखा गया है।

17वीं शताब्दी में विजयनगर के पतन के बाद तेलुगु साहित्यकारों को गाडिकोटा, नेल्लू, सिद्धवटम, जिंजी, तंजोर और मदुरा जैसे छोटे राज्यों ने शरण दी। सिद्धवटम के मालती अनंत ने **काकुस्तविजयम्** (1590-1610 ई.) लिखा। नेल्लोर के पुष्पगिरि ने भृतृहरि कृत नीतिशतक का अनुवाद किया। तंजोर के राजा रघुनाथ नायक ने **वाल्मीकि चरित्रम** नाम से एक आरंभिक गद्य कृति लिखी थी।

NMDC-268

### 31.7.3 कन्नड़

अधिकांश कन्नड़ ग्रंथ जैन मुनियों द्वारा रचित हैं। 16वीं-17वीं शताब्दियों के दौरान भी वे कन्नड़ साहित्य को समृद्ध करते रहे।

गेरोप्पा के वादी विद्यानंद ने 1533 ई. में **काव्यरस** का संकलन किया था जिसमें प्रमुख कन्नड़ कवियों का जीवन परिचय दिया गया था। दूसरे जैन विद्वान साल्व (लगभग 1550 ई.) ने भारत रत्नाकर वर्णनी का जैन रूपांतरण प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उन्होंने **त्रिलोककार** (जैन ब्रह्माण्ड मीमांसा पर), **अपराजित शतक** (दर्शन पर), और **भरतेश्वर चरित** (प्रमुख राजा भरत की कथा) की रचना की। उनके द्वारा रचित कई गीत अभी भी जैनियों द्वारा गाये जाते हैं। इसे **अन्नगलापद** के नाम से जाना जाता है।

**चेन्ना बासव पुराण** लिंगायत साहित्य की एक महत्वपूर्ण कृति है। इसके नायक चेन्ना बासव को शिव का अवतार माना गया है। इसमें संतों की कई कहानियां भी सम्मिलित हैं। अदृश्य (लगभग 1595) रचित **प्राधंरायचरित** लिंगायत साहित्य का एक अन्य प्रमुख ग्रंथ है।

विरक्त पंतादर्व कृत **सिद्धेश्वर पुराण** और निजगुन्न शिव योगी कृत **विवेक चिंतामणि** (लगभग 1560) और **शिव योग प्रदीपिका**। **भावचिंतरत्न** और वीरशैवामृत अथवा मल्लनार्य गुब्बी और सर्वज्ञन्य मूर्ति कृत **सर्वज्ञन्यपदगलू** इस काल के कुछ महत्वपूर्ण शैव ग्रंथ हैं।

इस काल में वैष्णव साहित्य भी लिखे गये। इस क्षेत्र में संस्कृत कृतियों का कन्नड़ में अनुवाद किया गया। कुमार व्याम ने महाभारत के एक अंश का अनुवाद किया और बाकी अंश का अनुवाद 1510 के आसपास तिम्मन्ना ने किया। लक्ष्मीरा ने **जैमिनी भारत** की रचना की। भिक्षुक गायकों द्वारा गाया जाने वाला लोकप्रिय गीत वैष्णव साहित्य का एक अन्य रूप है। नीलकंठ शास्त्री के अनुसार ये माध्वाचार्य और व्यासआर्य से प्रेरित है। 1510 ई. में चैतन्य की दक्षिण यात्रा से इस लोकप्रिय गीत को काफी बढ़ावा मिला। इस श्रेणी के गायकों में पूरन दास (मृ. 1564) सर्वप्रमुख हैं।

कन्नड़ व्याकरण के क्षेत्र में भट्ट कलंक देव की कृति **कर्नाटक शब्दनिशान** (1604) सर्वोत्तम है।

### 31.7.4 मलयालम

मलयालम ओडयार क्षेत्र में तमिल की एक बोली के रूप में विकसित हुई। चौदहवीं शताब्दी आते-आते इसका स्वतंत्र अस्तित्व कायम हो गया। 15वीं शताब्दी और उसके बाद एक खास परम्परा के कवियों (ट्रावनकोर के निरणम से आये हुए) ने कविता की मलयालम शैली के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। राम पनिक्कर इस परम्परा के एक प्रमुख कवि हैं। उन्होंने **भारत गाथा, सावित्री महात्म्यम, ब्राह्मांड पुराणम्** और **भागवतम्** जैसी कृतियों की रचना की।

आधुनिक मलयालम साहित्य के विकास में 16वीं शताब्दी के महान् कवि चेरसेरी नम्बूदरी का महत्वपूर्ण योगदान है। उनकी महान् कृति **कृष्ण गाथा** में कृष्ण के जीवन को सुंदरता से काव्य में ढाला गया है। सोलहवीं शताब्दी के दौरान मलयालम में अनेक लोकप्रिय गीत और गाथा गीत रचे गये। अंजु कृत **तंबूरनपट्टू** और **इरावकुट्टी पिल्ल पाटटू** इसी प्रकार की रचनाएं हैं।

तुकांत रामानुजम् एलूतच्चन ने मुख्य रूप से हिंदू मिथक, धर्म और दर्शन को आधार बनाकर रचनाएं कीं। **अध्यात्म रामायणम्, किलीपाट्टू, भारतम् किलीपाट्टू** और **हरिनाम कीर्तनम** उनकी कुछ प्रमुख कृतियां हैं।

**अत्तकथा** या कथाकलि नामक नृत्य साहित्य की लोकप्रिय विधा का विकास भी 16वीं शताब्दी के दौरान हुआ। **रामन अत्तम** एक आरंभिक अत्तकथा है। अनेक नई कथाओं ने भी मलयालम साहित्य को समृद्ध किया।

NMDC-268

1) निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए .

क) शैव परम्परा का तमिल साहित्य।

.....

.....

.....

ख) कृष्णदेव राय (1509-1529) के शासनकाल के दौरान लिखा गया तेलुगु साहित्य।

.....

.....

.....

2) जैन विद्वानों के कन्नड़ साहित्य के विकास में योगदान पर विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) क) आधुनिक मलयालम साहित्य का विकास किसने किया?

.....

.....

.....

ख) अत्तकथा क्या है?

.....

.....

.....

ग) तेनाली रामकृष्ण कौन थे?

.....

.....

.....

## 31.8 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान गये होंगे कि अध्ययनरत इस काल में बड़े पैमाने पर समृद्ध साहित्य की रचना हुई थी।

मुगल दरबार ने न केवल फारसी भाषा और साहित्य बल्कि संस्कृत, हिंदी और कुछ अन्य भाषाओं को भी संरक्षण प्रदान किया। अन्य राजाओं, सरदारों और यहां तक कि सामंतों ने भी साहित्यिक गतिविधियों को प्रश्रय दिया। इस काल में दरबारी संरक्षण की परिधि से बाहर भी विपुल साहित्य का निर्माण हुआ। यह इस काल के साहित्य की प्रमुख प्रकृति है। हिंदी और लगभग सभी क्षेत्रीय भाषाओं में भक्ति काव्य की रचना हुई।

लगभग सभी भाषाओं के साहित्य में धर्म और पौराणिक मिथक का वर्चस्व रहा। इस काल में तर्कशास्त्र. दर्शन और व्याकरण की पस्तकें भी लिखी गयीं। इसके अलावा इस काल में एक

NMDC-268

भाषा से दूसरी भाषा में प्रचुर मात्रा में अनुवाद भी हुए। मुख्य रूप से संस्कृत साहित्य का अनुवाद लोक भाषाओं में किया गया और इस प्रकार यह जनसामान्य तक पहुंच सका।

## 31.9 शब्दावली

**चम्पू काव्य** : गद्य और पद्य की मिली जुली साहित्यिक विधा।

**दीवान** : एक कवि का काव्य संकलन जैसे दीवान गालिब।

**मर्सिया** : शोक, दु:ख काव्य। यह उर्दू साहित्य में कविता का एक रूप है।

**करबला** : वह प्रसिद्ध स्थान जहाँ पैगम्बर मुहम्मद साहब के नाती इमाम हुसैन शहीद हुए थे।

**गज़ल** : एक काव्य रूप, जिसमें प्रेम को विषय बनाया जाता था। बाद में अन्य विषय भी अपनाये गये। गज़ल मुक्तक होता है। इसका प्रत्येक छंद अपने आप में स्वतंत्र होता है।

**खम्सा** : पाँच पंक्तियों की कविता या अनुच्छेद।

**मसनवी** : गीतात्मक छंद में लिखे काव्य। इसकी शैली वर्णनात्मक होती है।

**प्रशस्ति** : किसी की प्रशंसा में लिखित काव्य या अंश।

**कसीदा** : किसी की प्रशंसा में लिखी कविता।

**किता** : लंबी कविता का छोटा अंश।

**रुबाई** : चार पंक्तियों की छोटी कविता। पहली, दूसरी और चौथी पंक्ति में गीतात्मकता होती है, तीसरी पंक्ति में नहीं।

**श्लेष काव्य** : ऐसा काव्य जिसके दो अर्थ हों।

**तर्जी बंद** : ऐसा छंद जिसमें बार-बार एक पंक्ति दुहराई जाती हो।

**तरकीब बंद** : एक तरह की कविता।

## 31.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) देखिए भाग 31.2
2) देखिए भाग 31.3

**बोध प्रश्न 2**

1) भक्ति संतों की साहित्य कृतियों पर विचार कीजिए। देखिए उपभाग 31.4.1
2) आरंभिक चरण में उर्दू दक्खन में एक साहित्यिक भाषा के रूप में उभरी। देखिए उपभाग 31.4.2
3) देखिए उपभाग 31.4.3

**बोध प्रश्न 3**

1) श्री चैतन्य ने भक्ति परम्परा के अंतर्गत लेखन करने के लिए अनेक कवियों को प्रोत्साहित किया। देखिए उपभाग 31.6.1

2) इस काल का असमी साहित्य भक्ति परम्परा से प्रभावित था। देखिए उपभाग 31.6.2

**बोध प्रश्न 4**

1) क) शैव परम्परा के अंतर्गत अनेक तमिल कृतियों की रचना हुई। देखिए उपभाग 31.7.1

   ख) कृष्ण देव राय स्वयं एक कवि और लेखक थे और उन्होंने अनेक कवियों को प्रोत्साहित दिया और प्रश्रय दिया। देखिए उपभाग 31.7.2

2) आरंभिक कन्नड़ साहित्य के निर्माण में जैन विद्वानों का महत्वपूर्ण योगदान है। देखिए उपभाग 31.7.3

3) क) चेर्रीरेरी नम्बूदरी

   ख) मलयालम में नाट्य नृत्य साहित्य का एक लोकप्रिय रूप

   ग) वह एक महत्वपूर्ण तेलुगु लेखक था जो अपनी वाक्पटुता और हँसोड़पन के लिए प्रसिद्ध था।

# इकाई 32 विज्ञान और तकनीकी

## इकाई की रूपरेखा


32.0 उद्देश्य
32.1 प्रस्तावना
32.2 विज्ञान
32.3 कृषि तकनीकी
32.4 वस्त्र उद्योग तकनीकी
32.5 सैन्य तकनीकी
32.6 जहाज निर्माण
32.7 धातुशोधन तकनीकी
32.8 काँच निर्माण तकनीकी
32.9 मुद्रणालय
32.10 समय मापन पद्धतियाँ
32.11 विविधा
32.12 सारांश
32.13 शब्दावली
32.14 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 32.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप :

- मुगल काल के दौरान विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में विकास की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे; और
- तत्कालीन यूरोपीय विज्ञान और तकनीकी के प्रति भारतीयों की प्रतिक्रिया पर भी विचार किया जाएगा।

## 32.1 प्रस्तावना

ऐच्छिक पाठ्यक्रम (खंड 6, इकाई 22) में आप भारत में सल्तनत काल में विकसित तकनीकी की झलक प्राप्त कर चुके हैं। उस पाठ्यक्रम में बाहर से आए मुसलमानों द्वारा प्रस्तुत किए गए नये शिल्पों पर विशेष रूप से विचार किया गया था। प्रस्तुत इकाई में 16वीं-17वीं शताब्दी में यूरोपवासियों द्वारा लाई गई नयी तकनीकों, कृषि उत्पादन, फलों, आदि पर ध्यान केंद्रित किया जाएगा। हम इस काल में विज्ञान की स्थिति पर भी विचार करेंगे।

## 32.2 विज्ञान

इस काल में भौतिकशास्त्र, रसायन, खगोलशास्त्र, औषधि, भूगोल तथा गणित आदि क्षेत्रों में कोई नयी वैज्ञानिक प्रगति नहीं हुई। परम्परागत ज्ञान की ही शिक्षा दी जाती रही, उस पर बहस होती रही तथा उसमें बिना कुछ नवीन परिवर्तन के भाष्य तैयार किए जाते रहे। इस क्षेत्र में भारतीय और यूनानी-अरबी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का वर्चस्व था। भारत में मुसलमान विद्वानों पर लिखते हुए फ्रांसीसी यात्री करेरी कहता है :

NMDC-268

"पुस्तकों के अभाव में वे वैज्ञानिक ज्ञान में विकास नहीं कर सके, उनकी जानकारी अरस्तु और एवीसीना के लेखन (अरबी में) तक की सीमित थी।"

परंतु हम इस बात से इंकार नहीं कर सकते हैं कि विवेच्य काल में कुछ योग्य वैज्ञानिक हुए। मीर फतउल्लाह शिराजी एक ऐसा ही प्रतिभाशाली वैज्ञानिक था। वह 1583 ई. में आगरा में अकबर के दरबार में शामिल हुआ (मृत्यु 1588 ई.)। उसके बारे में लिखते हुए अबुल फजल कहता है : "अगर सोचने का पुराना तरीका समाप्त हो गया होता तो वह ज्ञान का नया आधार विकसित कर सकता था और उसने जो कुछ भी खोया है उसका गम न करता।" उसकी मृत्यु पर शोक व्यक्त करते हुए अकबर ने कहा था "अगर वह फिरंगियों (यूरोपवासियों) के हाथ लग गया होता और वे उसके बदले हमारा पूरा खजाना भी मांगते तो मैं यह फायदेमंद सौदा खुशी-खुशी मंजूर कर लेता और फिर भी उस अनमोल रत्न की खरीद सस्ते में ही होती।" उसने यांत्रिकी संबंधी कुछ नई खोजें की थीं (देखिए भाग 32.5 और 32.11 vi)। अकबर के आदेश पर 1584 ई. में एक "सही" अर्थों में सौर कैलेंडर (जो **इलाही** के नाम से जाना जाता है) का विकास किया था। परंतु उसने भारत में उपलब्ध परम्परागत ज्ञान से अलग हटकर कोई नया वैज्ञानिक सिद्धांत या सूत्र प्रतिपादित नहीं किया था। भारतीय यूरोपीय ज्ञान से परिचित थे। अबुल फजल को यूरोपवासियों द्वारा अमेरिका की खोज की जानकारी थी। इस "नई दुनिया" को उसने फारसी में **"आलम-ए-नौ" की** संज्ञा दी। परंतु भारत में आमतौर पर इस प्रकार की शिक्षा भूगोल शिक्षण का हिस्सा नहीं था। गैलीलियो की खोज (टॉलमी के विश्व दृष्टि के विपरीत) थी कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है, यह ज्ञान अभी तक भारतीय वैज्ञानिकों तक नहीं पहुंचा था। इसी प्रकार इस समय भारतीय न्यूटन के गतिशीलता संबंधी तीन सिद्धांतों और उसके गुरुत्वाकर्षण के नियम से परिचित नहीं थे। बर्नियर नामक एक फ्रांसीसी चिकित्सक सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत आया, उसने दावा किया कि वह मुगल कुलीन आगा दानिशमंद खां के संसर्ग में पांच छह वर्ष रहा था। उसने उसे हार्वे और पैक्वेट की "खून के परिसंचरण" संबंधी खोज के बारे में बताया था। बर्नियर के अनुसार भारतीयों का शरीर विज्ञान संबंधी ज्ञान बहुत कम था। हमारे **हकीमों** और वैद्यों ने हार्वे की खोज के प्रति कोई **रुचि** नहीं दिखाई।

## 32.3 कृषि तकनीकी

मुगल काल में हल, लोहे के फाल, सिंचाई के तरीकों, बोने, काटने, कूटने और फटकने की विधि में कोई आमूल परिवर्तन नहीं हुआ (विवरण के लिए ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03, खंड 6, इकाई-22 पढ़िए)। बुआई के लिए बीज छिड़कने और नली द्वारा बीज बोने की विधि के अतिरिक्त खुरपी से गड्ढा खोदकर बीज डालने की प्रथा भी प्रचलित थी। यह विधि खासकर कपास की खेती के लिए उपयुक्त थी : खुरपी से गड्ढा खोदकर उसमें बीज डाल दिया जाता था और उसे मिट्टी से ढक दिया जाता था। अनाज को फसल से अलग करने के लिए बैलों का प्रयोग किया जाता था, साथ ही साथ डंडे से पीटकर भी अनाज को फसल से अलग किया जाता था।

इस काल के दौरान कुछ नयी फसलों, पौधों और फलों की जानकारी प्राप्त हुई। इनमें से कई यूरोपवासियों खासकर पुर्तगालियों, द्वारा लाए गए थे। मुगल कुलीन वर्ग ने अकबर के समय से ही भारत में मध्य एशियाई फलों को उगाना शुरू कर दिया था।

अमेरिका से आने वाली महत्वपूर्ण फसलों और फलों में तम्बाकू, अनन्नास, काजू और आलू प्रमुख हैं। तम्बाकू के आगमन से हुक्का पीने का प्रचलन हुआ। इसके अलावा, टमाटर, अमरूद और लाल मिर्च भी बाहर से लाए गए। अबुल फजल की **"आइने अकबरी"** में मक्का का उल्लेख नहीं है। संभवतः इसे भी यूरोपवासी लैटिन अमेरिका से लेकर आए थे।

आगरा के आसपास उपजाए जाने वाले कई प्रकार के खरबूज, तरबूज और अंगूर मध्य एशिया से लाए गए थे। अकबर के शासनकाल में कश्मीर में चैरी की खेती आरंभ हुई।

NMDC-268

तम्बाकू का प्रयोग : हुक्का

बीज प्रजनन की सहायता से अच्छी कोटि के फल उपजाए जाते थे। दिल्ली सल्तनत के शासन काल में बागबानी में कलम-तकनीक का उपयोग होता था या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पी.के. गोडे के अनुसार भारत में 1550 ई. के बाद कलम-पद्धति का आरंभ हुआ। फारस और मध्य एशिया में इस तकनीक की जानकारी थी परंतु गोवा में पुर्तगाली कलम पद्धति का उपयोग करके अच्छी कोटि का आम पैदा किया करते थे। भारत आने वाले यूरोपीय यात्रियों ने गोवा में पैदा होने वाले अलफॉसो, ऑवर लेडी, जोआनी परेरा, आदि आमों की खूब प्रशंसा की है। आज भी अलफासो भारत में एक उच्चकोटि का आम है।

सभी मुगल सम्राटों में अकेले शाहजहाँ को दो नहरें (**नहर फैज** और **शाह नहर**) खुदवाने का श्रेय प्राप्त था।

सिंचाई के अन्य साधनों के विषय में आप पाठ्यक्रम ई.एच.आई.-03 के खंड 6 की इकाई 22 में अध्ययन कर चुके हैं।

**बोध प्रश्न 1**

1) खुरपी द्वारा बुआई की प्रथा क्या थी? इसके प्रयोग का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) 16वीं-17वीं शताब्दी के दौरान भारत में उगाई जाने वाली नई फसलों और फलों पर विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 32.4 वस्त्र उद्योग तकनीकी

ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03, खंड 6, इकाई-22 में आप वस्त्र निर्माण तकनीकों के बारे में थोड़ा बहुत जान चुके हैं। इसमें ओटाई, कताई, बुनाई, रंगाई, चित्रकारी और छपाई जैसी कई प्रक्रियाओं के बारे में बताया गया है। आप यह भी जानते हैं कि भारत में तकली का आगमन तुर्कों के साथ हुआ। वस्तुतः 17वीं शताब्दी के दौरान कोई आमूलकारी परिवर्तन या विकास नहीं हुआ। फिर भी इस काल में दो महत्वपूर्ण तकनीकी विकास के बारे में चर्चा की जा सकती है : पहला लाहौर, आगरा और फतेहपुर सीकरी में अकबर के संरक्षण में कालीनों की बुनाई और दूसरा बड़े पैमाने पर रेशम और रेशम के धागों का उत्पादन।

सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यूरोपवासी अपने साथ किसी भी प्रकार की वस्त्र निर्माण तकनीक नहीं लाए। वस्तुतः उनके पास इस काल में कोई बेहतर तकनीक थी भी नहीं। अंग्रेज़ी कम्पनी को रेशम रंगाई, बटाई और बुनाई के लिए बंगाल के कासिम बाजार की शरण लेनी पड़ती थी। 1770 ई. के दशक में भारत में इतालवी रेशम सूत्रण की शुरूआत हुई।

## 32.5 सैन्य तकनीकी

ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03, खंड 6, इकाई 22.6 में आप भारत में तुर्कों द्वारा लाए गए घोड़े की जीन, नाल और बारूद के बारे में पढ़ चुके हैं। 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत के गुजरात, मालवा तथा दक्खन जैसे कुछ प्रदेशों में पहली बार आग्नेयास्त्रों का इस्तेमाल किया गया। परंतु इसका नियमित उपयोग पुर्तगालियों ने दक्षिण भारत में 1498 ई. से करना शुरू किया और उत्तर भारत में पहली बार बाबर ने 1526 ई. में इसका उपयोग किया। बाबर ने राजपूतों और अफगानों के विरुद्ध युद्धों में बंदूकों और तोपों का उपयोग किया।

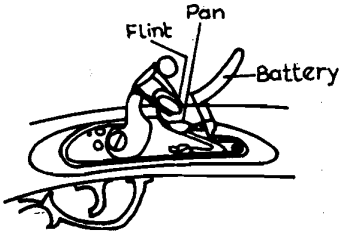

चकमकी पत्थर की विधि

ये बंदूकें वस्तुतः तोड़ेदार बंदूकें (matchlock) थीं। यूरोप में बंदूक चलाने के लिए दो और विधियों का उपयोग किया जाता था। चक्र तकनीक (व्हील लॉक) (लगभग 1520 ई.) और चकमकी पत्थर की विधि (फ्लिंट लॉक) (लगभग 1620 ई.)। इसमें फलीते का उपयोग नहीं होता था। अबुल फजल बताता है कि अकबर की आयुधशाला में तोड़ेदार विधि के बिना ही छोटी बंदूक का निर्माण किया जाता था परंतु वह किसी अन्य वैकल्पिक विधि का उल्लेख नहीं करता है। यहां शायद फ्लिंट लॉक या चकमकी पत्थर की विधि का उपयोग किया जाता होगा क्योंकि यूरोप में भी चक्र तकनीक या व्हील लॉक का इस्तेमाल पिस्तौल के लिए हुआ करता था। परंतु इन छोटी बंदूकों (चकमक बंदूकों) का उत्पादन सीमित पैमाने पर होता था। बहुत संभव है कि अकबर अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए ऐसी बंदूकें बनवाया करता हो क्योंकि सत्रहवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में उत्तर भारत में भारतीय इस तकनीक से कम ही परिचित थे। वस्तुतः औरंगजेब के समय तक के चित्रों में तोड़ेदार बंदूकों का ही चित्रण मिलता है।

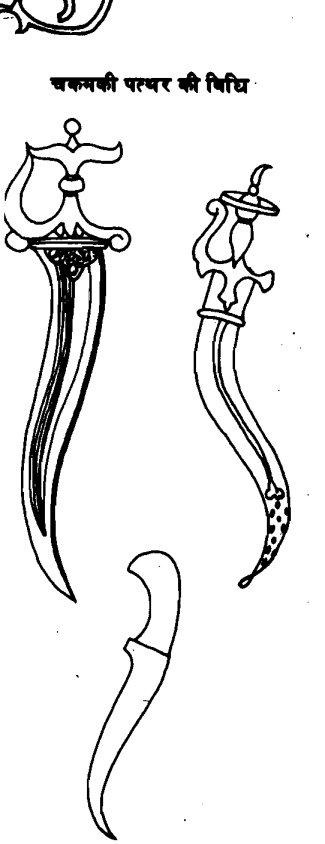
मध्यकालीन तलवारें

1609 ई. में ही बुरहानपुर में यूरोप में बनी पिस्तौलों की बिक्री की जाती थी। कभी-कभी यूरोपवासी भारतवासियों को पिस्तौल भेंट के रूप में दिया करते थे। परंतु भारतीय चक्र तकनीक की कला नहीं सीख पाए। भारत में भारतीय शासकों के लिए विभिन्न आकारों की तोपें बनाई जाती थीं।

यहां हमें आक्रमण और बचाव के लिए उपयोग में आने वाले परम्परागत अस्त्रों जैसे तलवार, भाला, छुरा, तीर, धनुष, ढाल आदि का विवरण प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है। यह रोचक तथ्य है कि आमतौर पर भारतीय वक्राकार तलवार रखते थे जबकि इसके विपरीत यूरोप में दोहरी धार वाली सीधी तलवार का प्रचलन था। बाद में सत्रहवीं शताब्दी में मराठा यूरोपीय शैली की तलवार रखने लगे।

बंदूक को साफ करने की प्राविधि का जिक्र करते हुए अबुल फजल लिखता है

NMDC-268

तोपों का प्रयोग : चित्तौड़ की घेराबंदी

"आरंभ में एक शक्तिशाली व्यक्ति लोहे के औजार से बड़े परिश्रमपूर्वक बंदूक की नाल को साफ करता था। महामहिम (अकबर) ने अपने अनुभव के आधार पर एक पहिए का आविष्कार किया जिससे काफी कम समय में बंदूक की सोलह नालें साफ की जा सकती थीं। इस पहिए को बैलों की सहायता से घुमाया जाता था।"

एक अन्य स्थल पर अबुल फजल ने लिखा है कि अकबर ने एक ऐसी यांत्रिकी विकसित की थी जिसकी सहायता से एक घोड़ा दबाने से ही एक साथ सत्रह बंदूकों से गोली दागी जा सकती थी।

## 32.6 जहाज निर्माण

मध्यकालीन युग में सभी जगह जहाज का निर्माण लकड़ी से किया जाता था। तख्तों को जोड़ने के लिए कई उपाय किए जाते थे। भारत में इसके लिए चूल बैठाने की प्रथा थी। यह मूलत: पटरा और खांचा सिद्धांत पर आधारित थी – एक पटरे को दूसरे पटरे के खांचे से जोड़ दिया जाता था। इसके बाद तख्तों को एक स्वदेशी लेप और चूने से जमाया जाता था जिससे कि छिद्रों को भरा जा सके और समुद्री कीड़ों से भी लकड़ी के तख्तों का बचाव किया जा सके। तख्तों को जोड़ने के लिए मछली के तेल का भी प्रयोग होता था। भारतीयों ने यूरोपवासियों के टांकने की विधि (कीलों द्वारा तख्तों को जोड़ने की विधि) नहीं अपनाई, तख्तों को जोड़ने या उन्हें किसी प्रकार के रिसाव से बचाने के लिए पुराने सन के रेशे या पुरानी रस्सी के टुकड़े में लेप मिलाकर उसे जोड़ों, छिद्रों और ठीक से न जुड़ने वाले हिस्सों में भर दिया जाता था। इस तकनीक का भारतीयों द्वारा न अपनाए जाने का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि यह भारतीयों की स्वदेशी तकनीक की अपेक्षा कोई बेहतर नहीं थी। इसके अतिरिक्त टांकने की विधि भारतीय विधि से काफी खर्चीली भी थी।

यूरोपवासियों के आने से पहले जहाजों और नावों के तख्तों को नारियल की बनी रस्सी अथवा कभी-कभी लकड़ी की कीलों से जोड़ा जाता था। यूरोपवासी अपने जहाजों को मजबूत और टिकाऊ बनाने के लिए लोहे की कीलों और शिकंजो का इस्तेमाल करते थे। भारतवासियों ने

इन नई तकनीकों को शीघ्रता से अपना लिया। 1510 ई. के आसपास वार्थेमा ने कालिकट में खड़े भारतीय जहाजों में "लोहे की कीलों का जमकर उपयोग" देखा था। अबुल फजल (1593-94 ई.) बताता है कि अकबर के एक जहाज को बनाने के लिए 468 मन लोहे का इस्तेमाल होता था। मुगल कालीन कुछ चित्रों में जहाजों के निर्माण में लोहे की कीलों, पत्तियों और शिकंजों का उपयोग दर्शाया गया है।

इसी प्रकार सत्रहवीं शताब्दी के दौरान यूरोप में बने लोहे के लंगरों (anchor) का उपयोग किया जाने लगा। इसके पहले लंगरों के लिए बड़े पत्थरों का उपयोग किया जाता था।

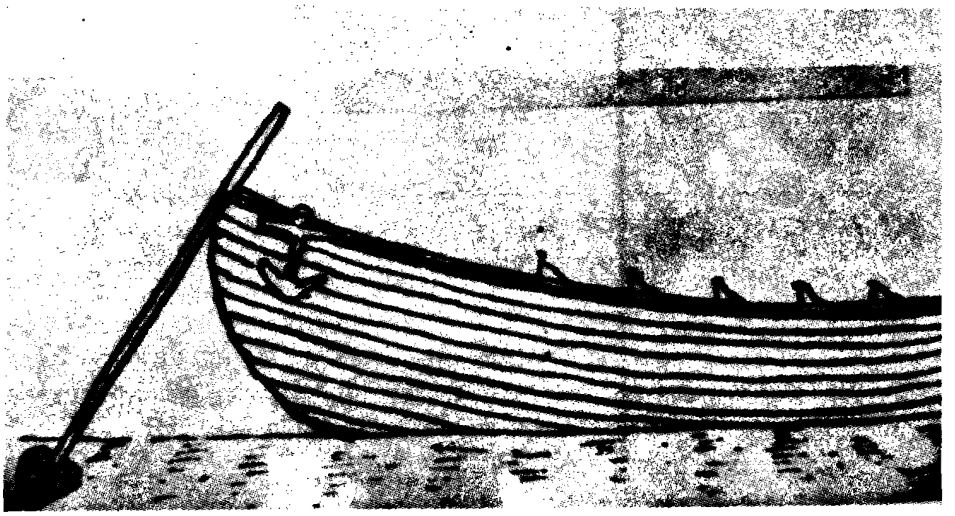

लोहे का लंगर

जहाज से पानी निकालने के लिए भारतीय बाल्टी का उपयोग करते थे। हालांकि सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोपवासियों द्वारा उपयोग में लाए जाने वाले लोहे के चेन पंप का उपयोग भी भारतीय कमोबेश करने लगे। पर इनका निर्माण भारत में नहीं होता था : वे या तो यूरोपवासियों से खरीदे जाते थे या उधार लिए जाते थे।

पानी निकालने के लिए बाल्टियों का प्रयोग

NMDC-268

**बोध प्रश्न 2**

1) 16वीं-17वीं शताब्दियों के दौरान बंदूको में किस यांत्रिक विधि का प्रयोग होता था।

.....

.....

.....

.....

.....

2) चूल बैठाने और टांकने की विधि से आप क्या समझते हैं? भारतीयों ने टांकने की विधि को वरीयता क्यों नहीं दी और उन्होंने उसे क्यों नहीं अपनाया?

.....

.....

.....

## 32.7 धातुशोधन तकनीकी

हम नीचे भारत में मौजूद धातुशोधन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करने जा रहे हैं:

i) धातु गलाने के लिए लकड़ी के कोयलों (पत्थर के कोयले की जानकारी नहीं थी) का ईंधन के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। अतः धातु गलाने का काम वहीं किया जाता था जहां लकड़ी की आपूर्ति आसान होती थी।

ii) धातु गलाने वाले छोटी भट्टियों का उपयोग करते थे जिसमें संभवतः उच्च ताप सहनेवाली मिट्टी नहीं होती थी।

iii) धौंकनी बिना धारियों (पट्टियों) की तथा छोटी होती थी जिससे ज्यादा हवा नहीं फूंकी जा सकती थी, इसलिए इससे धातु को गलाने के लिए भट्टी में आवश्यक ताप पैदा करने की ताकत नहीं होती थी।

iv) लोहे और तांबे को गलाने के लिए कई भट्टियों (कभी-कभी आठ) का उपयोग किया जाता था जहां से उसे साँचों में ले जाया जाता था। सभी भट्टियों में धातु एक समान नहीं गल पाती थी अतः इनके मिलने से बनी हुई वस्तु हमेशा उच्च कोटि की नहीं होती थी।

अबुल फजल ने अकबर की आयुधशाला में लोहे की तोपों और छोटी बंदूकों की नाल बनाने की तकनीक का उल्लेख किया है। संभवतः इन नई तकनीकों का आविष्कार किया गया था। इस बात की जानकारी नहीं है कि बाद में इनमें सुधार किया गया या नहीं। तोपों के निर्माण में तांबा, पीतल और लोहे का उपयोग होता था।

भारत में जस्ता (zinc) संबंधी धातु शोधन तकनीक की शुरुआत बारहवीं शताब्दी के आसपास हुई। अबुल फजल जस्ता उत्पादन के लिए राजस्थान के जावर क्षेत्र का वर्णन करता है। जावर के निकट किए गए उत्खनन में जस्ता आसवन के लिए उपयोग में लाए जाने वाले साँचे पाए गए हैं।

राजस्थान में खेतरी में तांबे की खाने थीं। टीन का उत्पादन भारत में सामान्यतः नहीं होता था : इसे अन्य एशियाई क्षेत्रों से आयातित किया जाता था। कांसे का उपयोग सिंधु घाटी सभ्यता के काल से ही होता रहा है। पीतल जैसी मिश्रित धातु (तांबा और जस्ता या टीन) भी भारत में तैयार की जाती थी।

इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि भारत में और खासकर आंध्रप्रदेश में लगभग 400 ई.पू. से ही असली "**वूट्ज**" (wootz) लोहे का उत्पादन होता था। संभवतः "**वूट्ज़**" शब्द तेलुगु शब्द "**उक्कू**" का बिगड़ा हुआ रूप है। इसे सीरिया तक निर्यात किया जाता था। वहाँ डैमस्कस में इससे तलवार बनाई जाती थी (जो डैमेस्कीन तलवार के नाम से प्रसिद्ध थी)।

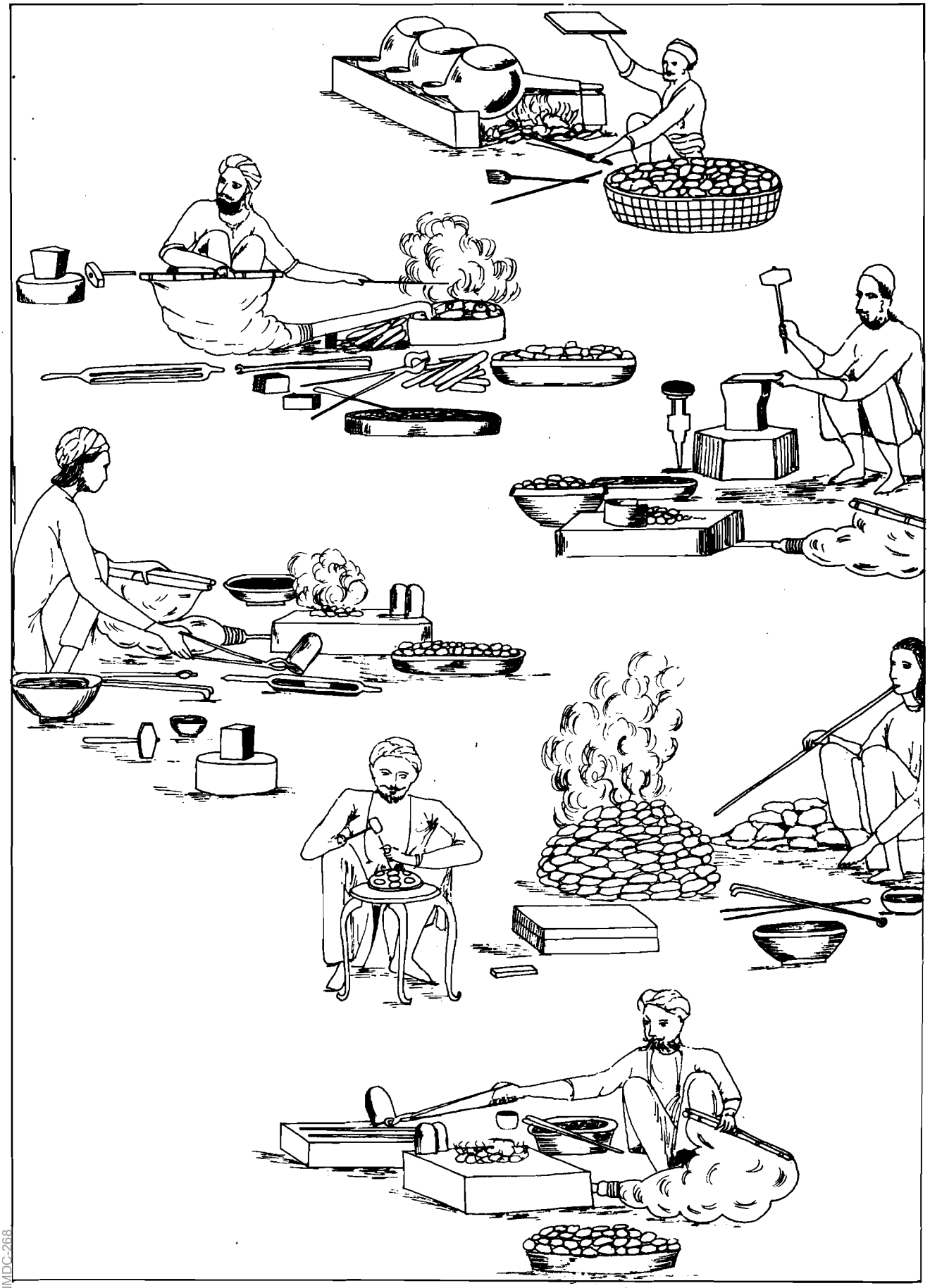

धातु शोधन : धातु को गलाने की विधि; लकड़ी के कोयले का प्रयोग; भट्टी; धौंकनी (आइन-ए अकबरी, अनु. ब्लॉक मैन)



NMDC-268

## 32.8 काँच निर्माण तकनीकी

काँच एक जटिल कृत्रिम औद्योगिक पदार्थ है। यह क्रिस्टल काँच (crystal), स्फटिक (quartz), लावा काँच, और पोर्सलिन या चीनी मिट्टी से भिन्न होता है। एम.जी. दीक्षित **(हिस्ट्री ऑफ ग्लास)** ने बताया है कि काँच की भारत में कमी नहीं थी परंतु उन्होंने यह भी माना है कि भारतीय काँच पदार्थों में "मनके या चूड़ियों" जैसी छोटी-छोटी चीजें ही बनाई जाती थीं।

मुसलमानों के आगमन के बाद दवा की शीशी, जार और शीशे के पात्र इस्लामी देशों से भारत आने लगे परंतु भारतीयों ने इनका स्वयं निर्माण शुरू नहीं किया।

16वीं-17वीं शताब्दी के दौरान यूरोपवासी अपने साथ काँच के बने कई तरह के सामान लाए। ये सब हमारे लिए नए थे : जैसे काँच का दर्पण। हम भारतीय केवल धातुओं (तांबा और कांसा) के दर्पण से परिचित थे परंतु काँच का दर्पण हमारे यहां उपलब्ध नहीं था। इसके अलावा वे काँच के बने चश्मे और लैंस भी अपने साथ लाए। यूरोपवासियों ने ये वस्तुएं भारतवासियों को बतौर भेंट दी और कभी-कभी वे इसे बेचा भी करते थे। परंतु इनका बाज़ार काफी सीमित था। इसी प्रकार विवेच्य काल में भारतीय यूरोप में बनी काँच की वस्तुओं का उपयोग करने लगे परंतु उन्होंने उसका निर्माण शुरू नहीं किया।

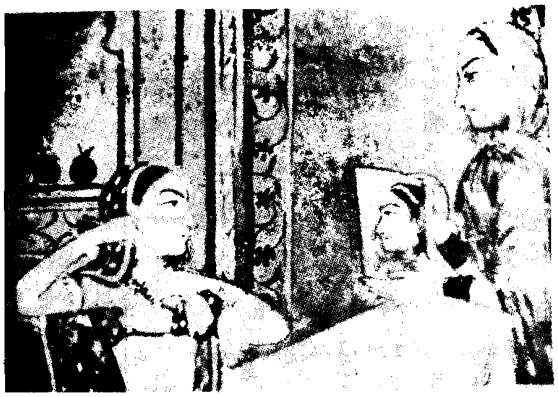

आयताकार दर्पण

चश्मे का प्रयोग

NMDC-268

ऐसा प्रतीत होता है कि 15वीं शताब्दी के दौरान भारतीयों को रेत घड़ी (sand glass) बनाने की तकनीक ज्ञात थी, परंतु मुगल कालीन चित्रों में यूरोप में निर्मित रेत घड़ी को ही दर्शाया गया है जिसे यूरोपवासी अपने साथ भारत लेकर आए थे। भारत में इसे निर्मित किए जाने की सूचना 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मिलती है।

इसके अतिरिक्त हमें यूरोप में निर्मित पानी पीने के ग्लास, आवर्धक या ज्वलंत ग्लास और अग्रवर्ती ग्लास (टेलीस्कोप) की भी जानकारी मिलती है। यह टेलीस्कोप कांच के लैंसों से बनती थी अतः सत्रहवीं शताब्दी में भारत में इसके बनने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

## 32.9 मुद्रणालय

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि भारत और चीन के बीच इतने आदान-प्रदान के बावजूद चीन के लकड़ी के ठप्पों (ब्लाक) से छपाई की तकनीक के संबंध में भारतवासियों ने जरा-सी भी रुचि नहीं दिखाई। पुर्तगाली 1550 ई. के आसपास यूरोप में बने धातु की टाइप अपने साथ गोवा तक लेकर आए। यहां उन्होंने ईसाई संतों के उपदेशों, मराठी और कोंकणी भाषाओं और बोलियों की व्याकरण और शब्दावली छापनी शुरू की। परंतु इसके लिए उन्होंने देवनागरी लिपि के स्थान पर रोमन लिपि अपनाई।

सम्राट जहांगीर ने जैसुइट सम्प्रदाय के ईसाइयों को कहा था कि फारसी या अरबी लिपि में टाइप नहीं ढ़ाले जा सकते, इसके जवाब में उसने तुरंत 1591 ई. में वैटिकन में छपे ईसोपदेश की अरबी प्रति दिखा दी। लेकिन इसके बाद जहांगीर ने कभी इसमें रुचि नहीं प्रदर्शित की।

1670 ई. के दशक में सूरत स्थित इंग्लिश कम्पनी के मुख्य दलाल भीमजी पारक ने इस तकनीक में गहरी रुचि दिखाई। भीमजी के निवेदन और खर्चे पर एक प्रेस और छपाई मशीन 1674 ई. में भारत आई। भीमजी ने भारतीय (banian) तरीके की टाइप बनवाने की कोशिश की परंतु इंग्लिश छपाई कारीगर को टाईप काटने और ढालने की जानकारी नहीं थी, अतः ऐसा संभव नहीं हो पाया। भीमजी की सहायता करने के लिए इंगलैंड से टाइप काटने वाला कारीगर नहीं उपलब्ध कराया गया था। इसके बावजूद भीमजी अपने सपने को साकार करने और देवनागरी लिपि का टाइप बनवाने के प्रयासों में जुटा रहा। उसने अपने कर्मचारियों को इस कार्य में लगाया। वे सब भारतीय थे। सूरत स्थित अंग्रेज़ कारखानेदार बताते हैं कि 1667/77 ई. के दौरान "हमने मोढी (bania) प्रकृति के कुछ छपे कागज देखे जिसे भीमजी के आदमियों ने तैयार किया था जो बहुत ही स्पष्ट, सुपाठ्य और सुंदर था।" परंतु शीघ्र ही भीमजी की हिम्मत टूट गई और उसने यह कार्य बीच में ही छोड़ दिया।

**बोध प्रश्न 2**

1) 17वीं शताब्दी के दौरान यूरोपवासियों द्वारा भारत लाई गयी काँच की बनी मुख्य वस्तुओं के नाम बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भीम जी पारक द्वारा देवनागरी लिपि में छापाखाना स्थापित करने के प्रयत्न पर टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

NMDC-268

## 32.10 समय मापन पद्धतियाँ

घड़ी विज्ञान के इतिहास से विभिन्न देशों में मानवजाति द्वारा समय ज्ञात करने के लिए अपनाए गए विभिन्न तरीकों का पता चलता है। समय ज्ञात करने की इन विधियों में धूप घड़ी, जल घड़ी, रेत घड़ी और यांत्रिक घड़ियां उल्लेखनीय हैं।

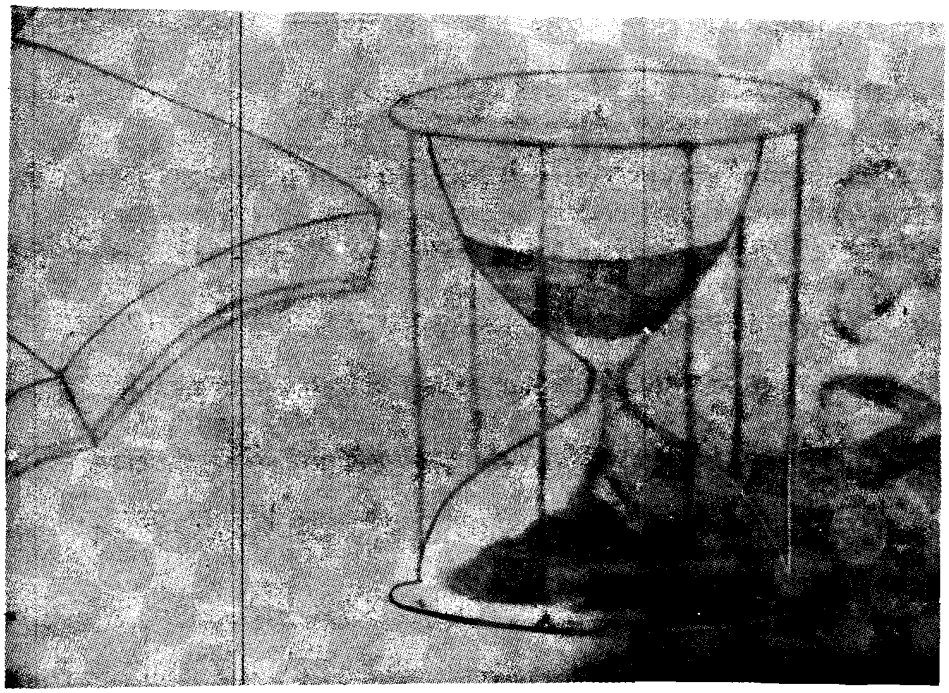

बालू की घड़ी

सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के दौरान भारत के शहरों में समय पता करने के लिए जल घड़ी (डूबने वाला कटोरा) का उपयोग काफी किया जाता था। इसे फारसी में **तास** और इस पूरी यांत्रिकी (कटोरा तथा मुद्गर) को **तास घड़ियाल** कहते थे। पानी में डुबा हुआ कटोरा समय बताता था और घंटे पर मुद्गर से प्रहार करके समय की घोषणा होती थी। इसे **घड़ियाल** कहते थे। अफीफ की **तारीख-ए फिरोज शाही** में दिल्ली सल्तनत के काल में जल घड़ी का उल्लेख मिलता है। उसके अनुसार चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फिरोजाबाद में सुल्तान फिरोजशाह तुगलक ने **तास घड़ियाल** लगवाया था। बाबर ने भी **बाबरनामा** में इसका उल्लेख किया है। अबुल फजल ने भी विस्तार के साथ इसका उल्लेख किया है।

मुगलों से काफी पहले यूरोपवासियों ने यांत्रिक घड़ी की आधारभूत यांत्रिकी विकसित कर ली थी जिसमें वजन से घूमने वाली सुई और "एस्केप" या निर्गम पद्धति का उपयोग होता था। यूरोपवासी अक्सर इस प्रकार की घड़ियाँ भारतवासियों, खासकर संभ्रांत वर्ग, को भेंट में दिया करते थे। (सर टामस रो ने जहांगीर को एक ऐसी ही घड़ी भेंट की थी परंतु सम्राट ने अपने संस्मरण में उसका उल्लेख तक नहीं किया है।) आगरा स्थित जेसुइट चर्च में एक बड़ी दीवार घड़ी थी जिसके घंटे की "आवाज शहर के हर हिस्से में सुनाई देती थी"। काफी लंबे समय से भारतवासी यूरोप में बनी इन घड़ियों से परिचित थे परंतु इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता है कि भारतवासियों के किसी सामाजिक समूह ने इसे अपनाने की कोशिश की हो। ये उनके लिए मात्र "खिलौने" थे, और साधारण रूप में या "राजनयिक" रूप से प्राप्त भेंट के रूप में लिए जाते थे। यूरोप की इस घड़ी को भारतवासी इस कारण से स्वीकार नहीं कर सके क्योंकि दोनों स्थानों पर समय की अवधारणा में अंतर था। यूरोपीय अवधारणा के अनुसार

NMDC-268

12 घंटे का दिन और 12 घंटे की रात होती थी जबकि भारत में एक दिन आठ **पहरों** में विभाजित था। दिन में सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक चार और पुनः सूर्यास्त और सूर्योदय तक चार **पहर** होते थे। प्रत्येक **पहर घड़ियों** में विभक्त होता था, एक **घड़ी** में 24 मिनट होते थे। इस प्रकार भारतीय पद्धति में पूरे दिन में 24 मिनट के 60 "घंटे" होते थे और यूरोपीय पद्धति में 60 मिनट के 24 घंटे होते थे।

## 32.11 विविधा

i) भारत में **वैज्ञानिक** तरीके से बनी मेहराबें, गुम्बद और चूना-गारा, आदि का उपयोग तुर्क शासक पहले ही कर चुके थे (पढ़िए ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03, खंड 6, इकाई 22)। सत्रहवीं शताब्दी में भवन निर्माण की दिशा में कोई महत्वपूर्ण नवीन प्रगति नहीं हुई। परंतु इस काल में भवन का "नक्शा" बनाने की प्रथा चल पड़ी थी। इसे फारसी में **तरह (खाका)** कहते थे जिसमें एक आरेख पत्र पर भवन का खाका खींच लिया जाता था। यह भी ध्यान देने की बात है कि भारतीय भवनों में यूरोपीय भवनों की तरह खिड़की, चौखट और चिमनी नहीं होती थीं।

ii) भारतवासी यूरोपवासियों के समान शोरा को परिशुद्ध करने के लिए धातु (तांबा) के वाष्प पात्र का उपयोग नहीं करते थे। वे मिट्टी के पात्रों का उपयोग करते थे।

iii) व्यापार के लिए माल को ढोने के लिए बैलगाड़ी का आमतौर पर प्रयोग होता था। घोड़ा गाड़ी का प्रयोग काफी कम था। मुख्यतः इसे सवारी के लिए ही प्रयोग किया जाता था। आमतौर पर उससे सामान नहीं ढोया जाता था। सर टामस रो ने जहांगीर को चार घोड़ों से खींची जानेवाली अंग्रेज़ी बग्घी उपहार स्वरूप प्रदान की थी। सम्राट ने इस पर सवारी भी की थी (उन्होंने इसे **रथ फिरंगी** कहा था)। सत्ताधारी वर्ग ने भारतीय बढ़इयों से इस नमूने की बग्घियां बनवाईं। परंतु यह रुझान अल्प समय तक ही जीवित रहा। सत्रहवीं शताब्दी में इसमें कोई विकास नहीं हुआ।

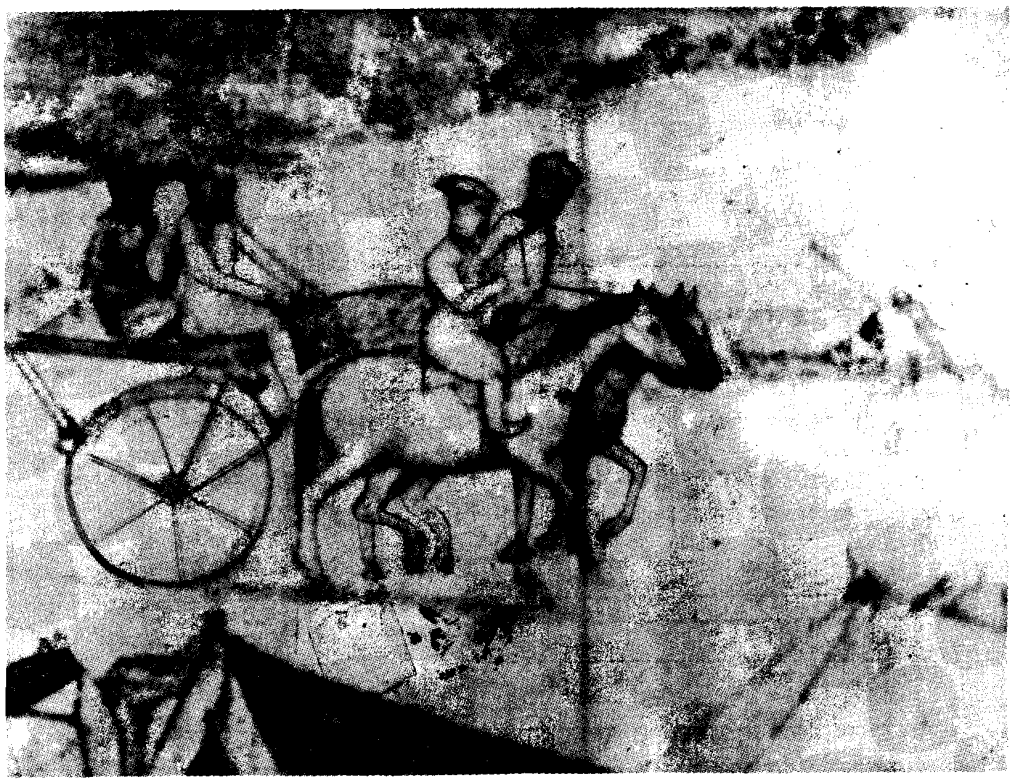

घोड़ा गाड़ी

NMDC-268

iv) जहांगीर के शासनकाल के नौवें वर्ष में रसायन संबंधी एक खोज की गई थी। यह गुलाब का इत्र था जिसे **इत्र जहांगीर** के नाम से जाना जाता था। अपने संस्मरण **(तुजुक-ए जहांगीरी)** में सम्राट ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है :

"इस इत्र की खोज मेरे शासनकाल में नूरजहां बेगम की मां द्वारा की गई थी। जब वे गुलाबजल बना रही थीं तो जग से गर्म गुलाब जल पात्र में डाला। इससे पात्र की तली में एक प्रकार का झाग (चर्बी) जमा हो गया। उन्होंने धीरे-धीरे इस झाग को इकट्ठा किया। काफी गुलाबजल से थोड़ा-सा झाग प्राप्त हुआ। इसके समान उच्च कोटि का दूसरा कोई इत्र नहीं है। उनकी इस खोज पर बतौर उपहार मैंने आविष्कारकर्ता को मोतियों का हार प्रदान किया। सलीमा सुल्तान बेगम ने इस तेल **(रोगन)** को **इत्र जहांगीर** का नाम दिया।"

v) पानी को ठंडा करने के लिए शोरे का उपयोग एक अन्य महत्वपूर्ण रासायनिक आविष्कार था। अबुल फजल बताता है कि वही शोरा जो बारूद में आगे पैदा करता है उससे पानी को ठंडा भी किया जा सकता है। उसने विस्तार से शोरे से पानी ठंडा करने की विधि का विवरण भी प्रस्तुत किया है।

vi) यह बताया जाता है कि सम्राट अकबर ने एक बैलगाड़ी विकसित की थी जो यात्रा करने और सामान ढोने के साथ-साथ अनाज भी पीसती थी। भारत में मुगलकाल के दौरान इस कार्य के लिए पन चक्की का इस्तेमाल बहुत कम ही होता था। मुगल कालीन एक चित्र (1600 ई.) जो भारत के बाहर की एक कथा पर आधारित है एक अधोजल चालित पन चक्की दर्शाता है। यहां तक कि अनाज पीसने के लिए पवन चक्की **(आसिया-ए बाद)** का इस्तेमाल भी कम होता था, ऐसी एक पवन चक्की अहमदाबाद में लगाई गई थी जिसके अवशेष अभी भी देखे जा सकते हैं। आमतौर पर हाथ की चक्की का प्रयोग किया जाता था। इसमें दो पत्थरों के बीच अनाज को पीसा जाता था। यह एक पुरानी प्रथा थी।

**बोध प्रश्न 4**

1) भारतवासियों ने यूरोपीय समय मापने की पद्धति क्यों नहीं अपनाई?

.....

.....

.....

.....

.....

2) रिक्त स्थानों की पूर्ति करो :

i) **इत्र जहांगीर** का आविष्कार ..... ने किया

ii) शोरा का उपयोग ..... क लिए होता था।

iii) भारतीय घरों में ..... और ..... नहीं होती थी।

iv) भारतीय शोरा को परिशुद्ध करने के लिए ..... का बना वाष्प पात्र उपयोग में लाते थे।

## 32.12 सारांश

इस इकाई में आपने मुगल शासन के दौरान भारत में विज्ञान और तकनीकी के विभिन्न आयामों की जानकारी प्राप्त की। सम्पूर्ण विषयवस्तु को दो स्तरों पर परखा गया : क) स्वदेशी विकास, और ख) यूरोपीय विज्ञान और तकनीक के प्रति भारतीय रुझान।

इस काल में विज्ञान के क्षेत्र में भारतीयों का कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं रहा। जहां तक तकनीकी का प्रश्न है खासकर सैन्य क्षेत्र में कुछ नये आविष्कार हुए और नए तरीके अपनाए गये। रासायनिक क्षेत्र में, गुलाब का इत्र और पानी ठंडा करने के लिए शोरा का उपयोग नयी उपलब्धियां थीं।

इस इकाई में यूरोपीय विज्ञान और तकनीक से भारतवासियों के परिचय पर भी प्रकाश डाला गया है। परंतु सभी क्षेत्रों में भारतीयों का रुझान एक जैसा नहीं था। जैसे जहाज निर्माण के क्षेत्र में तो भारतीयों का सकारात्मक रवैया सामने आया परंतु काँच तकनीकी के क्षेत्र में यह बात देखने को नहीं मिलती है। कई कारणों से विभिन्न तकनीकों के प्रति भारतवासियों का रवैया सकारात्मक, नकारात्मक और उदासीन रहा। जहां तक विज्ञान का संबंध है भारतवासियों ने यूरोप के अनुभव से लाभ नहीं उठाया।

## 32.13 शब्दावली

**चक्र पद्धति/तकनीक** : बंदूक में प्रयुक्त वह तकनीक जिसमें बंदूक चलाने के लिए लोहे के टुकड़े द्वारा चक्र को घुमाकर चिंगारी जलाई जाती थी जिससे गोली चलाई जाती थी।

**चकमक पत्थर तकनीक** : सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में गोली चलाने के लिए आवश्यक चिंगारी के लिये चकमक पत्थर का प्रयोग किया जाता था।

**वूट्ज़ (wootz)** : कन्नड उक्कु लोहा, यह लोहा बनाने की अत्यधिक प्राचीन भारतीय विधि है।

## 32.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) देखिए भाग 32.3 "खुरपी से बोने" की विधि बताइए। यह भी वर्णन कीजिए कि यह बीज बोने की नयी तकनीक थी।

2) देखिए भाग 32.3 नई फसलों और फलों के नाम लिखिए। यह भी बताइए कि यह कब और किसके द्वारा भारत लाए गए।

**बोध प्रश्न 2**

1) देखिए भाग 32.5 बताइए कि मुख्य रूप से तोड़ेदार बंदूकों का इस्तेमाल होता था। यह भी वर्णित कीजिए कि व्हील और फ्लिंट लॉक (चक्र और चकमक प्रविधि) का भी इस्तेमाल होता था। परंतु इनका उपयोग सीमित पैमाने पर होता था।

2) देखिए भाग 32.6 दोनों तकनीकों पर प्रकाश डालिए। बताइए कि टाँकने की विधि चूल बैठाने की विधि से ज्यादा महंगी थी। अतः भारतवासियों ने इसे अपनाने में उत्सुकता नहीं दिखाई।

**बोध प्रश्न 3**

1) देखिए भाग 32.8

2) देखिए भाग 32.9 भीमजी ने अपना कारखाना स्थापित किया और उसको एक हद तक सफलता भी मिल गई थी परंतु उसने यह कार्य बीच में ही छोड़ दिया।

**बोध प्रश्न 4**

1) देखिए भाग 32.10 बताइए कि भारतवासी यूरोप की यांत्रिक घड़ी से परिचित थे परंतु

NMDC-268

भारतवासियों की समय मापन पद्धति उनसे अलग थी।

2) i) सलीमा सुल्तान बेगम
ii) पानी ठंडा करने के लिए
iii) खिड़की के शीशे, चौखट, चिमनी
iv) मिट्टी

NMDC-268

# इकाई 33 स्थापत्य

## इकाई की रूपरेखा


33.0 उद्देश्य
33.1 प्रस्तावना
33.2 मुगल स्थापत्य की शुरुआत
  33.2.1 बाबर की इमारतें
  33.2.2 हुमायूँ की इमारतें
33.3 शासनांतराल : सूर स्थापत्य
33.4 अकबर कालीन स्थापत्य
  33.4.1 संरचनात्मक स्वरूप
  33.4.2 भवन परियोजनाएँ
33.5 जहांगीर और शाहजहां कालीन स्थापत्य
  33.5.1 प्रमुख्य विशेषताएं
  33.5.2 प्रमुख इमारतें
33.6 अंतिम चरण
  33.6.1 औरंगजेब की इमारतें
  33.6.2 सफदर जंग का मकबरा
33.7 सारांश
33.8 शब्दावली
33.9 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 33.0 उद्देश्य

1526 ई. में भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना (खंड 2) से भारतीय-इस्लामी स्थापत्य को एक नया स्वरूप और जीवन प्राप्त हुआ। नये शासकों ने प्रचलित स्थापत्यगत प्रकारों और तकनीकों के साथ मध्य-एशिया और ईरान की तकनीकों का सुंदर सम्मिश्रण प्रस्तुत किया। इस प्रकार के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप भारत में कई भव्य भवनों का निर्माण हुआ।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- मुगल स्थापत्य के नये संरचनात्मक स्वरूपों और तकनीकों को समझ सकेंगे;
- इस काल की प्रमुख इमारतों का विस्तृत विवरण प्राप्त कर सकेंगे; तथा
- इस काल के अंतिम चरण में मुगल स्थापत्य में आ रहे ह्रास को पहचान सकेंगे।

## 33.1 प्रस्तावना

मुगल शासक सौंदर्य के उपासक और कला तथा संस्कृति के संरक्षक थे। उन्होंने भारत में कई सुंदर भवनों और नगरों का निर्माण करवाया। भारत में तेरहवीं शताब्दी में ही स्थापत्य की नवीन शैली की नींव रखी जा चुकी थी। इसमें मेहराबों का उपयोग किया जाता था और इसकी सहायता से गुम्बदों और प्रवेश द्वार का निर्माण किया जाता था। मुगलों ने यह परम्परा जारी रखी और पूर्व-तुर्क तकनीक अर्थात् मेहराब का शहतीर के साथ सम्मिश्रण प्रस्तुत किया। इन सबके मिले-जुले रूप के कारण अपने आप में एक नये प्रकार की शैली विकसित हुई।

स्थापत्यगत विकास के लिए बाबर के पास पर्याप्त समय नहीं था। इसके बावजूद उसने अपने सांस्कृतिक क्षेत्र की पद्धति पर भारत में अनेक बगीचों का निर्माण करवाया। अपने

NMDC-268

संस्मरण (**बाबरनामा**) में उसने अपने द्वारा निर्मित कुछ मंडपों की भी चर्चा की है। दुर्भाग्यवश उसके द्वारा निर्मित बहुत कम भवन आज बचे हुए हैं।

बाबर का उत्तराधिकारी हुमायूँ कभी भी दृढ़ता से अपना राजनैतिक प्राधिकार स्थापित न कर सका। सत्ता प्राप्त होने के एक वर्ष के अंदर उसे पदच्युत कर दिया गया और उसे देश छोड़कर ईरान जाना पड़ा। अतः इस काल में बनी इमारतों में कोई खासियत नहीं है। 1555 ई. में भारत लौटने के बाद हुमायूँ एक वर्ष ही जिंदा रहा। इसके बावजूद ईरानी संस्कृति से उसके दीर्घ सम्पर्क का प्रभाव हमीदा बानो बेगम के निरीक्षण में बने उसके मकबरे में देखा जा सकता है।

वास्तव में, मुगल स्थापत्य अकबर के समय से उभरना शुरू हुआ। उसने देशी और विदेशी तत्वों के मिले-जुले रूप को प्रश्रय दिया। देशी कलाकारों को अकबर ने खासकर महत्व दिया। फतेहपुर सीकरी के भवन इसके उत्तम उदाहरण हैं।

अकबर के पुत्र जहांगीर ने भवन निर्माण में कोई खास रुचि नहीं दिखाई परन्तु शाहजहां स्थापत्यगत कला का महानतम संरक्षक था। भारत के कुछ सर्वोत्कृष्ट ऐतिहासिक भवनों का निर्माण उसी के शासनकाल में हुआ था। उसके काल में भवन निर्माण में लाल पत्थर का स्थान संगमरमर ने ले लिया और आंतरिक सजावट के लिए बहुमूल्य पत्थरों का इस्तेमाल किया जाने लगा। इसे **पैट्राड्यूरा** या पच्चीकारी के नाम से जाना जाता है। शाहजहां के काल में ही उभार वाले गुम्बदों और अनेक स्तरों वाली मेहराबों का प्रयोग शुरू हुआ।

औरंगजेब की मानसिकता अपने पिता से बिल्कुल भिन्न थी। इसका असर स्थापत्य शैली पर भी पड़ा। इस युग के भवनों में इस्तेमाल होने वाली वस्तुओं का स्तर सामान्य था और उसमें आडंबर का नामों निशान तक नहीं था।

## 33.2 मुगल स्थापत्य की शुरुआत

16 वीं. से 18 वीं शताब्दियों के दौरान स्थापत्य का इतिहास मुख्य रूप से वस्तुतः मुगल सम्राटों के भवन निर्माण संबंधी क्रियाकलापों से संबंधित है। इस बीच केवल पन्द्रह वर्षों का शासनांतराल आया। इस दौरान दिल्ली में सूर शासकों ने शासन किया।

यह सही है कि स्थापत्य संबंधी मुगल शैली का ठोस स्वरूप अकबर के शासन के दौरान सामने आया, परन्तु अकबर से पहले के दोनों मुगल सम्राट बाबर और हुमायूँ, ने मुगल स्थापत्य के मूलभूत आधारों की नींव रख दी थी।

### 33.2.1 बाबर की इमारतें

बाबर ने मात्र पांच वर्षों तक शासन किया और उसका अधिकांश समय अपने नवजात मुगल राज्य को सम्भालने और उसके लिए युद्ध करने में बीत गया। इसके बावजूद वह गैर धार्मिक भवनों के निर्माण में खूब रुचि लेता था। दुर्भाग्य से उसके द्वारा बनवायी गयी इमारतों में से काफी कुछ नष्ट हो चुकी हैं। 1526 ई. में बाबर ने पानीपत और सम्भल में दो मस्जिदें बनवायीं थीं। अब उनका ढांचा मात्र बचा है। ये दोनों ढांचे सामान्य स्थल हैं और इनमें कोई स्थापत्यगत विशेषता नहीं है।

बाबर ने अपने गैरधार्मिक कार्यों के तहत मुख्य रूप से ईरानी शैली पर आधारित बगीचे लगवाए और मंडप बनवाए। एक चित्र में उसे धौलपुर के बगीचे की रूपरेखा का निरीक्षण करते हुए दिखाया गया है। आगरा स्थित राम बाग और ज़हरा बाग नामक दो बगीचे भी उसी के बनवाये हुए कहे जाते हैं। परन्तु आज इन बगीचों की रूपरेखा देखने से लगता है कि इसमें कई प्रकर के परिवर्तन किये गये हैं। आज बाबर द्वारा निर्मित एक भी मंडप का अस्तित्व शेष नहीं रहा है।

NMDC-268

## 33.2.2 हुमायूँ की इमारतें

बाबर की तरह हुमायूं के शासनकाल में निर्मित भवन भी आज कम ही बच पाये हैं। इस समय भारत में मुगल शासन अस्थिर था और ऐसी स्थिति में स्थापत्य संबंधी किसी महान् कार्य की आशा नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त दिल्ली में 15 सालों तक सूर शासन स्थापित रहा और इस दौरान हुमायूँ को देश के बाहर ईरान जाकर रहना पड़ा। इसके बावजूद उसके प्रथम चरण के शासन के दौरान बनायी गई इमारतों में से दो मस्जिदों का अस्तित्व बचा हुआ है। एक जीर्ण-शीर्ण अवस्था में आगरे में स्थित है। ये इमारतें भी बाबर द्वारा बनायी गयी मस्जिदों के समान स्थापत्यगत दृष्टि से कोई खासयित नहीं रखती हैं।

हुमायूँ 1555 ई. में दिल्ली लौटा, परन्तु उसके बाद वह काफी कम दिन जिंदा रह पाया। वस्तुतः इस काल के दौरान कोई महत्वपूर्ण भवन निर्मित नहीं हुआ। हां, हुमायूँ के मकबरे का उल्लेख किया जा सकता है। देश से बाहर अपने ईरान प्रवास के दौरान उस पर पड़े ईरानी प्रभाव की झलक इस भवन में देखी जा सकती है। वस्तुतः यह इमारत मुगल स्थापत्य शैली के विकास की एक महत्वपूर्ण पहचान है। 1564 ई. में, हुमायूँ की मृत्यु के बाद, उसकी पत्नी हमीदा बानों बेगम की देखरेख में इसका निर्माण आरंभ हुआ। इस भवन के स्थापत्य शिल्पी मिराक मिर्जा गियास थे। वे ईरान के रहने वाले थे। वे अपने साथ कुशल ईरानी कारीगर दिल्ली में लाये थे। भवन निर्माण में उनकी तकनीक और योग्यता का पूर्णतः इस्तेमाल किया गया। इस प्रकार यह मकबरा भारत में ईरानी अवधारणा के आत्मसातीकरण का प्रतिनिधित्व करता है। सही अर्थों में हुमायूं का मकबरा अकबर के शासनकाल की इमारत है। परन्तु अपनी खासियतों के कारण इसे इस काल से अलग माना जाता है।

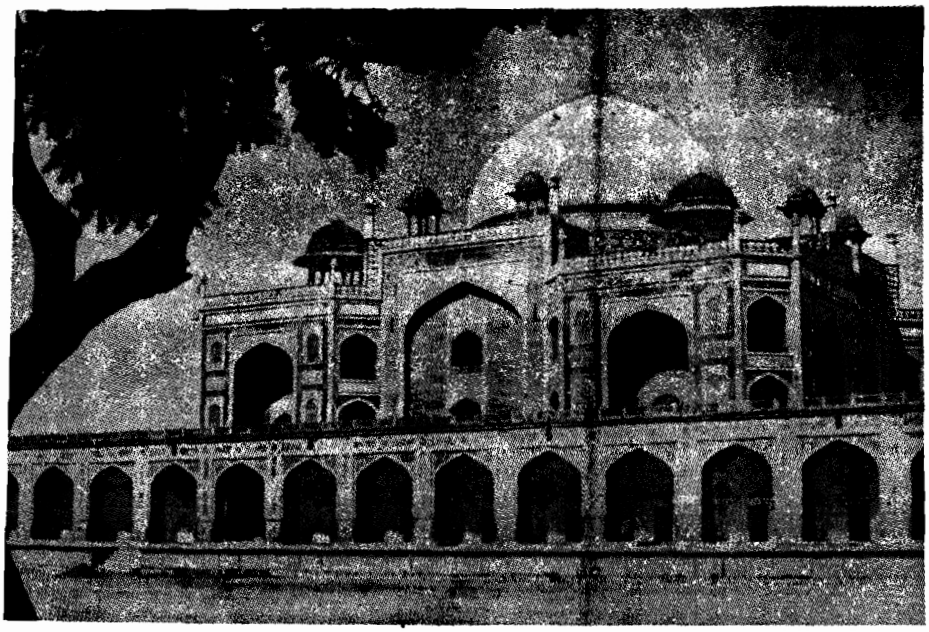

हुमायूँ का मकबरा

हुमायूँ के मकबरे में पहली बार बागानों का उपयोग किया गया था और इसे लाल बलुए पत्थर से बनाये तोरणयुक्त चबूतरे पर स्थापित किया गया था। यह आकार में अष्टकोणीय है और एक ऊंचे गुम्बद से आच्छादित है जो वस्तुतः दोहरा गुम्बद है। इसमें दो आवरण हैं और दोनों आवरणों के बीच में जगह छोड़ दी गयी है। आंतरिक आवरण अंदरूनी हिस्से की छत का काम करता है और बाहरी आवरण इमारत के अनुपात में ऊपर की ओर शल्क कंद के समान उभरा हुआ है। मकबरे के हरेक तरफ मध्य में एक द्वारमंडप है, जिसके साथ नुकीला मेहराब लगा हुआ है। यह मुख्य कक्ष में जाने का रास्ता है। इस भवन के अंदर कई कक्ष बने

हुए हैं। इनमें सबसे बड़ा कक्ष मध्य में है जिसमें सम्राट की कब्र है। प्रत्येक कोण पर बने छोटे कक्ष परिवार के अन्य सदस्यों की कब्रों के लिए बनाये गये हैं। प्रत्येक कक्ष अष्टकोणीय है और ये तिरछे रास्तों से जुड़े हुए हैं।

दोहरे गुम्बद में दो आवरण होते हैं। अंदर का आवरण भवन की अंदरूनी छत का काम करता है। ऊपरी आवरण भवन को महिमा मंडित बनाता है। दोहरे गुम्बद के शिल्प के कारण अंदरूनी छत को नीचे रखने में सुविधा हुई ताकि बेहतर संतुलन बन सके। बाहर के उभार और बनावट को बिना छेड़े हुए ऐसा किया जा सका। भारत आने से पहले दोहरे गुम्बद की तकनीक कुछ समय से पश्चिम एशिया में प्रचलित थी।

## 33.3 शासनांतराल : सूर स्थापत्य

1540 ई. में शेरशाह सूर ने भारत में मुगल शासन का विच्छिन्न कर दिया। अगले पन्द्रह वर्षों तक इस साम्राज्य पर सूर शासकों का आधिपत्य रहा, जिन्होंने स्थापत्य की दिशा में कई महत्वपूर्ण कार्य किए। उनके द्वारा बनाई गयी इमारतों ने मुगलों के भवन निर्माण के लिए पृष्ठभूमि का काम किया।

सूर शासकों ने विभिन्न परिस्थितियों में भवनों का निर्माण कराया और उनके द्वारा बनाई गयी इमारतें दो अलग-अलग इलाकों में स्थित हैं। इन्हें दो भिन्न कालों में विभाजित किया जा सकता है। शेरशाह कालीन प्रथम चरण 1530 से 1540 ई. के बीच का है, जिसका केन्द्र सासाराम (बिहार) में था। यहां लोदी शैली के कई मकबरों का निर्माण हुआ है (विस्तार के लिए पाठ्यक्रम ई.एच.आई.-3, खंड 8 पढ़िए)। इन पर लोदी शैली का प्रभाव स्पष्ट है। हुमायूं से साम्राज्य की बागडोर छीनने के बाद शेरशाह के शासनकाल का दूसरा चरण (1540-1545 ई.) आरंभ होता है। उसके संरक्षण में कई स्थापत्य प्रयोग किये गये जिनका बाद में मुगल शैली के रूप में परिपक्व रूप उभरा।

प्रथम चरण में कई मकबरों का निर्माण हुआ। इनमें से तीन शासकीय परिवार के सदस्यों के मकबरे हैं और एक इन मकबरों के शिल्पी अलीवल खां का है। ये भवन शेरशाह की महत्वाकांक्षा को परिलक्षित करते हैं। वह दिल्ली में पाये जाने वाले किसी भी स्मारक से बड़ा उदाहरण पेश करना चाहता था। अपनी इस योजना के तहत 1525 ई. में उसने अपने पिता हसन खां के मकबरे का निर्माण करवाया। परन्तु यह लोदी शैली की परम्परागत शैली का ही अनुसरण था। इस प्रकार की महत्वपूर्ण इमारत सासाराम स्थित शेरशाह का मकबरा है। स्थापत्य की दृष्टि से यह खूबसूरत इमारत है। इसमें शिल्पकार ने पहले की अपेक्षा बड़ा भवन निर्मित किया और उसे सुंदर तालाब के बीच में स्थित कर दिया। भवन में जाने के लिए बीच-बीच में मार्गसेतु बनाये गये। इसके अलावा इसमें कई मंजिलें बनाई गयीं और पांच अलग चरणों में इसे सुंदर पिरामिड संरचना का स्वरूप प्रदान किया गया। इस स्मारक का निर्माण चुनार के बेहतरीन बलुए पत्थर से किया गया था।

शेरशाह का मकबरा छत पर स्थित एक चबूतरे पर बना हुआ है जिसके चारों ओर सीढ़ियां बनी हुई हैं और वहां तक पहुंचने के लिए तालाब पर पुल बने हुए हैं। मकबरे के निचले चबूतरे की मुख्य धुरी की बनावट में कुछ कमी है। परन्तु निचले चबूतरे के ऊपर बनी संरचना की धुरी को थोड़ा झुकाकर इस कमी को दूर कर दिया गया है। मुख्य भवन में एक अष्टकोणीय कक्ष है। यह तोरण पथ से घिरा हुआ है, जो गलियारे का काम करते हैं। यह एक विस्तृत निचले गुम्बद से आच्छादित है। प्रत्येक चबूतरे के कोने में गुम्बदनुमा छतरियां हैं। क्रमशः न्यूनतम अवस्थाओं का उपयोग और चतुर्भुज से अष्टकोण और फिर गोलाकार पद्धति पर आना भारतीय स्थापत्य की सुव्यवस्था का प्रमाण है।

विकास का दूसरा चरण दिल्ली में शुरू हुआ। शेरजाह ने दिल्ली के छठे शहर के रूप में पुराना किला का निर्माण करवाया। आज इसके केवल दो द्वार ही बच पाये हैं। हालांकि इसमें महत्वपूर्ण भवन 1542 ई. में पुराना किला गढ़ी के अंदर निर्मित **किला ए कोहना** मस्जिद है। स्थापत्यगत योजना के तहत इस मस्जिद के उपासना गृह का अग्रभाग पांच झुके हुए खांचों

NMDC-268

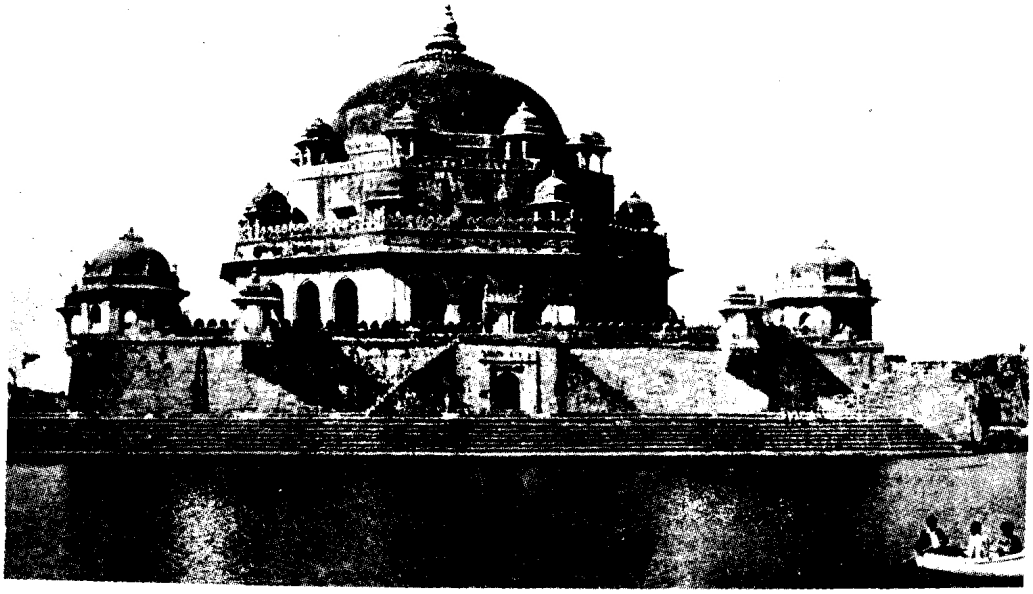

शेरशाह का मकबरा

किला-ए कुहना मस्जिद

NMDC-268

में विभक्त है। मध्यकक्ष दूसरों की अपेक्षा बड़ा है और सभी में खुले झिर्रीनुमा मेहराब द्वार बने हुए हैं। अग्रभाग में काले और उजले संगमरमर तथा लाल बलुए पत्थर का खूबसूरती से उपयोग किया गया है। केन्द्रीय मेहराब के बगल में संकीर्ण, लंबी धारियों से युक्त भित्ति स्तम्भ बने हुए हैं। मस्जिद के पिछले हिस्से में पांच घुमावदार सीढ़िया हैं जिनमें बहुत-सी खिड़कियां और झरोखे बने हुए हैं।

इस भवन की उल्लेखनीय विशेषता मेहराबें का आकार है। गोलाई में ऊपर को बढ़ते हुए इनमें हल्का झुकाव या समतलपन दृष्टिगोचर होता है यह मुगलों के चहु-केंद्रित 'ट्यूडर' मेहराव के विकास की पूर्वपीढ़िका है।

**बोध प्रश्न 1**

1) निम्नलिखित का मिलान कीजिए :

| | |
|---|---|
| 1) राम बाग और जोहरा बाग | क) हमीदा बानो बेगम |
| 2) हुमायूं का मकबरा | ख) शेरशाह का मकबरा |
| 3) सासाराम | ग) शेरशाह |
| 4) पुराना किला | घ) बाबर |

2) साठ शब्दों में हुमायूं के मकबरे की विशेषताओं पर विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 33.4 अकबर कालीन स्थापत्य

अकबर के शासनकाल को मुगल स्थापत्य का निर्माण काल माना जा सकता है। इस दौरान भारतीय-इस्लामी स्थापत्य की मिली-जुली स्थापत्य कला का विकास हुआ।

### 33.4.1 संरचनात्मक स्वरूप

अकबर के शासनकाल में स्थापत्य के क्षेत्र में देशी तकनीकों को बढ़ावा मिला और अन्य देशों के अनुभव का भी उपयोग किया गया। इस प्रकार अकबर के संरक्षण में पनपने वाली स्थापत्य शैली की निम्नलिखित विशेषताएं उल्लिखित की जा सकती हैं :

क) भवन निर्माण में मुख्य रूप से लाल बलुए पत्थर का उपयोग हुआ;

ख) शहतीरों का अधिकतम उपयोग;

ग) मेहराबों का संरचनात्मक स्वरूप की अपेक्षा अलंकरण के लिए प्रयोग;

घ) गुम्बद "लोदी" शैली में बनते रहे, कभी-कभी इसे खोखला बनाया जाता था, परन्तु तकनीकी तौर पर यह सही अर्थों में दोहरा गुम्बद नहीं होता था;

ङ) खम्भे का अग्रभाग बहुफलक युक्त होता था और इन खम्भों के शीर्ष पर ब्रैकेट या ताक बने होते थे; और

च) अंदरूनी हिस्से में अलंकरण के तौर पर स्पष्ट रूप से बड़ी-बडी नक्काशी तथा पच्चीकारी की जाती थी और उन्हें चमकीले रंगों से रंगा जाता था।

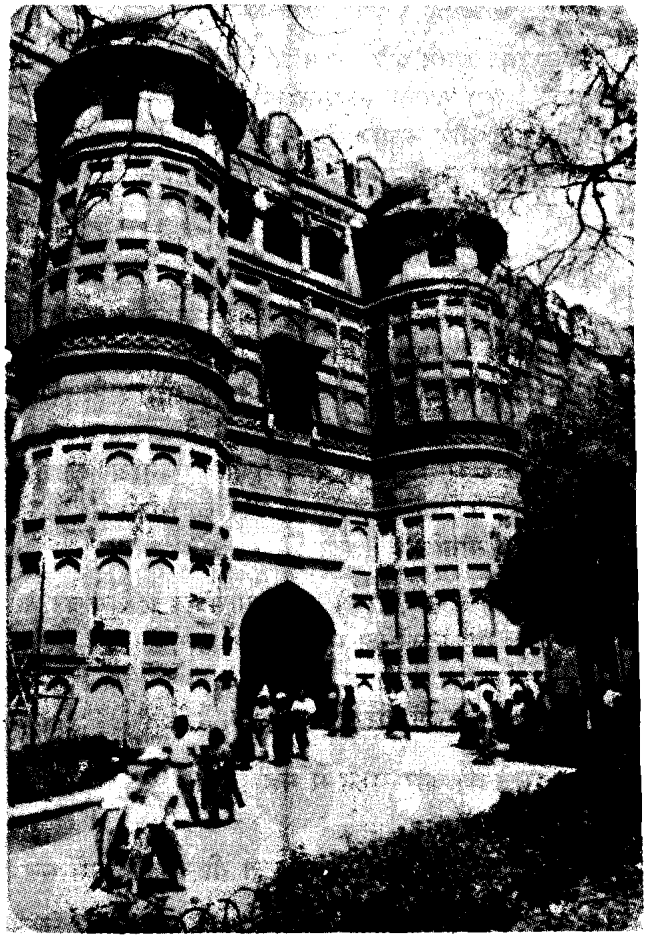

आगरा के किले का फाटक

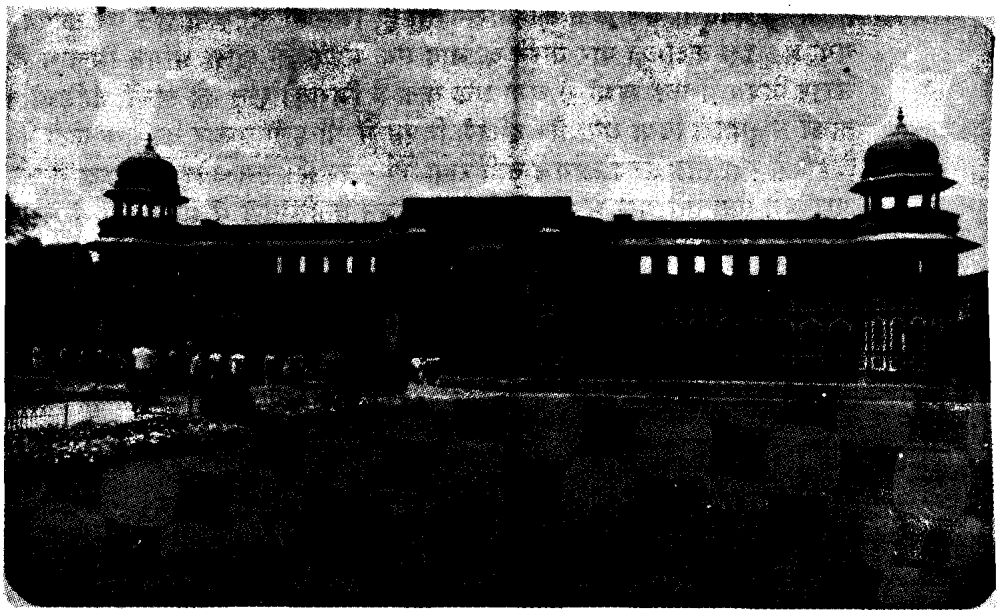

जहाँगीरी महल

NMDC-268

## 33.4.2 भवन परियोजनाएं

अकबर की भवन परियोजनाओं को दो प्रमुख समूहों में बांटा जा सकता है। दोनों अलग-अलग चरणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पहले समूह में मुख्य रूप से आगरा, इलाहाबाद और लाहौर में बने किले और कुछ महलों के भवन शामिल हैं। दूसरा समूह मुख्य रूप से फतेहपुर में उसकी नयी राजधानी के निर्माण से संबद्ध है।

### क) प्रथम चरण

अकबर के शासनकाल की आरंभिक भवन परियोजनाओं में आगरा के किले का निर्माण उल्लेखनीय है। इसका निर्माण एक किले रूपी महल के रूप में हुआ था। इसकी विशालकाय दीवारें और परकोटे किसी महान् सत्ता और शक्ति की याद दिलाते हैं। किले के भीतर, अकबर ने गुजरात और बंगाल शैली में कई इमारतें बनवायीं थीं। हालांकि जहांगीरी महल को छोड़कर शाहजहां ने अन्य सभी संरचनाओं को तुड़वाकर फिर से निर्मित करवाया था। आज किले का दिल्ली दरवाजा और जहांगीरी महल ही अकबर के काल के भवनों का एकमात्र प्रतिनिधि है।

आगरे के किले का दिल्ली दरवाजा संभवत: अकबर के आरंभिक स्थापत्यगत प्रयास का नमूना है। यह किले का मुख्य प्रवेश द्वार है। इस दरवाजे के स्थापत्य में नयापन है, जो भारत में भवन निर्माण कला के नये युग के आरंभ की सूचना देता है। इस दरवाजे की योजना सरल है। इसका विवरण इस प्रकार है :

- सामने की ओर मध्य में मेहराब पथ था और उसके दोनों ओर झुकी हुई अष्टकोणीय दीवारें थीं;
- पीछे की ओर तोरणयुक्त छत थी और जिसमें मंडप और कंगूरे बने हुए थे; और

ख) इसमें लाल बलुए पत्थर पर सफेद संगमरमर से अलंकरण किया गया था।

जहांगीरी महल का निर्माण अकबर ने करवाया था और यह लाल बलुए पत्थर से बने भवन का उत्कृष्ट नमूना है। अकबर द्वारा किले के भीतर निजी और घरेलू कार्य के लिए बनाये गये भवनों में केवल यही बचा हुआ है। यह हिंदू और इस्लामी भवन निर्माण पद्धति के मिले-जुले रूप का सुंदर नमूना है। इसमें विभिन्न कक्ष बने हुए हैं। पूर्व दिशा के अग्रभाग में प्रवेश द्वार है जो गुम्बदनुमा बड़े कक्ष की ओर जाता है, जिसकी अंदरूनी छत पर काफी नक्काशी की गयी है। इस कक्ष को पार करने के बाद एक मध्यवर्ती खुला आंगन मिलता है। इस आंगन की उत्तर दिशा में कई खंभों से बना एक कक्ष है जिसकी छत को खंभों, कड़ियों और घुमावदार ताकों से सहारा दिया गया है। दक्षिण दिशा में भी इसी प्रकार का एक कक्ष है। हालांकि पूर्व दिशा में यह सामंजस्य कायम नहीं रखा जा सका है। इस ओर कई कक्ष हैं जो यमुना नदी की ओर बने एक गलियारे में खुलते हैं। पूरे भवन के निर्माण में मुख्य रूप से लाल पत्थर, कड़ी और ब्रैकेट या ताक का इस्तेमाल किया गया है जो इसकी प्रमुख संरचनागत विशेषता दर्शाती हैं।

लाहौर और इलाहाबाद के किले में भी यह विशेषता देखने को मिलती है। केवल अजमेर का किला दूसरे ढंग से बना हुआ है। यह क्षेत्र साम्राज्य के सीमांत प्रदेश के निकट था अत: किले की दीवारों की मोटाई दोगुनी कर दी गयी थी।

### ख) दूसरा चरण

अकबर की स्थापत्यगत योजना के दूसरे चरण की शुरुआत सीकरी में साम्राज्य की नयी राजधानी के निर्माण के साथ होती है। यह आगरा से 40 किलोमीटर पश्चिम में स्थित है। नयी राजधानी का नाम फतेहपुर रखा गया।

यह भारत के स्मारकों में प्रमुख स्थान रखता है। फतेहपुर सीकरी एक शहर है। इसका निर्माण इस तरीके से किया गया है कि सहन, दीवाने आम और जामा मस्जिद जैसे सार्वजनिक स्थल निजी महल के ही अंग बन गये हैं। इस शहर का निर्माण काफी कम समय (1571—1585 ई.) में किया गया और इसके लिए कोई वृहद योजना नहीं बनाई गयी थी।

भवन एक दूसरे के आसपास बने थे और एक दूसरे से जुड़े हुए थे। इस परिसर के निर्माण में असममिति का जानबूझकर प्रयोग किया गया है। सभी भवनों में बेहतरीन लाल बलुए पत्थर और परम्परागत शहतीर निर्माण पद्धति का प्रयोग किया गया है। खंभों, कड़ियों, ताकों, टाइलों और स्तंभों का निर्माण स्थानीय पत्थरों से किया गया है उन्हें बिना गारे से जोड़ा गया है।

फतेहपुर सीकरी के भवनों को दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है – धार्मिक और गैर-धार्मिक। धार्मिक भवनों में प्रमुख हैं क) **जामा मस्जिद**, ख) **बुलंद दरवाजा**, ग) **शेख सलीम चिश्ती की मजार**। गैर-धार्मिक भवन कई प्रकार के हैं और इनकी संख्या भी ज्यादा है। इन्हें इस प्रकार विभक्त किया जा सकता है : क) महल, ख) प्रशासनिक भवन, ग) अन्य प्रकार के भवन। यह गौर करने की बात है कि आमतौर पर धार्मिक भवनों का निर्माण अर्द्धवृत्ताकार या धनुषाकार शैली में हुआ जबकि गैर-धार्मिक भवनों में शहतीर पद्धति की प्रमुखता है।

**जामा मस्जिद** की योजना बिल्कुल एक मस्जिद के अनुरूप है – मध्य में एक बरामदा, तीन तरफ से तोरण पथ और ऊपर की ओर गुम्बदनुमा संरचना। उपासना गृह की पश्चिमी तरफ तीन अलग-अलग साधनालय या एकांत स्थल बने हुए हैं। इसमें एक गुम्बद और तोरण पथ है। मस्जिद का आम प्रवेश द्वार पूर्व की ओर है। यह प्रवेश द्वार आकार में काफी बड़ा और अर्द्ध षट्कोणीय ड्योढ़ी के समान है।

1596 ई. में अकबर ने दक्षिणी प्रवेश द्वार के स्थान पर **बुलंद दरवाजा** नामक विजय द्वार निर्मित किया। यह लाल और पीले बलुए पत्थर से बनाया गया है और मेहराबों की रूपरेखा निर्मित करने में सफेद संगमरमर का भी उपयोग किया गया है। बाहर की ओर से सीढ़ियों की ऊंची लंबी कतार के कारण यह और भी ज्यादा ऊंचा और भव्य दीखता है। प्रवेश द्वार में एक विशाल मध्यवर्ती मेहराब है जिससे एक करीने से गुम्बदनुमा छतरियां जुड़ी हुई हैं। 1573 ई. में अकबर के गुजरात अभियान की सफलता के उपलक्ष्य में बुलंद दरवाजा का निर्माण हुआ था।

उत्तरी पश्चिमी कोने में स्थित **जामा मस्जिद** के बरामदे में सलीम चिश्ती की **मजार** है। यह स्थापत्य कारीगरी का एक सुंदर नमूना है और भारत में संगमरमर के कलात्मक उपयोग का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। यह 1581 ई. में बनकर तैयार हो गया था और मूलतः इसमें संगमरमर का उपयोग अंशतः ही हुआ था। छज्जे को सहारा देता घुमावदार ताक और नक्काशी किए हुए जाली के पर्दे इस मस्जिद की उल्लेखनीय विशेषताएं हैं।

फतेहपुर सीकरी महल परिसर में अनेक कक्ष और हिस्से हैं। इनमें सबसे विशाल जोधाबाई महल है। यह भव्य और आडंबरहीन है। बाहर की दीवार समतल है। मुख्य भवन अंदर की ओर हैं और सभी एक आंगन में खुलते हैं। उत्तर की ओर तोरणयुक्त गलियारा और बालकनी है। ऊपरी मंजिल के उत्तरी और दक्षिणी हिस्सों में कमरे हैं। इनकी छतों में फांक हैं, जिसे मुल्तान से लाये गये चमकीले बेहतरीन नीले पत्थरों से पाटा गया है।

**दीवाने खास** के दक्षिण-पूर्व में पांच मंजिली इमारत खड़ी है जिसे **पंच महल** के नाम से जाना जाता है। यह इस महल परिसर का अनूठा भवन है। इसमें जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते जाते हैं मंजिलों का आकार छोटा होता जाता है। सबसे ऊपर एक गुम्बदनुमा छतरी है। इस भवन के कुछ हिस्सों में लाल बलुए पत्थर की झिर्रियां लगवायी गयी हैं। परन्तु आज इनमें से कोई सही सलामत नहीं है। एक रुचिकर तथ्य यह है कि जिन खंभों पर ये पांच मंजिलें खड़ी की गयी हैं, वे सभी खंभे आकार प्रकार में भिन्न हैं।

प्रशासनिक भवनों में, निस्संदेह, **दीवाने खास** सबसे अलग और खास है। इस भवन की योजना आयताकार रूप में की गयी है और बाहर की ओर से इसमें दो मंजिले हैं। इसमें एक सपाट छत है जिसके प्रत्येक कोने के खंभों पर गुंबदनुमा छतरी लगी हुई है। बीच में एक खूबसूरत नक्काशी किया हुआ स्तम्भ है, जिसके विशाल ताक के ऊपर एक वृत्ताकार पत्थर का चबूतरा बना हुआ है। इस चबूतरे से चार रास्ते निकलते हैं। ये समकोणीय रूप से अवस्थित हैं और कक्ष के ऊपरी हिस्से के चारों ओर की वीथी को जोड़ते हैं। इस संरचना का मुख्य स्थापत्यगत आकर्षण केन्द्रीय स्तम्भ है। इसकी धुरी कई प्रकार से निर्मित है और शीर्ष पर इसकी कई शाखाएं हैं, जो कई घुमावदार और दोलायमान ताकों से जुड़ी हैं। इनके सहारे केन्द्रीय चबूतरा टिका हुआ है।

पंच महल

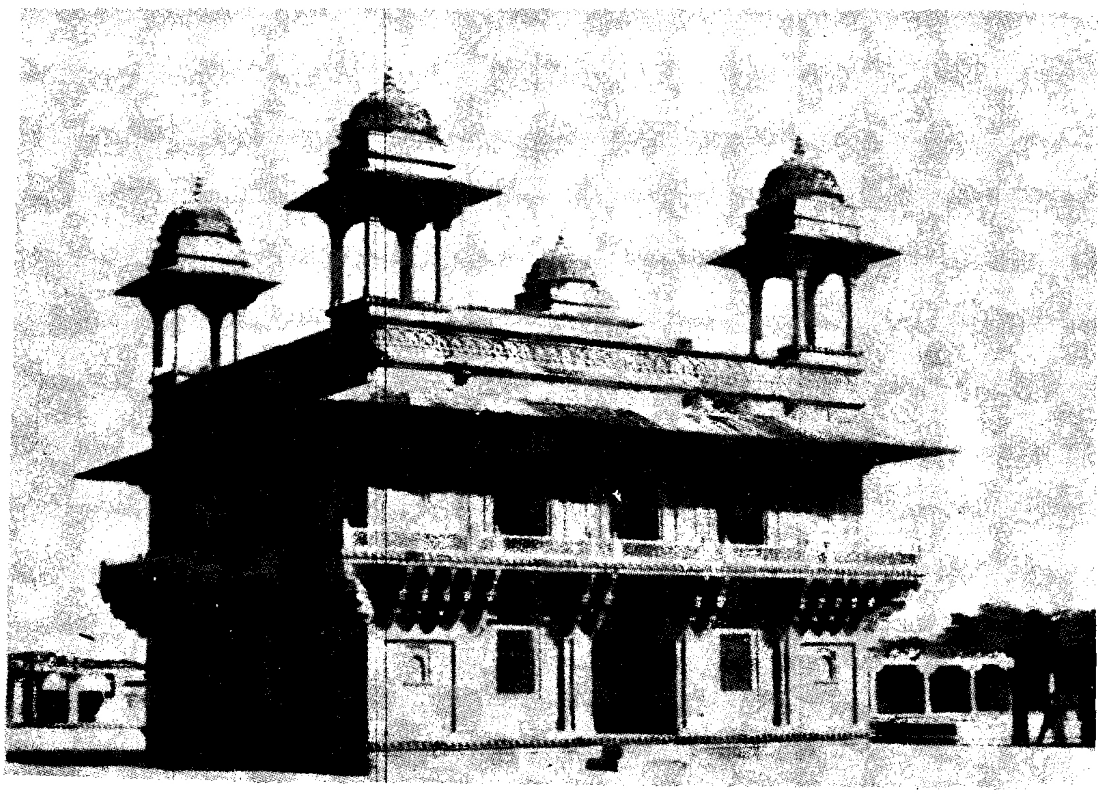

दिवान-ए खास

NMDC-268

इस श्रेणी का दूसरा महत्वपूर्ण भवन **दीवाने आम** है। यह एक बड़ा आयताकार बरामदा है जो चारों ओर से स्तम्भों से घिरा हुआ है। सम्राट का चबूतरा पश्चिमी किनारे पर है। यह ऊपर उठी हुई संरचना है जिस पर बैठे हुए व्यक्ति को कोई भी देख सकता है। ऊपर पत्थर की छत है और वह पांच ओर से समान रूप से खुला हुआ है। चबूतरा तीन भागों में विभक्त है, मध्यवर्ती भाग शायद सम्राट के बैठने की जगह होगी जो कि दोनों किनारों से हटकर है और इसमें बेहतरीन चमकीले पत्थर ज्यामितीय आकार में लगाये गये हैं।

पूरे नगर परिसर में भिन्न-भिन्न प्रकार की इमारते फैली हुई हैं :

i) दो **कारवा सरायें**, एक आगरा दरवाजे के तुरंत बाद दाहिनी ओर स्थित है; और दूसरी, जो पहले वाली से बड़ी है, **हाथी पोल** के बाहर बायीं तरफ स्थित है।

ii) कारखाना भवन **दीवाने आम** और **नौबत खाना** के बीच में अवस्थित है जिसमें कई ईंट के बने गुम्बद हैं, जिनमें विकिरण की क्षमता है। वे क्षेतिज कम हैं।

iii) **कारवां सराय** के सामने और **हाथी पोल** के निकट जल-आपूर्ति की व्यवस्था की गयी है। इसमें एक गहरी **बावली** (सीढ़ीदार कुंए) है जिसके दोनों ओर दो कोष्ठ हैं जिसके जरिए सारे शहर को जल की आपूर्ति की जाती थी।

**बोध प्रश्न 2**

1) निम्नलिखित वक्तव्यों के सामने सही (✓) और गलत के सामने (×) का निशान लगाइए :

i) अकबर ने अपने अधिकांश भवनों में संगमरमर का उपयोग किया।

ii) अकबर के भवनों में कभी भी दोहरे गुम्बद का इस्तेमाल नहीं किया गया।

iii) अकबर की स्थापत्य शैली में धनुषाकार और शहतीर शैली का सामंजस्य है।

iv) खाली जगहों को भरने के लिए अकबर ने छज्जों का उपयोग किया।

2) फतेहपुर सीकरी के महत्वपूर्ण गैर-धार्मिक भवनों पर एक टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) फतेहपुर सीकरी में बने धार्मिक भवनों का उल्लेख करते हुए उन पर दो पंक्तियां लिखिए।

.....

.....

.....

.....

## 33.5 जहांगीर और शाहजहां कालीन स्थापत्य

1605 ई. में अकबर की मृत्यु के बाद भी उसके उत्तराधिकारियों के नेतृत्व में एक खास मुगल स्थापत्य शैली का विकास होता रहा। अब साम्राजय की नींव पक्की हो गयी थी और राजकोष में अपार धन इकट्ठा हो गया था। जहांगीर और शाहजहां ने इसका जमकर फायदा उठाया और कला के विकास की ओर ध्यान दिया।

NMDC-268

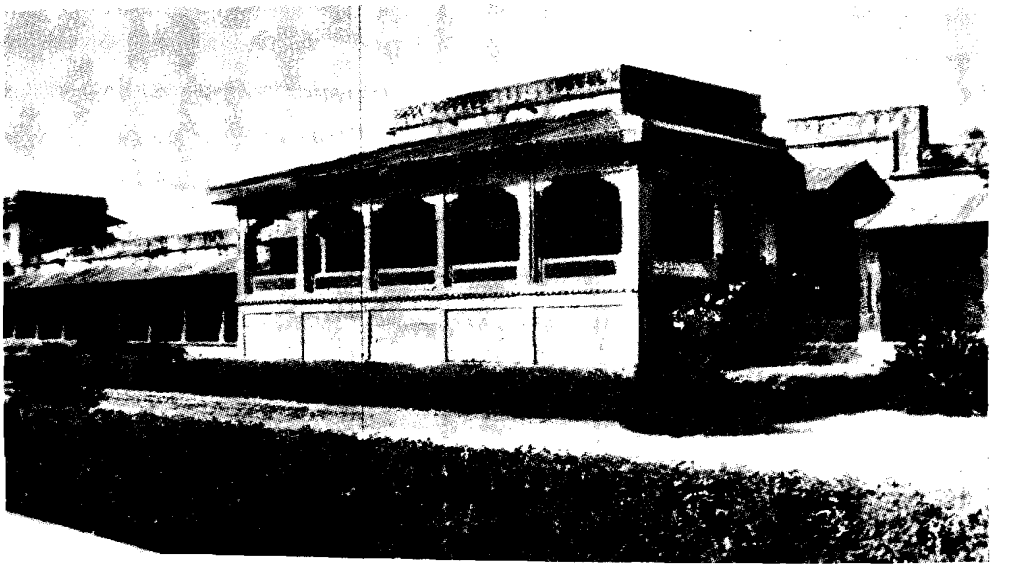

दिवान-ए आम

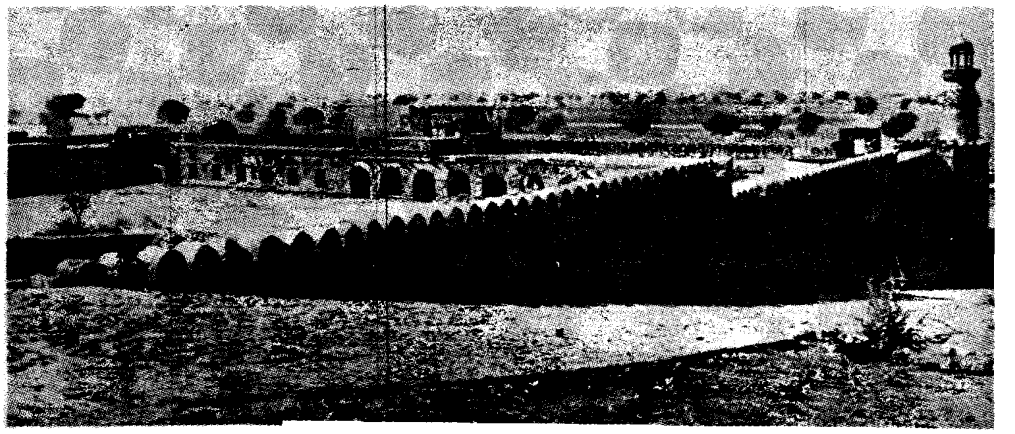

कारवाँ सराय

NMDC-268

### 33.5.1 प्रमुख विशेषताएँ

भवन निर्माण कला के क्षेत्र में जहांगीर और शाहजहां के शासनकाल संगमरमर के प्रयोग के काल हैं। लाल बलुए पत्थर का स्थान संगमरमर ने ले लिया और इसका बेहतरीन प्रयोग होने लगा। इस कारण कुछ शैलीगत परिवर्तन भी आये जो इस प्रकार हैं :

क) मेहराब को नया रूप दिया गया। इसमें घुमावदार फूल-पत्ती का उपयोग होने लगा जिसमें आमतौर पर नौ नुकीले सिरे होते थे;

ख) रंगे हुए मेहराब के संगमरमर के तोरण पथ इस काल की आम विशेषता हो गयी;

ग) गुम्बद कंदीय स्वरूप ग्रहण करने लगा और इसमें एक प्रकार की तंगी भी आने लगी। दोहरे गुम्बद का आम चलन हो गया;

घ) अलंकरण के लिए पच्चीकारी के प्रयोग में रंगीन पत्थरों का खूब उपयोग किया जाने लगा; और

ङ) जहांगीर के शासनकाल के उत्तरार्द्ध से पच्चीकारी का एक नया तरीका सामने आया जिसे **पित्राड्यूरा** के नाम से जाना जाता है। इस पद्धति के तहत अशम, लेजुलाइट, सुलेमानी, चीनी मिट्टी, पुखराज और कार्नेलियन जैसे पत्थरों को संगमरमर में बड़ी नफासत के साथ फूलपत्तियों के रूप में जड़ा जाता था।

### 33.5.2 प्रमुख इमारतें

अकबर का मकबरा इस युग का पहला प्रमुख और उल्लेखनीय भवन है। यह आगरा से आठ किलोमीटर दूर दिल्ली मार्ग पर सिकन्दरा में अवस्थित है। अकबर ने इसकी रूपरेखा खुद बनायी थी और इसका निर्माण कार्य अपने जीवन काल में ही आरंभ करवा दिया था परन्तु उसकी मृत्यु के समय यह कार्य अधूरा था। इसके बाद जहांगीर ने इसकी मूलरेखा में परिवर्तन करके इसे नये रूप में निर्मित करवाया और इस भवन को पूरा किया। आज यह पूरा परिसर जिस रूप में खड़ा है वह अकबर और जहांगीर की स्थापत्यगत योजनाओं का असाधारण सम्मिश्रण है।

इस परिसर के बीच में मकबरा स्थित है जो चारों ओर से बागान से घिरा हुआ है। प्रत्येक ओर की चहारदीवारी के मध्यभाग में प्रवेश द्वार बने हुए हैं।

मध्य में स्थित मकबरे वाला भवन चौकोर आकार का है और इसमें तीन मंजिलें हैं। पहली मंजिल वस्तुतः एक छतयुक्त चबूतरा है जो तहखाने का काम करता है। इस चबूतरे के भीतर शवागार कक्ष के चारों ओर शव कक्ष बने हुए हैं और दक्षिण दिशा में एक पतला ढँलवा गलियारा है जो कब्र तक जाता है। बीच वाले हिस्सों में लाल बलुए पत्थर से बनी तीलियों के तीन स्तर हैं, जिनमें पूरी तरह शहतीरों का उपयोग किया गया है।

ऊपरी मंजिल पर लाल बलुए पत्थर के स्थान पर सफेद संगमरमर का उपयोग किया गया है। इसमें एक खुला सभागार है जो चारों ओर से जालियों से मुक्त स्तंभावलियों से घिरा हुआ है। मकबरा चहारदीवारी के प्रवेश द्वार से गुफाओं और सेतुपथों से जुड़ा हुआ था। परन्तु इसमें केवल दक्षिण की ओर से ही प्रवेश किया जा सकता था बाकी प्रवेश द्वार दिखावटी थे जिनका निर्माण एकरूपता के लिए किया गया था।

दक्षिणी प्रवेश द्वार दो मंजिला था जिसके प्रत्येक कोने पर सफेद संगमरमर की गोल मीनारें खड़ी थीं। सम्पूर्ण प्रवेश द्वार का ढांचा रंगीन पलस्तर के रंग के पत्थर से अलंकृत है और इसमें संगमरमर जोड़ा गया था इसमें खास बात यह है कि इस अलंकरण में परम्परागत फूल-पत्ती के बेलबूटों और आयतों के अतिरिक्त, गज (हाथी), हंस, पद्म (कमल), स्वास्तिक और चक्र का भी प्रयोग किया गया था। सिकन्दरा स्थित अकबर के मकबरे का स्थापत्यगत महत्व इस बात से सिद्ध होता है कि इसके बाद बनने वाले अनेक मकबरों में इस भवन की छाप दिखायी पड़ती है। लाहौर के निकट शाहदरा में स्थित जहांगीर का मकबरा और आगरा स्थित नूरजहां के पिता मिर्जा गियास बेग का मकबरा इसके उत्तम उदाहरण हैं।

अपने पिता मिर्जा गियास बेग की कब्र पर नूरजहां ने 1622-28 ई. में इतमादउद्दौला का मकबरा निर्मित किया। यह मकबरा अकबर के काल के बाद के स्थापत्यगत परिवर्तन का

NMDC-268

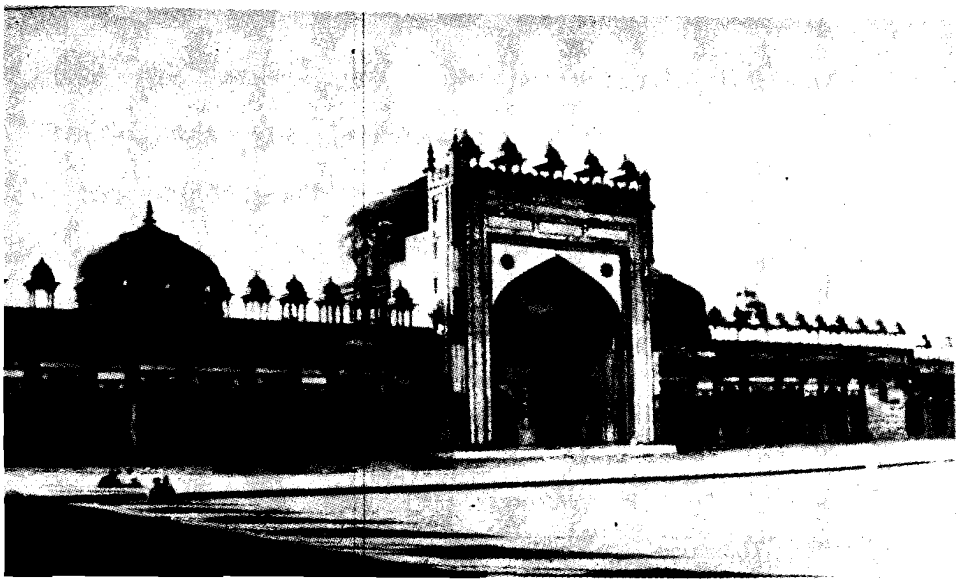

जामामस्जिद, फतहपुर सीकरी

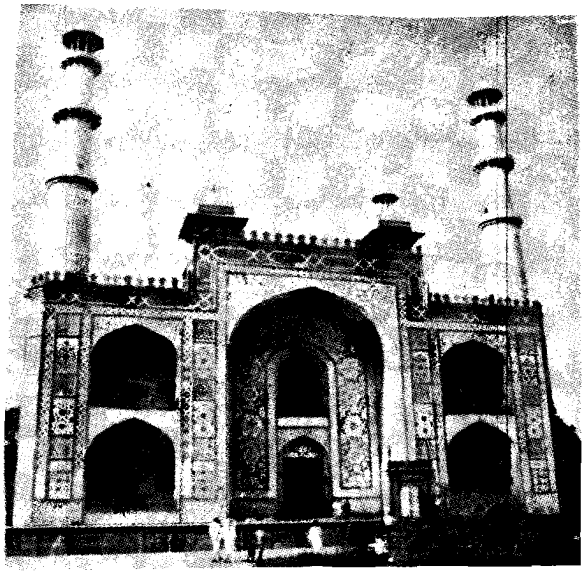

अकबर के मकबरे का प्रवेश द्वार

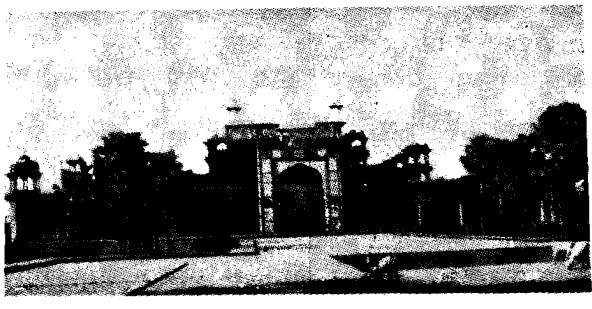

अकबर का मकबरा

NMDC-268

सूचक है। जहांगीर और शाहजहां के शासनकाल के स्थापत्य और अकबर के स्थापत्य में एक खास अंतर सूक्ष्मता और भव्यता का है। इस ढांचे में इसी सूक्ष्मता की अवधारणा की झलक मिलती है।

मकबरा चौकोर है जो थोड़े से उठे हुए चबूतरे पर बना हुआ है। प्रत्येक कोने पर चार गुम्बद युक्त अष्टकोणीय मीनारें हैं। केन्द्रीय कक्ष के चारों ओर बरामदा है जो खूबसूरत संगमरमर की जाली से घिरा हुआ है और इस पर मोज़ेक और **पित्राड्यूरा** किया हुआ है। केन्द्रीय कक्ष में इतमादउद्दौला और उसकी पत्नी की कब्र है, जो पीले संगमरमर की बनी है। बगल के कमरे रंगीन फूल पत्तियों से अलंकृत हैं। सफेद संगमरमर का मकबरा चारों ओर से बागों और दीवारों से घिरा बड़ा खूबसूरत दीखता है। इसके चारों ओर लाल बलुए पत्थर के बने चार प्रवेश द्वार हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि जहांगीर चित्रकला का बहुत बड़ा प्रेमी और संरक्षक था। उसे जानवरों, पेड़-पौधों, फूलों, आदि से अगाध स्नेह था। यह उसके काल के चित्रों से भी प्रमाणित होता है। इसीलिए उसने भवनों की अपेक्षा बागानों और फुलवारियों के निर्माण में अपेक्षाकृत अधिक रुचि दिखाई। कश्मीर में स्थित **शालीमार बाग** और **निशात बाग** जैसे मुगल बागान जहांगीर की इसी रुचि के परिचायक हैं।

जहांगीर के विपरीत उसका पुत्र और उत्तराधिकारी शाहजहां एक महान भवन निर्माता था। उसके शासनकाल के दौरान भवन निर्माण में संगमरमर का बड़े पैमाने पर सर्वोत्कृष्ट कलात्मक उपयोग हुआ। शाहजहां ने निम्नलिखित प्रकार के भवन बनवाए :

क) किले रूपी महल, मसलन दिल्ली का लाल किला;

ख) मस्जिदें, उदाहरणस्वरूप आगरे के किले में स्थित **मोती मस्जिद** और दिल्ली की **जामा मस्जिद**; और

ग) बाग से घिरे मकबरे, उदाहरणस्वरूप **ताजमहल**।

यहां हम शाहजहां के शासनकाल के दौरान निर्मित अधिक महत्वपूर्ण और प्रतिनिधि भवनों की चर्चा करेंगे।

**लालकिला** आयताकार है और इसकी उत्तरी दीवार यमुना नदी के पुराने बहाव क्षेत्र से सटी हुई है। दिल्ली दरवाजा और लाहौरी दरवाजा दो प्रमुख प्रवेश द्वार हैं। दीवार के साथ-साथ एक नियमित दूरी पर विशाल गोलाकार बुर्ज है। दरवाजों के दोनों ओर अष्टकोणीय मीनारें हैं। इसमें अंधेरी गलियां हैं और इसके ऊपर बुर्ज बने हुए हैं। नदी की दिशा को छोड़कर दीवार से सटी हुई खाई बनी हुई है। किले के अंदर अनेक उल्लेखनीय भवन हैं जिनमें **दीवाने आम, दीवाने खास** और **रंगमहल** महत्वपूर्ण हैं। **दीवाने आम** और **रंगमहल** छतयुक्त वीथियां हैं इसमें बलुए पत्थर के स्तंभ हैं जिन पर संगमरमर के चूर्ण का मजबूत प्लास्टर किया हुआ है। **दीवाने आम** की पूर्वी दीवार के साथ सम्राट का सिंहासन वाला चबूतरा बना हुआ है जिसकी छत बंगाल स्थापत्य की शैली में निर्मित है। इस इमारत की पूर्वी दिशा में रंगमहल स्थित है जिसके आगे एक खुला बरामदा है और पत्थर की ओर रंगमहल से मिलता जुलता **दीवाने खास** है। इन सभी इमारतों की दीवारों, स्तंभों और खंभों पर फूल-पत्तियों का अलंकरण है।

आगरा के किले की **मोती मस्जिद** में खुले तोरणयुक्त प्रार्थना कक्ष का इस्तेमाल कर शाहजहां ने एक नया प्रयोग किया। इसके अलावा मस्जिद में मीनारें भी नहीं बनायी गयीं। इनके स्थान पर प्रार्थना कक्ष के चारों कोनों पर छतरियों का उपयोग किया गया। एक अर्द्धचंद्राकार तोरण के ऊपर तीन उभरे हुए गुम्बद बनाये गये थे। पूरी इमारत संगमरमर से बनी है और काले संगमरमर से उन पर कुरान की **आयतें** खुदी हैं इससे इसका सौन्दर्य और भी बढ़ गया है।

दिल्ली की **जामी मस्जिद**, फतेहपुर सीकरी की **जामी मस्जिद** का विस्तारित और बड़ा रूप है और यह भारत की अपने आप में एक बड़ी इमारत है। यह एक ऊंचे चबूतरे पर बनी हुई है जिसके चारों ओर तोरण पथ है जिन्हें दो तरफ से खुला छोड़ दिया गया है। मुख्य प्रवेश पूर्वी दिशा से है और ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियां बनी हुई हैं। इससे इमारत की ऊंचाई का आभास बढ़ जाता है। उत्तरी और दक्षिणी भाग के मध्य में दो छोटे प्रवेशद्वार हैं। मस्जिद के

NMDC-268

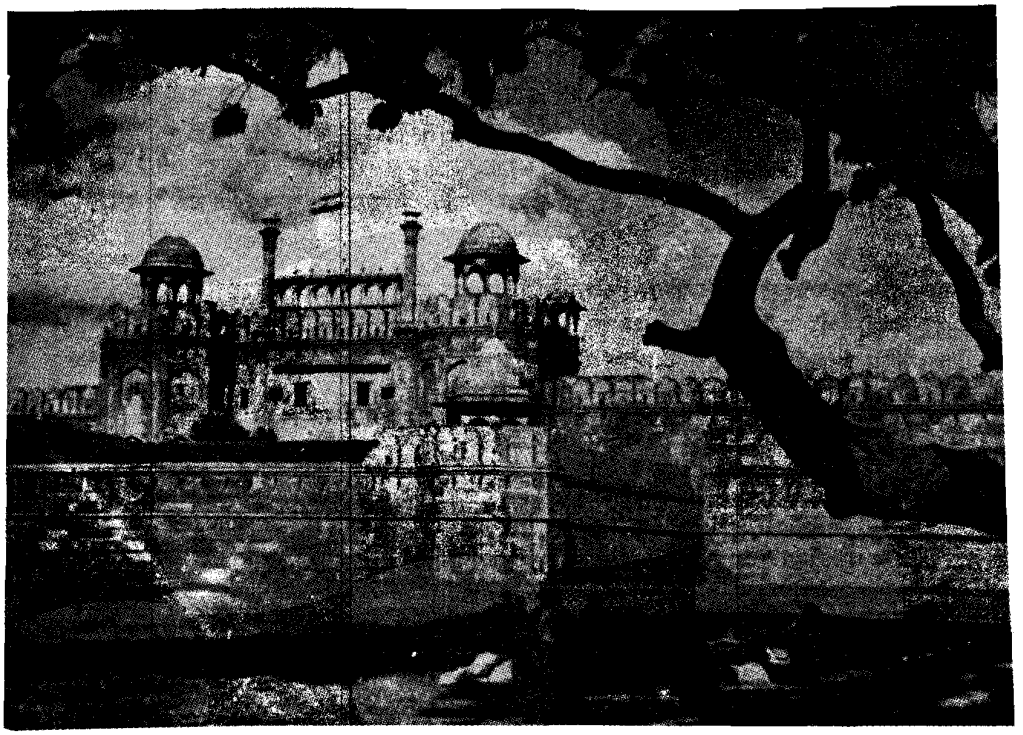

लाल किला

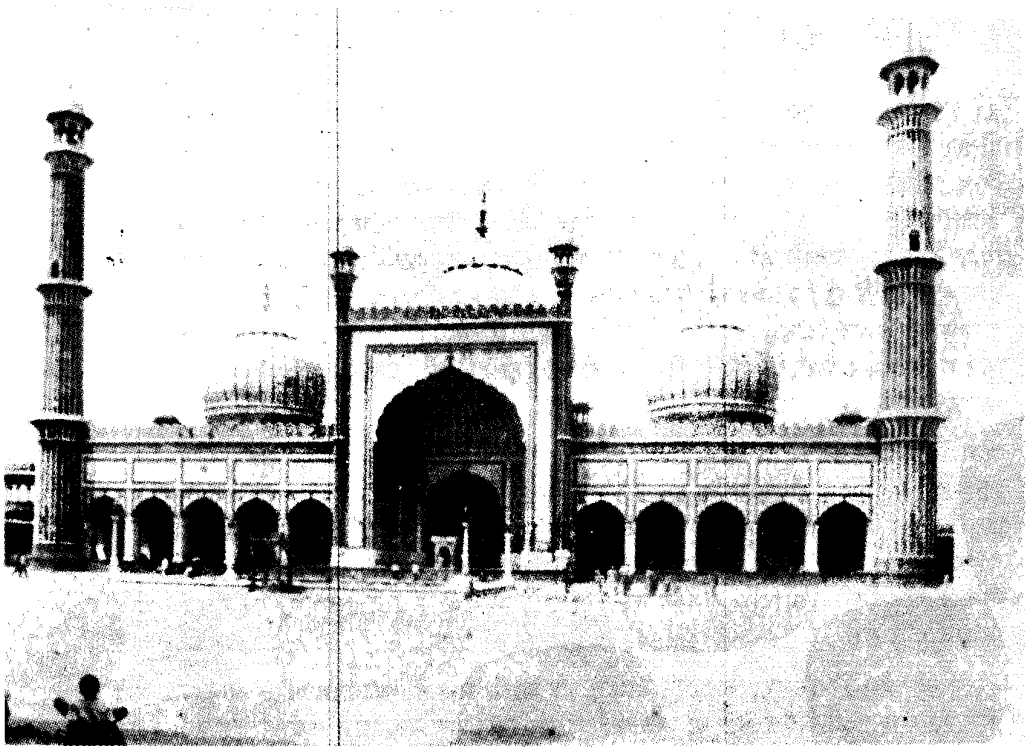

जामा मस्जिद

NMDC-268

अंदर की योजना फतेहपुर सीकरी की **जामी मस्जिद** के अनुरूप है—तीन तरफ स्तंभावलियां हैं और चौथी तरफ उपासना स्थल है। उपासन स्थल के ऊपर संगमरमर निर्मित तीन बाहर की ओर उभरे हुए केंद्रीय गुंबद हैं। पूरी इमारत लाल बलुए पत्थर से बनी है और उनमें प्लास्टर के स्थान और चौखटों के ढांचे को अलंकृत करने के लिए संगमरमर का उपयोग हुआ है।

निस्सन्देह **ताजमहल** शाहजहां की सर्वोत्कृष्ट और अनुपम रचना है। इसका निर्माण कार्य 1632 ई. में आरंभ हुआ और इसके बनने में लगभग बाईस वर्ष लगे। यह परिसर आयताकार है और ऊंची दीवारों से घिरा हुआ है। दक्षिण दिशा के मध्य में एक ऊँचा प्रवेश द्वार है। कुल मिलाकर छह अष्टकोणीय वीथियां हैं – प्रत्येक कोने पर एक पूर्वी और एक पश्चिमी दिशा में। इस परिसर के उत्तरी छोर में ऊंचे चबूतरे पर ताज की मुख्य इमारत अवस्थित है। एकरूपता के लिए इस इमारत के पूर्वी और पश्चिमी किनारे पर एक तरह की दो मस्जिदें बनी हुई हैं।

ताजमहल एक चौकोर इमारत है जिसके चारों ओर और चारों कोनों पर एक-एक झिर्रीदार कोष्ठिका बनी हुई है। इस इमारत के शीर्ष पर खूबसूरत उभरे हुए गुम्बद हैं जिसके ऊपर उलटा कमल कलश और एक धातु निर्मित कलश अवस्थित है। चबूतरे के चारों कोनों पर चार वृत्ताकार मीनारें हैं जिनके शीर्ष पर स्तम्भयुक्त बुर्जियां हैं। अन्दर की ओर एक केन्द्रीय कक्ष हैं जिसके आसपास प्रकोष्ठ हैं, जो एक दूसरे से एक प्रकाशयुक्त गलियारे से जुड़े हुए हैं। मुख्य कक्ष की छत अर्द्धवृत गुंबदाकार है। यह दोहरे गुम्बद के अंदर का हिस्सा है। आयतों की नक्काशियों और पच्चीकारियों से बाहरी ओर का अलंकरण किया गया है और अंदर की ओर **पित्राड्यूरा** किया गया है। भवन-निर्माण के काम में लाया गया संगमरमर उच्च कोटि का है। इसे जोधपुर के निकट मकराना की खदान से लाया गया था। मुख्य इमारत के सामने की फुलवारी चार बराबर हिस्सों में विभक्त है। दो नहरें इन्हें चार हिस्सों में बाँटती हैं। मुख्य कक्ष में बनी स्मारक समाधि मूलतः सोने की नक्काशी की गयी जाली से घिरी हुई थी। परन्तु बाद में औरंगजब न इसे हटाकर संगमरमर की जाली लगवा दी।

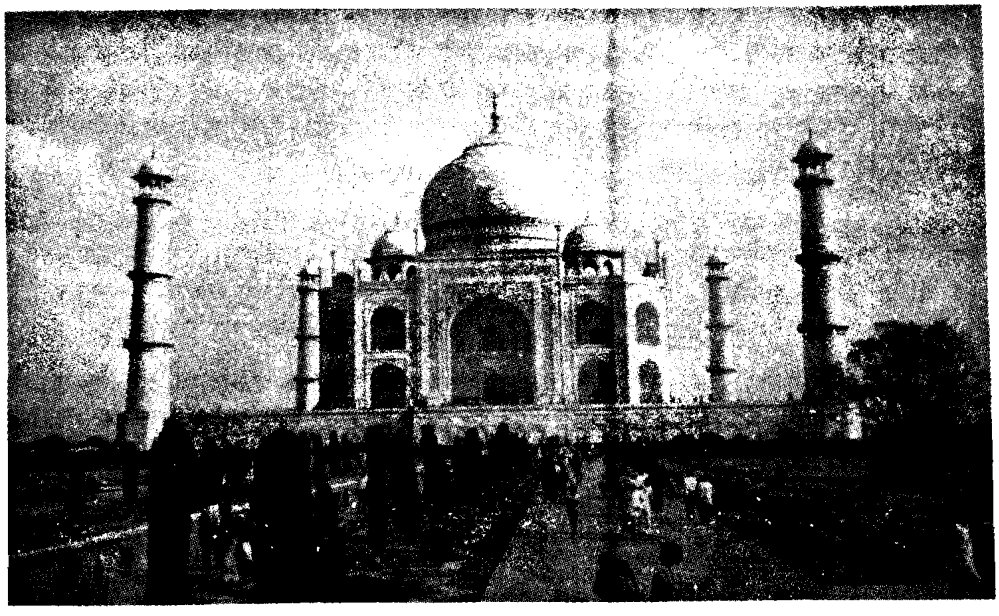

ताज महल

NMDC-268

**बोध प्रश्न 3**

1) निम्नलिखित वक्तव्यों पर सही (✓) और गलत (×) का निशान लगाइए :

जहाँगीर तथा शाहजहाँ के काल के स्थापत्य की प्रमुख विशेषता थी :

i) भवन-निर्माण में लाल बलुए पत्थर के स्थान पर संगमरमर का प्रयोग होने लगा।

ii) मेहराबों में बहु-पत्तीदार वक्रता का उपयोग।

iii) इकहरे गुम्बद के स्थान पर दोहरे गुम्बद का उपयोग।

iv) पच्चीकारी का स्थान ज्यामितीय अंकन और उत्कृष्ट नक्काशी ने ले लिया।

v) पित्राड्यूरा का प्रयोग।

2) साठ शब्दों में ताजमहल के स्थापत्य पर टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 33.6 अंतिम चरण

यह भाग दो उपभागों में विभक्त है। पहले में औरंगजेब कालीन भवन निर्माण की गतिविधियों का उल्लेख किया गया है और दूसरे में औरंगजेब के शासनकाल के बाद के समय की वास्तुकला का जिक्र किया गया है।

### 33.6.1 औरंगजेब की इमारतें

अपने पिता के विपरीत औरंगजेब की स्थापत्य में कोई रुचि नहीं थी। उसके पूर्वजों ने कला को काफी बढ़ावा दिया परन्तु उसके शासनकाल में इन सब चीजों का महत्व काफी घट गया। पूर्ववर्ती मुगल शासकों की अपेक्षा औरंगजेब द्वारा बनाये गये भवन काफी कम हैं और इनका स्तर भी साधारण है। साम्राज्य की राजधानी दिल्ली में भी औरंगजेब के नाम से जुड़ी इमारतें कम ही हैं। औरंगजेब द्वारा बनवायी गयी इमारतों में औरंगाबाद स्थित उसकी बेगम रबियाउद्दौरान का मकबरा, लाहौर की बादशाही मस्जिद और लालकिला (दिल्ली) में बनी **मोती मस्जिद है**। आकार और बनावट में बादशाही मस्जिद दिल्ली की मस्जिद से मेल खाती है। इसमें एक बड़ा सभागार, खड़े होकर प्रार्थना करने का कक्ष और कक्ष के प्रत्येक कोने में मीनारें हैं।

उपासना स्थल के प्रत्येक कोण पर चार छोटी मीनारें हैं। उपासना कब्र के दोनों ओर एक खास अंतर पर मेहराबी प्रवेशद्वार है। इसमें केवल एक चँदोवा है। इमारत में ज्यादातर लाल बलुए पत्थर का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं नाम मात्र के लिए संगमरमर का इस्तेमाल किया गया है। उपासना कब्र के ऊपर तीन उभरे हुए गुम्बद खुबसूरत लगते हैं।

लाल किला (दिल्ली) में स्थित **मोती मस्जिद** इस युग की दूसरी महत्वपूर्ण इमारत है। इस इमारत के निर्माण में उच्च कोटि का संगमरमर लगाया गया है। आगरा के किले में शाहजहां निर्मित **मोती मस्जिद** से यह मस्जिद मेल खाती है। यहां केवल वक्रता ज्यादा उभर कर सामने आयी है। उपासना कक्ष के ऊपर तीन उभरे हुए गुम्बद बने हुए हैं जो एक ही आकार की बुर्जी के रूप में बनाये गये हैं।

औरंगजेब की पत्नी के मकबरे में ताजमहल की नकल करने की कोशिश की गयी है। लेकिन औरंगजेब का स्थापत्य शिल्पी मकबरे के कोने पर सही ढंग से मीनारों को स्थापित नहीं कर पाया है जिसके कारण पूरे भवन का सामंजस्य बिखर गया है। ताजमहल की नकल करने की कोशिश असफल रही है। इसकी मीनारें पूरी संरचना से मेल नहीं खातीं।

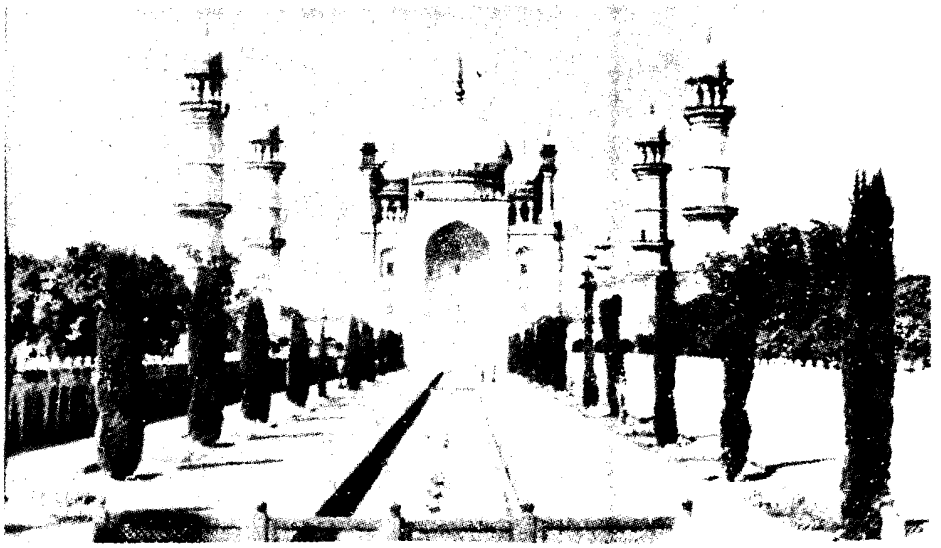

रबि उद दौरान का मकबरा

## 33.6.2 सफदर जंग का मकबरा

1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के बाद साम्राज्य भरभरा कर गिर पड़ा। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बनी कुछ इमारतें इस पतन की गवाह हैं।

दिल्ली में स्थित सफदर जंग का मकबरा इस युग का सबसे महत्वपूर्ण भवन है। यह एक बड़े बाग से घिरा हुआ है और औरंगाबाद में बने रबियाउद्दौरान के मकबरे के समान यहां भी ताजमहल की नकल करने की कोशिश की गयी है। हालांकि इसके आकार प्रकार में बदलाव यह किया गया है कि इसकी मीनारें मुख्य भवन के हिस्से के रूप में ही निर्मित हैं। ये स्वतंत्र ढांचे नहीं हैं। मुख्य भवन छत्तेदार चबूतरे पर खड़ा है। इसमें दो मंजिले हैं और यह एक बड़े और लगभग गोलाकार गुबंद से आच्छादित है। ये मीनारें बुर्ज की तरह उठी हैं और इसके शीर्ष पर गुंबदनुमा छतरियां हैं। पूरा भवन लाल बलुए पत्थर से बना है जिसमें संगमरमर की पट्टी दी गयी है। मेहराबों का अग्रभाग कम वक्र है परन्तु यह पूरे भवन की समग्र संरचना से अच्छी तरह मेल करता है।

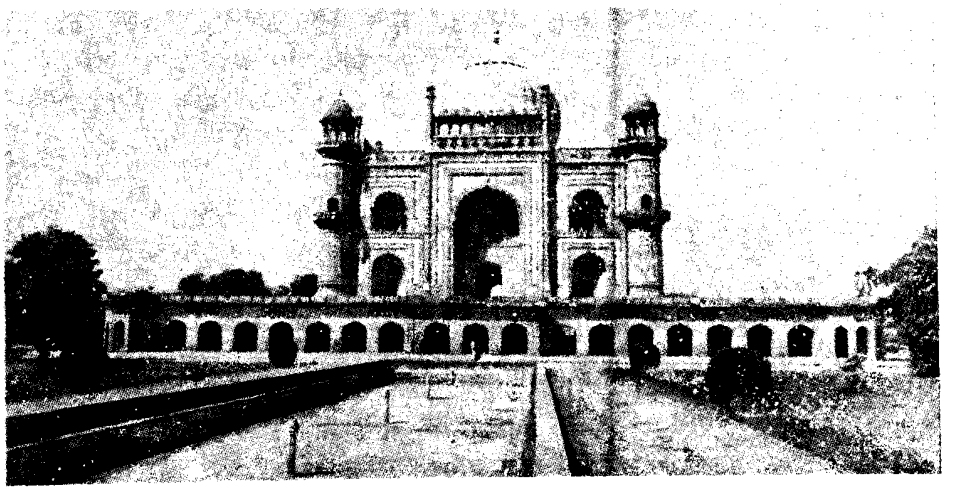

सफदर जंग का मकबरा

NMDC-268

**बोध प्रश्न 4**

1) औरंगजेब के शासनकाल की स्थापत्यगत गतिविधियों पर विचार कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

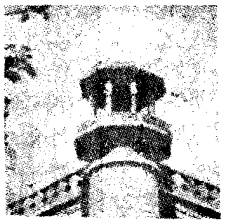

छतरी/बुर्जी

2) सफदर जगं के मकबरे पर लघु टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 33.7 सारांश

बाबर और हुमायूं ज्यादातर अपनी राजनैतिक समस्याओं में उलझे रहे। इसलिए उन्हें भवन निर्माण का बहुत कम अवसर मिला। हालांकि बाबर खुद बगीचों का प्रेमी था और अपने छोटे से शासनकाल में उसने भारत में कई बागान लगवाए थे। मुगलों की स्थापत्यगत गतिविधियों की असल शुरुआत अकबर के समय से हुई। उसकी इमारतें मुख्य रूप से लाल बलुए पत्थर से निर्मित हैं। अकबर के भवनों में मेहराबों और शहतीर शैलियों का सुन्दर सम्मिश्रण है। जहांगीर स्थापत्य की अपेक्षा चित्रकला में ज्यादा रुचि रखता था। हालांकि चित्रकला में रुचि होने के कारण समकालीन स्थापत्य में नयापन आया। चित्रकारी, पशुओं और फूल-पत्तियों के डिजाइनों का अलंकरण के लिए इस्तेमाल होने लगा और **पित्राड्यूरा** नामक नयी अलंकरण शैली जहांगीर के समय सामने आयी। शाहजहां के शासनकाल में मुगल स्थापत्य अपने उत्कर्ष पर पहुंच गया और इस समय संगमरमर का उपयोग ज्यादातर होने लगा। शाहजहां द्वारा निर्मित सफेद संगमरमर में ढला ताजमहल एक अनुपम और अमर कृति है। इसकी दोहरी-गुम्बद, मीनारें, बहु-पत्तीदार मेहराबें, आदि स्थापत्य कला के चरम उत्कर्ष की गवाह हैं। उसका उत्तराधिकारी औरंगजेब भवन निर्माण गतिविधि के प्रति उदासीन था। इसलिए उसके शासनकाल में कम भवनों का निर्माण हुआ है। औरंगजेब के बाद का काल पतन का काल था। अव्यवस्थित राजनैतिक माहौल में स्थापत्य में रुचि लेना मुगल शासकों के वश में नहीं था। इस माहौल में बड़ी इमारतों का निर्माण नहीं हो सकता था। इस काल का एकमात्र स्मारक दिल्ली स्थित सफदर जंग का मकबरा है।

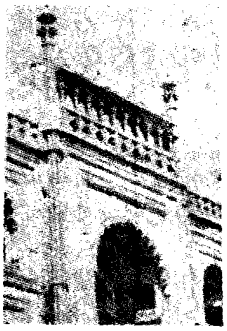

खंभ

## 33.8 शब्दावली

शिखर

**कोष्ठिका** : गुंबदाकार झिरी

**तोरण पथ** : छतयुक्त मेहराबों की शृंखला

**मेहराब** : ईंटों या पत्थर के खंडों से बना अपने बल पर खड़ा ढांचा जिसके ऊपर कोई ढांचा खड़ा किया जाता है।

**बावली** : सीढ़ीनुमा कुंआ

**ब्रैकेट** : ताक दीवार का सहारा

**स्मारक समाधि** : किसी की याद में बनायी गयी इमारत

NMDC-268

**घुमावदार मेहराब** : ऐसी मेहराब जो अंदर की ओर नोकदार हो।

**स्तंभावलि** : स्तंभों की एक पंक्ति

**सेतुमार्ग** : पानी के बीच बना रास्ता

**बुर्जी** : गुंबद का भीतरी भाग

**गुम्बद** : एक चौकोर के ऊपर बना उत्तल छत भवन में अष्टकोणीय या वृत्ताकार स्थान

**छज्जा** : छत का निकला हुआ बाहरी हिस्सा

**रंगीन मेहराब** : फूल-पत्तियों से अलंकृत मेहराब

**कलश** : शिखर

**छतरी** : एक खुली वीथी जिसकी छत स्तंभों के सहारे टिकी हुई हो

**खंभे** : पत्थर और ईंट को जोड़कर बनायी गयी सरचना जो क्षैतिज भार उठाये रखते हैं

**पित्राड्यूरा** : संगमरमर की खुदाई कर उसमें चमकीले पत्थरों को जड़ना और अलंकृत करना

**चंदोवा** : आगे का हिस्सा

**गचकारी** : चूने के प्लास्टर को खोदकर अलंकरण करना

**शहतीर** : इस स्थापत्य संरचना में कड़ी और स्तंभों का उपयोग किया जाता है

**बुर्ज** : भवन के साथ लगी मीनारें

चंदोवा

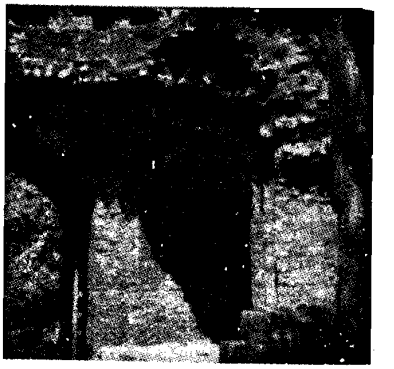

क्षैतिज

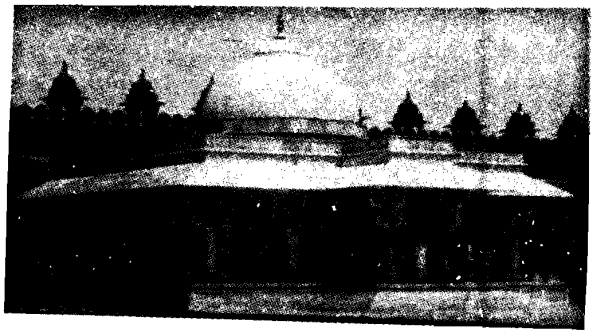

ब्रैकेट

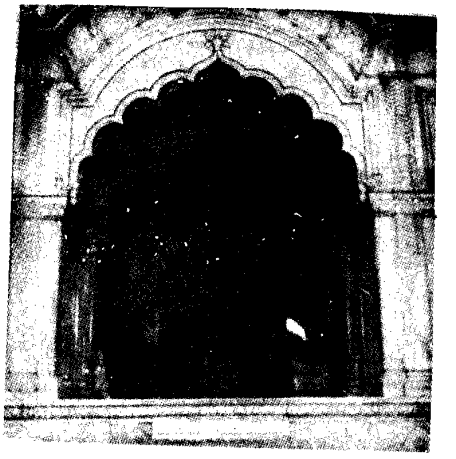

घुमावदार मेहराब (शाहजहाँ)

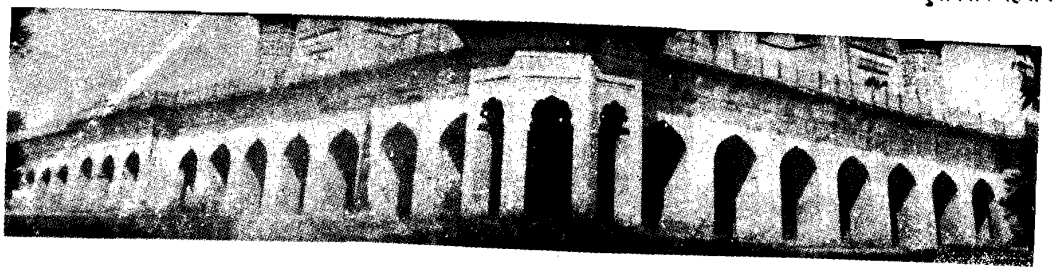

तोरण पथ

NMDC-268

अकबरी मेहराब

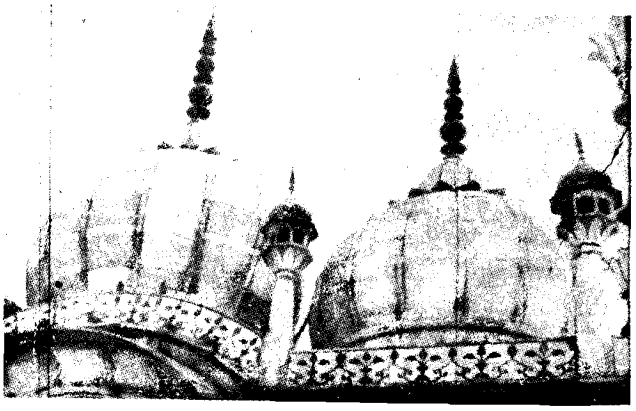

गुम्बद

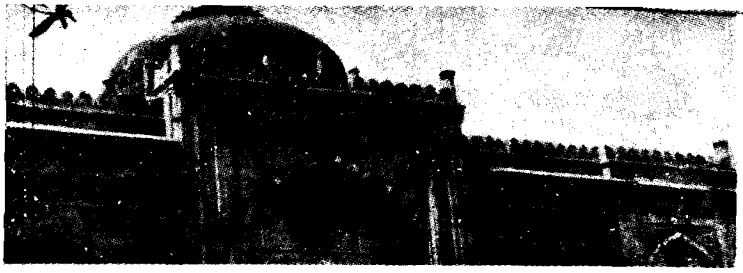

छज्जा

## 33.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) i) घ, ii) क, iii) ख, iv) ग

2) देखिए उपभाग 33.2.2

**बोध प्रश्न 2**

1) i) ×, ii) √, iii) √, iv) ×

2) देखिए उपभाग 33.4.2 फतेहपुर सीकरी में निर्मित अकबर के भवनों की आम विशेषताओं पर विचार कीजिए, जैसे शैली, निर्माण वस्तु, अलंकरण, नक्काशी आदि।

2) देखिए उपभाग 33.4.2

**बोध प्रश्न 3**

1) i) √ ii) √, iii) ×, iv) ×, v) √

2) देखिए उपभाग 33.5.2

**बोध प्रश्न 4**

1) देखिए उपभाग 33.6.1 इस तथ्य पर विचार कीजिए कि औरंगजेब भवन निर्माण में रुचि नहीं रखता था और उसके शासनकाल में कम भवनों का निर्माण हुआ। इन भवनों का वर्णन करते हुए इनकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

2) देखिए 33.6.2.

NMDC-268

# इकाई 34 चित्रकला और ललित कलाएं

## इकाई की रूपरेखा


34.0 उद्देश्य
34.1 प्रस्तावना
34.2 पृष्ठभूमि
  34.2.1 पन्द्रहवीं शताब्दी में चित्रकला
  34.2.2 आरंभिक मुगलकालीन चित्रकला
34.3 अकबर के शासनकाल में मुगल शैली का विकास
  34.3.1 राजकीय चित्रशाला की स्थापना
  34.3.2 शैली और तकनीक
  34.3.3 मूलभूत विशेषताएं
34.4 जहांगीर और शाहजहां के शासनकाल में विकास
  34.4.1 नयी शैलियों का उदय
  34.4.2 विषयगत भिन्नताएं
  34.4.3 अंतिम चरण
34.5 मुगल चित्रकला पर यूरोप का प्रभाव
34.6 दक्खन में चित्रकला
  34.6.1 दरबारी संरक्षण
  34.6.2 शैली और विषय
34.7 राजपूत चित्रकला
  34.7.1 शैली और विषय
  34.7.2 मुख्य केन्द्र
34.8 मुगलकालीन ललित कलाएं
  34.8.1 संगीत
  34.8.2 नृत्य और नाटक
34.9 सारांश
34.10 शब्दावली
34.11 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 34.0 उद्देश्य

सांस्कृतिक मूल्य प्रायः चित्रकला और ललित कलाओं के माध्यम से प्रतिबिंबित होते हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद **आप** :

- सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में चित्रकला के विकास का उल्लेख कर सकेंगे,
- चित्रकला की विभिन्न शैलियों और तकनीकों पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- विभिन्न क्षेत्रों की चित्रकला में विषयगत परिवर्तनों का उल्लेख कर सकेंगे, और
- मुगल दरबार और अन्य प्रान्तीय राज्यों में संगीत, नृत्य और नाटक आदि ललित कलाओं के विकास को रेखांकित कर सकेंगे।

## 34.1 प्रस्तावना

16 वीं शताब्दी, खासकर इसके उतरार्द्ध में भारत में चित्रकला और संगीत के क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। अकबर ने अपने शासन के दौरान ललित कलाओं के विकास को उदारतापूर्वक प्रोत्साहित किया। उसके उत्तराधिकारियों ने भी इन कलाओं में गहन रुचि दिखाई और 17 वीं शताब्दी का अंत होते-होते मुगल दरबार में चित्रकला और संगीत अपने अभूतपूर्व उत्कर्ष पर पहुंच गया।

NMDC-268

इसके साथ-साथ दक्खन में मुगल प्रभाव से काफी कुछ स्वतंत्र चित्रकला और संगीत की एक अलग परम्परा विकसित हो रही थी। बाद में, 18 वीं शताब्दी में मुगल दरबार के स्थान पर राजस्थान और पंजाब जैसे क्षेत्रीय राज्य चित्रकला को संरक्षण देने लगे।

इस इकाई में हम चित्रकला और विभिन्न ललित कलाओं की इन विभिन्न परम्पराओं का अध्ययन करेंगे।

## 34.2 पृष्ठभूमि

**इस भाग में हम उस पृष्ठभूमि की चर्चा करेंगे जिसमें चित्रकला का अत्याधिक विकास हुआ।** विकास हुआ।

### 34.2.1 पन्द्रहवीं शताब्दी में चित्रकला

अभी तक यह विश्वास किया जाता था कि दिल्ली सल्तनत में चित्रकला का विकास नहीं हुआ और मुगल काल में तैयार हस्तलिखित दस्तावेजों में प्राप्त चित्रकला की परंपरा वस्तुतः कई शताब्दियों के बाद (दसवीं शताब्दी के अंत के बाद) पुनः प्रारंभ हुई। एक प्रकार से यह चित्रकला का पुनरुत्थान था। परन्तु नई खोजों और शोधों से कुछ नये तथ्य सामने आये हैं :

- 13 वीं और 14 वीं शताब्दियों में भित्ति चित्रों की और कपड़ों पर चित्रकारी करने की जीवंत परंपरा थी,
- 14 वीं शताब्दी तक **कुरान** की आयतों को चित्र रूप में प्रस्तुत करने की परंपरा साथ-साथ चल रही थी, और
- संभवतः 15 वीं शताब्दी के आरंभ में फारसी और अवधी भाषा की पांडूलिपियों में चित्रकारी की परम्परा की भी जानकारी मिलती है।

15 वीं और 16 वीं शताब्दी में तैयार की गई कई महत्वपूर्ण **पांडुलिपियों** की हमें जानकारी मिलती है जिनमें चित्र भी बने हैं। इनमें से कुछ कृतियां क्षेत्रीय राजाओं के दरबार में तैयार की गई थीं और कुछ का निर्माण स्वतंत्र संरक्षकों द्वारा करवाया गया था। पहली कोटि में निम्नलिखित की चर्चा की जा सकती है :

क) **सादी की बोस्तां** में हाजी महमूद के बनाए चित्र

ख) **'नेमत नामा'** (पाककला की पुस्तक) और

ग) मोहम्मद शादिआबादी कृत **मिफताह उल फ़ुज़ला।**

15 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मांडू **(मालवा) में इन पांडुलिपियों में चित्रों का समावेश** किया गया था। लोरे चंदा (अवधी) इस प्रकार की चित्रित पांडूलिपि का उत्तम उदाहरण है जिसका संबंध दरबार से नहीं था बल्कि इसे अपने संरक्षक के लिए तैयार किया गया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत में मुगलों के आगमन से ठीक पहले चित्रित **पांडुलिपियों** की परंपरा मौजूद थी। कागज के उपयोग के कारण इस प्रकार की चित्रकारी संभव हो सकी।

### 34.2.2 आरंभिक मुगलकालीन चित्रकला

भारत में मुगल शासन के संस्थापक बाबर (1526) ने केवल चार वर्षों तक राज्य किया। चित्रकला के विकास में उसका कोई योगदान नहीं रहा। उसके उत्तराधिकारी हुमायूं का भी अधिकांश समय अपने विरोधियों से लड़ते हुए बीता और 1540 में शेरशाह ने उसे भारत से बाहर खदेड़ दिया। अपने निष्कासन के दौरान वह ईरान के शाह **तहमस्प के दरबार में रहा** और वहीं चित्रकला के प्रति उसके रुझान का विकास हुआ। वह वहां की कला से इस कदर प्रभावित हुआ कि उसने ईरान के दो कलाकारों मीर सैयद अली और ख्वाजा अब्दुस समद से **अपने** लिए पांडूलिपियां तैयार करने के लिए निवेदन किया। भारत लौटने पर हुमायूं उन्हें अपने साथ लेता आया।

सादी का बोस्तान

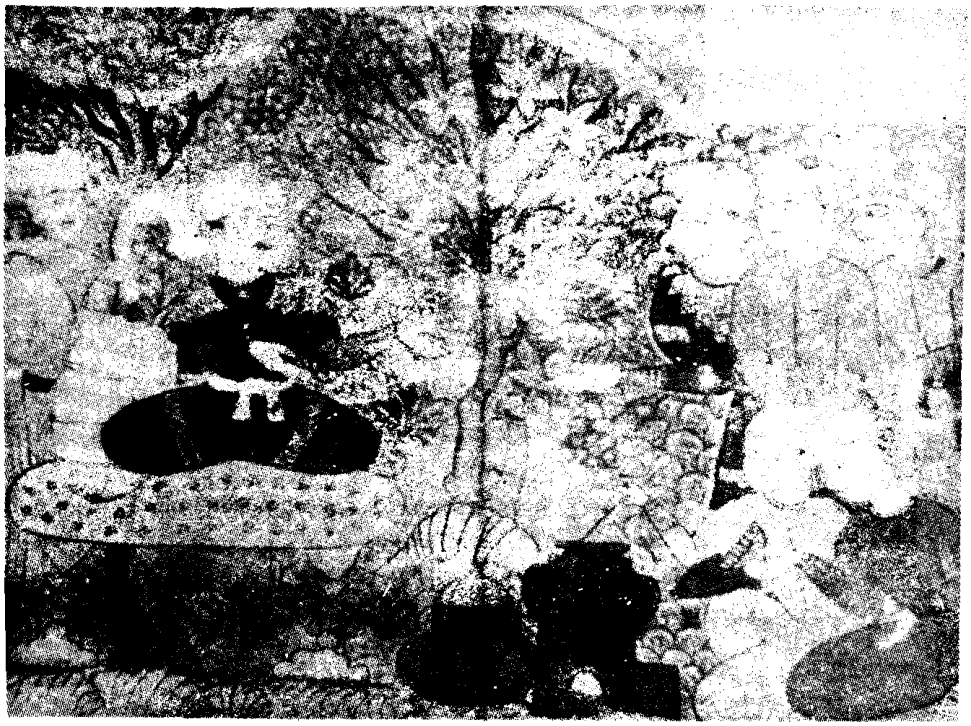

नेमतनामा

NMDC-268

UGHY-104/CSSHY-03/187

मुगलकालीन चित्रकला के विकास में हुमायूं का योगदान महत्वपूर्ण है। हुमायूं के शासनकाल में मुगल चित्रकला की कई महत्वपूर्ण विशेषताओं का उद्भव हुआ। **तैमूर घराने के** राजकुमार शीर्षक से बनाया गया चित्र हुमायूं के काल की अनुपम देन है। यह 1550 ई. के आसपास बनाया गया था। इसे कपड़े पर बनाया गया है। इसकी लंबाई 1.15 वर्ग मीटर है। ईरानी चित्रकला में भी इतना लंबा चित्र मिलना अपवाद था। ऐसा माना जाता है कि यह मंगोल परम्परा की देन है जिसमें वे अपने तम्बुओं पर चित्र बनाया करते थे।

## 34.3 अकबर के शासनकाल में मुगल शैली का विकास

अकबर का कलाओं के प्रति अत्याधिक रुझान था। मुगल चित्रकला का अन्य शैलियों से भिन्न एक अलग स्कूल के रूप में स्थान प्राप्त करना अकबर की इसी रुचि का परिणाम था।

**चित्रकला पर अकबर के विचार**

किसी चीज की प्रतिकृति बनाने को तस्वीर कहते हैं। महामहिम ने अपनी युवावस्था से ही इस कला के प्रति गहरी रुचि दिखाई थी और इसे सभी प्रकार का प्रोत्साहन दिया था, क्योंकि वे उसे अध्ययन के साथ-साथ तृप्ति का साधन भी मानते थे। इस प्रकार यह कला फलने-फूलने लगी और कई चित्रकारों ने खूब नाम कमाया। **दरोगा** और लिपिक महामहिम के समक्ष प्रत्येक सप्ताह विभिन्न चित्रकारों के चित्र पेश किया करते थे, उसके बाद वे (अकबर) उन्हें उनके कार्य के अनुसार पुरस्कार देते थे या वेतन में प्रतिमाह वृद्धि करते थे। चित्रकारी के लिए आवश्यक सामग्री में (इस समय) काफी प्रगति हुई। इन सामानों का मूल्य बड़ी सावधानी से आंका जाता था। रंग के मिश्रण की तकनीक में विशेष रूप से विकास हुआ था। इस प्रकार चित्रों की बनावट में अभूतपूर्व विकास हुआ। इस काल में बेहतरीन चित्रकार हुए और उनकी उत्कृष्ट कलाओं को यूरोप के **विश्वविख्यात** चित्रकारों की रचनाओं के समक्ष रखा जा सकता है। सूक्ष्मता से चित्रण, सुंदर बनावट और उन्मुक्त प्रस्तुति आदि से इस युग की चित्रकला अतुलनीय हो गई, चित्रकारों ने जड़ पदार्थ में भी जीवन डाल दिया। इस युग में सैंकड़ों चित्रकार चित्रकला के महारथी थे, अच्छे और उत्कृष्ट कलाकारों की संख्या काफी बड़ी थी। यह बात विशेषत: हिंदुओं के परिप्रेक्ष्य में सही है, उनके चित्र कल्पना के अनुपम नमूने हैं। पूरे विश्व में उन जैसे कम कलाकार ही पाए जाते हैं।

**स्रोत : (अबुल फ़ज़ल, आइन-ए अकबरी)**

### 34.3.1 राजकीय चित्रशाला की स्थापना

अकबर के शासनकाल में पहला प्रमुख पांडुलिपी चित्रण **हमजा नामा** की चित्रकारी थी। इसकी शुरुआत 1562 में हुई जिसके लिए कई दरबारी चित्रकार नियुक्त किए गए।

चित्रकारों के कार्य करने के स्थान को तस्वीर खाना कहा जाता था। हालांकि अबुल फज़ल ने केवल सत्रह कलाकारों का उल्लेख किया है, परन्तु हमारी जानकारी के अनुसार यह संख्या काफी बड़ी थी। एस.पी. वर्मा (**आर्ट एंड मैटीरियल कल्चर इन द पेंटिंग्स ऑफ अकबर्स कोर्ट** विकास प्रकाशन, नई दिल्ली 1978) ने अकबर की शिल्पशाला में काम करने वाले 225 कलाकारों की सूची तैयार की है। ये कलाकार कई जगहों से आए थे परन्तु इनमें हिंदुओं की संख्या अधिक थी। एक रोचक तथ्य यह है कि निम्न जाति के कलाकारों को भी उनकी प्रतिभा के आधार पर राजकीय कलाका का दर्जा दिया गया था। इस दृष्टि से पालकी ढोने वाले कहार के बेटे दसवंत का उल्लेख विशेष रूप से किया जाना चाहिए। कलाकारों की सहायता के लिए अनेक मुलम्मासाजी करने वाले और पृष्ठ तैयार करने वाले होते थे। कलाकार नक़द वेतन प्राप्त कर्मचारी थे। एस.पी. वर्मा का मानना है कि शिल्पशाला में न्यूनतम वेतन 600 से 1200 दाम (40 **दाम** = 1 रुपया) थी।

NMDC-268

कुछ चित्रों पर दो चित्रकारों के नाम पाए गए हैं। यहां तक कि कभी-कभी तीन चित्रकार मिलकर एक चित्र बनाते थे। **अकबरनामा** का एक चित्र चार चित्रकारों ने मिलकर बनाया था। इस प्रकार चित्रकला एक सामूहिक कार्य के रूप में भी सामने आती है। चित्र का आरेख निर्माण और रंगाई, चित्रकारों के दो अलग-अलग समूहों द्वारा की जाती थी। **जहाँ तीन कलाकार** काम कर रहे होते थे, वहां एक कलाकार बाहरी रूपरेखा बनाता था, दूसरा इसके चहेरे को और तीसरा बाकी हिस्से को रंगता था। हमें इस बात का पता नहीं है कि वह जटिल कार्य किस ढंग से सम्पन्न होता था। संभवत: इस प्रकार के दल में आरेखन और रंगाई अलग-अलग कलाकारों द्वारा की जाती होगी।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है लिपिकों की सहायता से **दरोगा** शिल्पशाला की देखरेख करता था। कलाकारों को चित्रकारी का सामान उपलब्ध कराना और उनके कार्य की प्रगति पर नजर रखना उसका मुख्य दायित्व था। **वह** समय-समय पर सम्राट के सामने कलाकारों की कृतियों को पेश किया करता था।

## 34.3.2 शैली और तकनीक

अकबर के दरबार में बनाए गए चित्र मुगल कला की प्रतिनिधि रचाएं हैं परन्तु इस कला की शैली और तकनीक में बराबर विकास होता रहा। आरंभिक चरण के चित्रों पर ईरानी प्रभाव स्पष्ट है, जिसकी मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

- सममिति संघटन,
- आकृतियों की प्रतिबंधित गतिशीलता,
- चित्रों की रेखाओं की उत्कृष्टता,
- स्थापत्यगत स्तंभों का सतही चित्रण, और
- भवनों का आलंकारिक चित्रण।

बाद में चित्रकला ने अपना एक विशेष स्वरूप निर्मित किया। मुगलकला का वह रूप ईरानी और भारतीय परम्पराओं से निर्मित हुआ जिसमें यूरोपीय प्रभाव की भी थोड़ी बहुत झलक देखने को मिलती है।

## 34.3.3 मूलभूत विशेषताएं

अकबर द्वारा शिल्पशाला स्थापित किए जाने के पन्द्रह वर्षों के भीतर मुगल शैली की अपनी पहचान बन गई। अगले एक दशक में अर्थात 1590 तक इसने एक विशेष स्वरूप ग्रहण कर लिया जिसकी प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं :

- प्रकृतिवाद और लय,
- प्रतिदिन प्रयोग किये जाने वाले भारतीय परिधानों का चित्रण,
- प्रमुख चित्र की पृष्ठभूमि में कई उप दृश्यों का चित्रण,
- अभूतपूर्व क्रियाशीलता तथा अत्याधिक गतिशीलता, तथा
- फूल-पत्तियों और पेड़-पौधों का अद्भुत चित्रण।

यहां इस तथ्य पर बल दिया जाना चाहिए कि अकबर के काल में निखरी चित्रकला में भारतीय और ईरानी शैली का तो समन्वय था ही साथ ही साथ इसकी अपनी मौलिकता भी थी। इन चित्रों में गति और क्रिया का विशेष महत्व है जो न तो भारतीय पूर्व मुगलकालीन कला में मिलता है और न ही ईरान में ही ऐसी कला का प्रचलन था (**आर्ट एंड कल्चर**, सं.ए.जे.कैसर और एस.पी.वर्मा, जयपुर, 1993)।

अकबर के काल में बने चित्र ऐतिहासिक विषयवस्तु के कारण फारसी परम्परा के साथ-साथ भारतीय शैली से भी अपनी विशिष्टता प्रदर्शित करते हैं। मुख्य रूप से प्रयुक्त दो विषयवस्तु हैं:

NMDC-268

तूतीनामा

तारीख-ए खानदान-ए तैमूरिया

बाबरनामा

NMDC-268

- दरबार की प्रतिदिन की घटनाओं का चित्रण, और
- छवि चित्रण।

हालांकि ईरान में छवि चित्रण बनाने की परम्परा थी परन्तु ऐतिहासिक घटनाओं के चित्रण का आयाम बिल्कुल नया था। घटना ऐतिहासिक हो या चित्रकार की शुद्ध कल्पना, शिकार या युद्ध के दृश्यों का अंकन करते समय चित्रकार एक बने बनाए सूत्र का प्रयोग करता था जैसा कि 1580 के आसपास चित्रांकित किए गए **तैमूरनामा** में किसी खास घटना का चित्रण करते हुए भी चित्रकार घटना से असंबद्ध दिखाई देता है। इसमें कलाकारों ने अपने मन में पूर्व स्थापित परिकल्पना के अनुसार किलों का आकार, नदी पार करने, दर्शकों अथवा युद्ध संबंधी दृश्यों का चित्रण किया है। **अकबरनामा** में भी कलाकारों ने इन दृश्यों की नकल की है या उन्हें अपने अनुसार ढ़ाल लिया है। कोई दृश्य पहले से उपलब्ध न होने की स्थिति में चित्रकार ही एक दृश्य की योजना करता प्रतीत होता है और कुछ चित्रकार इस प्रकार के नूतन प्रयोग करने में सक्षम दिखाई देते हैं।

हमने यहां ऐतिहासिक क्रम में इस काल में चित्रांकित प्रमुख ग्रंथों का उल्लेख किया है।

| ग्रंथ | तिथि |
|---|---|
| **हमजानामा** | : लगभग 1562-1580 ई. |
| **अनवार ए सुहेली** | : 1570 ई. |
| **तूतीनामा** | : लगभग 1570-1580 ई. |
| **तारीख ए खानदान ए तैमूरिया** | : **लगभग 1570-1590 ई.** |
| **बाबरनामा** | : **लगभग 1570-1600 ई.** |
| **अकबरनामा** | : **लगभग 1570-1600 ई.** |
| **तारीख ए अल्फी** | : **रज़्मनामा : पांडव दरबार लगभग 1570-1600 ई.** |
| **रज्मनामा** | : 1582 ई. |

NMDC-268

अकबरनामा : इमारत का निरीक्षण करते हुए सम्राट अकबर

## बोध प्रश्न 1

1) आरंभिक मुगल शासकों के अधीन चित्रकला के विकास पर 50 शब्दों में टिप्पणी कीजिए?

.....
.....
.....
.....
.....

2) राजकीय शिल्पशाला में चित्रकारों द्वारा सामूहिक चित्रण की अवधारणा का वर्णन कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....

3) मुगलकालीन शैली की चार विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

.....
.....
.....

## 34.4 जहांगीर और शाहजहां के शासनकाल में विकास

जहांगीर और शाहजहां के काल में मुगलकालीन चित्रकला अपने उत्कर्ष पर पहुंच गई। जहांगीर जब राजकुमार था तब से ही वह चित्रकारी में रुचि रखता था। अकबर की विशाल शिल्पशाला से अलग उसकी अपनी चित्रशाला थी। जहांगीर शिकार के दृश्यों, पक्षियों और फूलों की चित्रकारी पसंद करता था। उसने छवि चित्रण की परम्परा भी जारी रखी। शाहजहां के समय की चित्रकारी में रंगों की चमक बढ़ गई और अलंकरण के लिए सोने का उपयोग होने लगा। आगे आने वाले उपभागों में हम जहांगीर और शाहजहां के शासनकाल में मुगल चित्रकला की नयी शैलियों और विषयगत विविधताओं का अध्ययन करेंगे।

### 34.4.1 नई शैलियों का उदय

जहांगीर के शासनकाल (1605-27) में छवि चित्रण की तुलना में **पांडुलिपि** चित्रण का महत्व कम हो गया। एम.सी.बीच (**मुगल एंड राजपूत पेंटिंग, कैम्ब्रीज विश्वविद्यालय प्रेस**, 1992) के अनुसार जहांगीर चित्रकारी में व्यक्तिगत रुचि लेता था और उसका हस्तक्षेप राजकीय चित्रशाला के कार्यकलापों में भी था। स्पष्टतः कला संबंधी निर्णय स्वयं सम्राट के होते थे। परिणामस्वरूप चित्रकला में वह अपने द्वारा प्रतिपादित शैली का समावेश कर सका। 17 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मुगल चित्रकला की शैली में दो नये तत्व शामिल हुए, ये इस प्रकार हैं।

- जहांगीर की चित्रकला में रूपवादी शैली की प्रधानता है। इसमें चित्र को यथार्थवादी बनाने और समकालीन यथार्थ को हू-ब-हू चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है।
- इस काल के चित्रों में चौड़े हाशिए का प्रयोग किया गया, जिन्हें फूल-पत्तियों, पेड़ पौधों और मनुष्य की आकृतियों से भव्य रूप में अलंकृत किया गया है।

### 34.4.2 विषयगत भिन्नताएं

जहांगीर प्रकृति प्रेमी था। जब भी वह अनूठे जानवर या पक्षी देखता था तो उसका कलाकार मन तत्काल उसे चित्रित **कराने** के लिए बेचैन हो उठता था। उसके जमाने में पक्षियों और पशुओं का बड़ा ही जीवंत चित्रण हुआ है।

शाहजहां स्थापत्य कला का महान संरक्षक था, परन्तु उसने चित्रकला की भी उपेक्षा नहीं की। उसके समय में भी छवि चित्रण बनाये जाते थे, चित्रों का संग्रह तैयार किया जाता था और पांडूलिपि चित्रण बनाये जाते थे। इसके अलावा प्रणय दृश्यों और महिलाओं के चित्र भी बनने लगे। इस **काल** की चित्रकला में पशु के अध्यारोपण और कलाबाजी के दृश्यों को भी स्थान मिला।

जहाँगीर का छवि चित्र

शाहजहाँ का छवि चित्र

NMDC-268

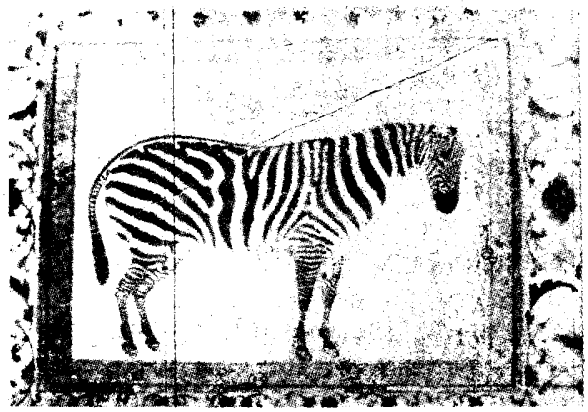

प्राकृतिक चित्रकला : मंसूर द्वारा चित्रित ज़ीब्रा

### 34.4.3 अंतिम चरण

शाहजहां के उत्तराधिकारी औरंगजेब के काल में कलाएं उपेक्षित रहीं। चित्रकारी पूरी तरह रुकी नहीं परन्तु इसे सम्राट का संरक्षण प्राप्त होना समाप्त हो गया और उसका क्षेत्रवादी स्वरूप सीमित हो गया। राजपूत राजाओं के दरबारों में कुलीनों और उनके संबंधियों के छवि चित्रण बनाए जाते रहे। चित्रकला संबंधी राजपूतों के अनेक दस्तावेज (**तस्वीरखाना** दस्तावेज) राजस्थान के राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में आज भी उपलब्ध हैं। वहां मुगल सम्राट के अभियान संबंधी कुछ रोचक चित्र रखे हुए हैं। इन चित्रों में चित्रकार की कला उत्तम है परन्तु अब चित्रकारी औपचारिकता मात्र रह गई और उसमें पहली जैसी जीवंतता नहीं रह गई।

बाद में मौहम्मद शाह (1719-48 ई.) के शासनकाल में प्रणय के आकर्षक दृश्यों की चित्रकारी शुरू हुई। परन्तु इस समय तक राजकीय चित्रशाला के अधिकांश चित्रकार प्रांतीय शासकों के दरबारों में जा चुके थे। मुगल कला के पतन से प्रांतीय शैली को लाभ पहुंचा।

## 34.5 मुगल चित्रकला पर यूरोप का प्रभाव

इस इकाई में पहले ही मुगल चित्रकला की मिली-जुली प्रकृति का उल्लेख किया जा चुका है। अपने बाद के चरण में, विशेषकर 17 वीं शताब्दी के दौरान मुगल चित्रकला पर यूरोपीय कला का प्रभाव दिखाई देता है। मुगल चित्रकारों ने यूरोप की चित्रकला से विषयवस्तु के साथ-साथ तकनीक को भी अपनाया। ए.जे.कैसर के अनुसार मुगल चित्रकार यूरोपीय चित्रकला की नकल किया करते थे और कभी-कभी इसे पुनर्व्याख्यायित भी किया करते थे। इसके साथ-साथ यूरोप के चित्रकारों के चित्रों के संग्रह जहांगीर, दाराशिकोह और कई मुगल कुलीनों के पास मौजूद थे (ए.जे. कैसर, **इंडियन रेसपोंस टु यूरोपीयन टेक्नॉलाजी एंड कल्चर**, 1982)।

यूरोपीय चित्र जब मुगल दरबार में लाये गए तो आरंभ में बहुत से चित्रकार इसकी नकल करने की ओर प्रवृत हुए। समकालीन यूरोपीय यात्री बताते हैं कि इस प्रकार की नकल में एक प्रकार की सहजता थी। परन्तु मुगल चित्रकारों ने यूरोपीय चित्रकला की विषयवस्तु को अपनाकर नए प्रयोग भी किए।

मुगल चित्रकला में त्रिआयामी चित्रों का भी विशेष महत्व है। स्पष्टतया इन पर यूरोपीय तकनीक का प्रभाव है। मुगल चित्रकारों ने यूरोपीय चित्रकला के प्रकाश और छाया के प्रभाव को अंकित करने की शैली भी अपनाई। इनका उपयोग अधिकतर रात के दृश्यों के अंकन के लिए होता था। प्रभा मंडल, परों वाले देवदूत और गरजते बादलों का अंकन भी यूरोपीय चित्रकला के प्रभाव का प्रतिफलन था। परन्तु यूरोप की महत्वपूर्ण तैल चित्रकला की तकनीक की ओर मुगल आकृष्ट नहीं हुए। अतैव इस काल में तैल चित्रों का सर्वथा अभाव रहा।

**बोध प्रश्न 2**

1) 17 वीं शताब्दी के दौरान मुगल चित्रकला में हुए विषयगत परिवर्तनों का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) किस मुगल शासक एवं राजकुमार ने यूरोपीय चित्रों का संग्रह बनाया था?

.....

.....

.....

.....

3) मुगल चित्रकारों ने यूरोपीय चित्रकला के किन-किन भावों को अपनाया?

.....

.....

.....

.....

मुगल शैली पर यूरोपीय प्रभाव

## 34.6 दक्खन में चित्रकला

मुगल चित्रकला के विकास से पहले ही 13 वीं शताब्दी के अंत में दक्खन में अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुंडा राज्यों में चित्रकला की एक विशिष्ट शैली का उदय हो चुका था। परन्तु दक्खनी राज्यों में विकसित इस चित्रकला को 16 वीं शताब्दी में सबसे ज्यादा संरक्षण प्राप्त हुआ। 17 वीं शताब्दी में ही मुगल परंपरा के प्रभाव में यह दक्खनी शैली अपने उत्कर्ष पर पहुंच गई। यहां हम 16 वीं-17 वीं शताब्दी में दक्खनी चित्रकला के विकास को समझने का प्रयास करेंगे।

### 34.6.1 दरबारी संरक्षण

बहमनी राज्य के उत्तराधिकारी राज्यों ने चित्रकला को विशेष संरक्षण प्रदान किया। इन राज्यों के तहत की गई आरंभिक चित्रकारी 1565-69 के बीच के काल की है। इस चित्रकला के नमूने हमें **तारीफ़-ए-हुसैन शाही** के चित्रण में मिलते हैं जिसका निर्माण और चित्रण अहमदनगर में किया गया था। इसी समय बीजापुर में 1570 ई. के आसपास एक और दक्खनी पाण्डुलिपि का निर्माण और चित्रण हुआ। यह चित्रित पुस्तक **नुजूम-उल-उलूम** है। संभवतः इसका निर्माण अली आदिल शाह के संरक्षण में हुआ, जिसके दरबार में अनेक चित्रकार कार्यरत थे। लेकिन बीजापुर की परंपरा में और संभवतः बहमनी राज्य के सभी उत्तराधिकारी राज्यों के शासकों में इब्राहिम आदिल शाह (1580-1627) का नाम सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है जो स्वंय एक सिद्ध चित्रकार था। 16 वीं शताब्दी के अंत में अहमदनगर

NMDC-268

और बीजापुर में रागमाला के नाम से चित्रकला की एक नयी परम्परा का उदय हुआ। इब्राहिम आदिल शाह के संरक्षण में यह परम्परा अपने उत्कर्ष पर पहुंच गई।

दक्खनी चित्रकला का एक और प्रकार विकसित हुआ जिसमें राजकीय जुलूसों को भव्यता के साथ प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार के कई चित्र गोलकुंडा के अब्दुल्ला कुतुब शाह (1626-72 ई.) के काल तक मिलते हैं।

18 वीं शताब्दी में हैदराबाद के आसफ जाही राजवंश के संरक्षण में दक्खनी चित्रकला फली-फूली। पक्षी का शिकार कर लौटते हुए और गोलकुंडा किले के समीप अपने खुशनुमा बगीचे में जाते आजम शाह और निजाम के दरबार के एक कुलीन हिक्मतयार खां का अपना चित्र संग्रह आदि, हैदराबाद की दक्खनी चित्रकारी के कुछ ज्वलंत उदाहरण हैं।

## 34.6.2 शैली और विषय

दक्खनी परम्परा के निर्माण के क्रम में उस पर कई परम्पराओं का प्रभाव पड़ा। दक्खनी राज्यों के कई शासक ईरानी चित्रकला के प्रशंसक थे और उनके पास चित्रों के अच्छे संग्रह थे। अतः उनके दरबारों में की गई चित्रकारी पर ईरानी शैली का प्रभाव स्पष्ट है। परन्तु यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रभाव को ग्रहण करने में कोई एकरूपता और अनुशासन नहीं था। परिणामस्वरूप ईरानी चित्रकला के कई गुणों की बारीकी इनमें नहीं आ पाई। दक्खनी चित्रकला पर मुगल चित्रकला का भी प्रभाव था। दक्खनी और मुगल परम्पराओं के बीच संपर्क कई तरह से स्थापित हुआ। दोनों दरबारों के बीच चित्रकारों के साथ-साथ चित्रों का भी आदान-प्रदान हुआ।

दक्खनी चित्रकला पर बाहरी तत्वों का प्रभाव था परन्तु केवल इसी के आधार पर इनका मूल्यांकन करना संगत नहीं है। दक्खनी चित्रकला के सर्वश्रेष्ठ नमूनों में बाहरी तत्वों के समावेश के फलस्वरूप दर्शन का पुट तथा मौलिकता स्पष्टतः दिखाई देती है। दक्खनी चित्रकला की कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं :

- क्रमिक संरचना अर्थात मुख्य आकृति गौण आकृतियों से बड़ी होती थी,
- रंगपट्टिका की सम्पन्नता जिसमें सफेद और सुनहरे रंगों का उपयोग किया जाता था, ऐसा उदाहरण अन्य भारतीय लघु चित्रों में नहीं मिलता है,
- खास गहनों, जैसे हार की पट्टिका का चित्रण,
- खासकर नारी चित्रों के निर्माण में कमरबंद और दुपट्टे में अतिश्योक्तिपूर्ण भंवर, तथा
- विभिन्न कोणों का निर्माण इस प्रकार किया जाता था कि मुख्य आकृति के चारों ओर मेहराब बन जाती थी।

रागमाला चित्रकला : तोड़ी रागिनी : दक्खन शैली

रागमाला चित्रकला : भैरव रागिनी : पूजा करती हुई स्त्री

## 34.7 राजपूत चित्रकला

राजस्थानी चित्रकला का सौन्दर्य बोध भिन्न था। आनन्द के. कुमारस्वामी के अनुसार इस शैली का उदय पूर्ववर्ती प्राक तुर्की परम्पराओं से हुआ और 1600 ई. के आसपास यह अपनी सम्पूर्णता पर पहुंच गया। आरंभ में इसने व्यापक जीवंतता का परिचय दिया हालांकि बाद में इसने मुगल प्रभाव को ग्रहण कर लिया। मुगल सत्ता के बिखरने के बाद यह पुनर्जीवित हुआ और विभिन्न राजपूत राज्यों के संरक्षण में फलने-फूलने लगा। आगे हम राजस्थानी कला की मुख्य शैली और विषयों के साथ-साथ 17 वीं-18 वीं शताब्दी के दौरान इसके कला केन्द्रों की भी जानकारी प्राप्त करेंगे।

### 34.7.1 शैली और विषय

आरंभ से ही राजस्थानी चित्रकला में प्रकृति चित्रण का विशेष महत्व रहा। चित्रों में मुख्य भूमिका प्रकृति की ही होती थी, मनुष्य पूरक के रूप में होता था। इन चित्रों में चित्रित प्रकृति के मुख्य तत्व इस प्रकार हैं :

- विभिन्न प्रकार के पेड़;
- सघन पुष्प गुच्छों का चित्रण;
- गाते पक्षी और उछल-कूद करते पशु;
- कमल के फूल से आप्लवित नदियां; और
- नीले आसमान से गिरती वर्षा की बूंदे।

रंगों की बहुलता राजस्थानी चित्रकला की महत्वपूर्ण विशेषता है। बादलों के लिए नीला रंग, कड़कती बिजली के स्वर्णिम रंग, और वनस्पति के लिए हरे रंग का उपयोग किया जाता था। इस क्षेत्र के चित्रकारों ने मुख्य रूप से निम्नलिखित विषयों का चुनाव अपने चित्रण में किया है :

- शिकार का दृश्य;
- छवि चित्रण; और
- संगीत की ऋतुएं।

17वीं शताब्दी की राजस्थानी चित्रकला में चित्रों को विभिन्न खानों में बांटा जाता था जिसमें स्थान विशेष को विकल कोणों और झुकानों में विभक्त किया जाता था और इनका उपयोग आकृतियों और समूहों के रूप में होता था।

### 34.7.2 मुख्य केन्द्र

क) **मेवाड़ स्कूल** : राजस्थानी चित्रकारों के समूह में निसारदीन (1606 ई.) का घराना सर्वप्रथम घराना माना जाता है। बाद में साहिबदीन ने 1627 और 1648 ई. के बीच इसी परम्परा को आगे बढ़ाया। इस काल में मेवाड़ स्कूल अपने उत्कर्ष पर पहुंच गया। सैंकड़ों की तादाद में चित्र श्रृंखलाएं बनाई गईं जिनमें मिथकों के साथ-साथ जीवन के व्यापक आयामों का चित्रण किया गया। जगत सिंह प्रथम (1628-52 ई.) के संरक्षण में **नायक भेद नामक** लंबी चित्र श्रृंखला बनाई गई। कई चित्रकारों ने मिलकर इस काव्यात्मक और भावनात्मक शैली में प्रस्तुत किया। परन्तु अगले पचास वर्षों में मेवाड़ की कला में मुगल कला का प्रभाव बढ़ता गया और यह नीचे दबती चली गई।

ख) **बूंदी स्कूल** : इसका इतिहास भी समानान्तर रूप से चलता है। परन्तु इसके इतिहास में (1620-35 ई. और 1680-1700 ई.) इन दो कालों का विशेष महत्व है। 18वीं शताब्दी के दौरान बूंदी कला में एक नया मोड़ आया। हालांकि विषय और तकनीक में यहां मुगल

NMDC-268

मेवाड शैली

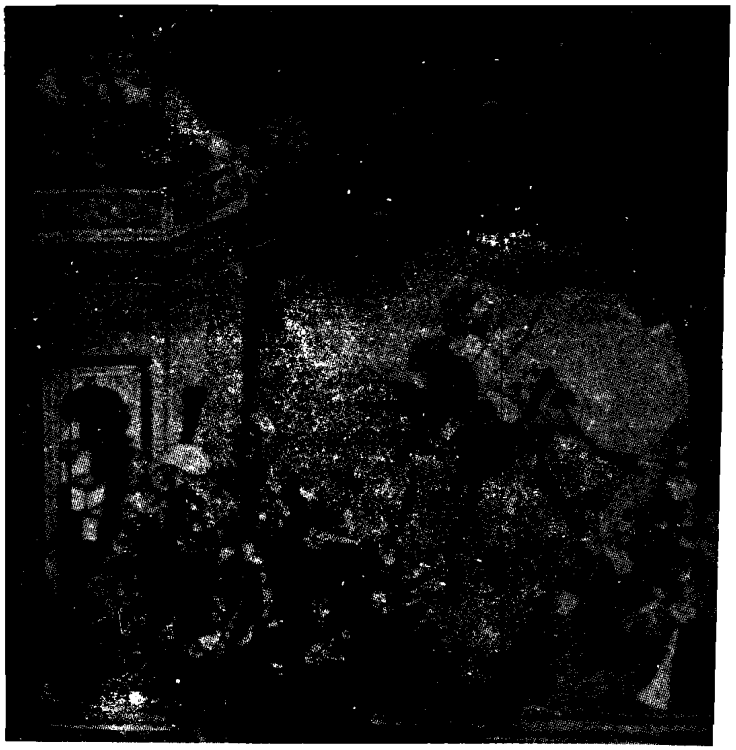

बूंदी शैली

NMDC-268

कला का अनुसरण ही किया गया परन्तु अभिव्यक्ति शैली इनकी अपनी रही। नारी के सौंदर्य चित्रण पर विशेष बल दिया जाने लगा।

ग) **किशनगढ़ स्कूल** : किशनगढ़ स्कूल में संगीतबद्धता और संवेदनात्मकता थी। 18वीं शताब्दी के प्रारंब्ध (1699-1764 ई.) में नागरी दास के नाम से प्रसिद्ध महाराजा सांवत सिंह ने इसे प्रोत्साहन दिया। हालांकि राजस्थान के सभी दरबारों में पनपी चित्रकलाओं पर मुगल काल का प्रभाव था परन्तु किशनगढ़ की कला में हिन्दु भक्ति का तत्व बचा रहा। सांवत सिंह के संरक्षण में राधा-कृष्ण के प्रेम को आधार बनाकर अनेक चित्र बनाए गए। किशनगढ़ के चित्रों में कुशल कलाकार निहाल चंद के चित्र अनुपम हैं। किशनगढ़ की नारी की तीखी नाक, गोल आंखे और धनुषाकार मुख के चित्रण से राजस्थानी चित्रकला में एक नई परम्परा का आरंभ हुआ।

किशनगढ़ शैली

## 34.8 मुगलकालीन ललित कलाएं

16 वीं-18 वीं शताब्दी में मुगलों के द्वारा शासित क्षेत्र की अपेक्षा प्रान्तीय क्षेत्रों में ललित कला का ज्यादा विकास हुआ। परन्तु ललित कलाओं के ऐतिहासिक विकास की सूचना कम ही मिलती है। आगे जो वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है वह इधर-उधर बिखरी छुट-पुट सूचनाओं पर आधारित है।

### 34.8.1 संगीत

इस काल में क्षेत्रीय राज्य संगीत अध्ययन और विकास के केन्द्र बन गए। दक्षिण भारत में 16 वीं शताब्दी के आसपास जनक और जन्य रागों जैसे मूल और मूलाश्रित रागों का प्रचलन था। इसका सर्वप्रथम उल्लेख **स्वरमेल कलानिधि** नामक ग्रंथ से मिलता है। इसका लेखन 1550 ई. में कोडबिदु (आन्ध प्रदेश) के रामामात्य नामक लेखक ने किया था। इसमें 20 **जनक** और 64 **जन्य** रागों का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् सोमनाथ ने 1609 ई. में **रागविबोध** की रचना की जिसमें उत्तर भारत की कुछ शैलियों का समावेश किया गया है। 17 वीं शताब्दी के मध्य में तंजाउर में बेंकटामकिन ने **चतुरबंडी** प्रकाशिका नामक एक प्रमुख विवेचना संगीत पर लिखी (लगभग 1650 ई.)। यह पुस्तक कर्नाटक संगीत का आधार

NMDC-288

ग्रंथ बन गई। उत्तर भारत का संगीत मुख्यतः भक्ति आंदोलन से प्रभावित था। 16 वीं शताब्दी के संत कवियों की रचनाएं अधिकांशतः संगीत पर आधारित होती थीं। स्वामी हरिदास ने वृंदावन में संगीत को खूब बढ़ावा दिया उन्हें अकबर के प्रसिद्ध दरबारी संगीतकार तानसेन का गुरु भी माना जाता है। तानसेन स्वयं उत्तर भारतीय संगीत का महान उद्गाता था। उसे **मियां की मल्हार, मियां की तोडी,** और **दरबारी** जैसे कुछ प्रमुख रागों का जन्मदाता माना जाता है। ग्वालियर के राजा मान सिंह (1486-1517 ई.) ने उत्तर भारत के संगीत की एक प्रमुख शैली ध्रुपद के विकास और परिष्कार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

18 वीं शताब्दी में मुगल सम्राट मौहम्मद शाह के दरबार में संगीत की उत्तर भारतीय शैली को अद्भुत प्रोत्साहन मिला। उसके दरबार के दो संगीतकार, सदारंग और अदारंग **ख्याल** गायकी के महान प्रवर्तक थे। इसी समय **तराना, दादरा** और ग़ज़ल जैसे संगीत के नए रूप सामने आए। इसके अतिरिक्त दरबारी संगीत में लोक संगीत को भी शामिल किया गया। इस श्रेणी में **ठुमरी** और टप्पा का उल्लेख किया जा सकता है। **ठुमरी** में लोक संगीत के मानदंडों का उपयोग होता है और **टप्पा** पंजाब के ऊँटवानों द्वारा गाये जाने वाले संगीत से विकसित हुआ।

एक बात गौर करने की है कि दक्षिण संगीत काफी कुछ नियमबद्ध और ग्रंथाधारित था परन्तु उत्तर भारतीय संगीत में इस परंपरा का अभाव होने से इसमें काफी स्वच्छंदता पाई जाती थी। इस कारण उत्तर भारत में विभिन्न रागों को मिला कर अनेक प्रयोग किए गए। आज भी उत्तर भारतीय संगीत में यह उदारता मौजूद है।

### 34.8.2 नृत्य और नाटक

मध्यकालीन नृत्य और नाटक के संबंध में तत्कालीन ग्रंथों में बहुत कम वर्णन मिलता है। संगीत, नृत्य और नाटक तथा सृजनात्मक साहित्य की प्रमुख पुस्तकें भारत की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में मुख्य स्रोत के रूप में उपलब्ध हैं।

इससे संबंधित पुस्तकें मुख्य रूप से उड़ीसा, दक्षिण भारत और मुगल सम्राट मौहम्मद शाह के दरबार में संग्रहीत की गईं। उड़ीसा में 17 वीं शताब्दी के दौरान महेश्वर महापात्र और रघुनाथ द्वारा क्रमशः दो पुस्तकें **अभिनय चंद्रिका** और **संगीत दामोदर** की रचना की गई। दक्षिण भारत में **आदि भारतम, भारत रत्नय**, तुलाजराजा (1729-1735 ई.) कृत **नाटयवेदागम्** और बालराम बरमन (1753-1798 ई.) कृत **बलराम भारतम्** प्रमुख ग्रंथ हैं। मौहम्मद शाह के दरबार में नृत्य और संगीत पर **संगीत मलिका** नामक ग्रंथ लिखा गया।

**बोध प्रश्न 3**

1) दक्खनी चित्रकला की मुख्य विषयवस्तु पर 50 शब्दों में टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) राजस्थानी चित्रकला में चित्रित प्रकृति-चित्रण के तीन तत्वों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) राजपूत चित्रकला के दो प्रमुख संरक्षण केन्द्रों का नाम बताइए?

NMDC-268

.....

.....

.....

.....

.....

## 34.9 सारांश

इस इकाई में आपने मुगलों के अधीन चित्रकला और ललितकला के विकास का अध्ययन किया। इस काल की कलाओं में कई प्रकार के तत्वों का मिश्रण हुआ। चित्रों में ईरानी प्रभाव के साथ-साथ देशी परम्पराओं का भी उपयोग हुआ। 17 वीं शताब्दी के दौरान इस पर यूरोपीय चित्रकला का भी प्रभाव पड़ा।

संगीत, नृत्य और नाटक को भी राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। तानसेन ने अकबर के दरबार की शोभा बढ़ाई और संगीत को असीम ऊंचाई तक पहुंचा दिया। तुलनात्मक दृष्टि से इस काल में नृत्य और नाटक का विकास आरंभिक अवस्था में था।

## 34.10 शब्दावली

**भित्ति चित्र** : दीवार पर बने चित्र।

**पट्टिका** : चित्रकारी के लिए चित्रकार द्वारा रंग रखने और मिलाने के लिए उपयोग की जाने वाली चौकोर पट्टिका।

**आरेख** : रेखा चित्र।

**मुलम्मासाज** : चित्रों के ऊपर सोने की एक लगभग पारदर्शी परत चढ़ाने वाले।

**छवि चित्रण** : विशिष्ट व्यक्तियों के चेहरे अथवा आदमकद शरीर का चित्रण।

## 34.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) देखिए उपभाग 34.2.2
2) देखिए उपभाग 34.3.1
3) देखिए उपभाग 34.3.3

**बोध प्रश्न 2**

1) देखिए उपभाग 34.4.2
2) जहांगीर और दारा शिकोह। देखिए भाग 34.5
3) प्रभामंडल, परों वाले देवदूत और गरजते बादल। देखिए भाग 34.5

**बोध प्रश्न 3**

1) देखिए उपभाग 34.6.2
2) देखिए उपभाग 34.7.1
3) उदाहरणस्वरूप मेवाड़ और बूंदी। देखिए उपभाग 34.7.2

## इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें


| | | |
|---|---|---|
| इरफान हबीब (संपादक) | : | **मध्यकालीन भारत**, प्रथम भाग |
| के.ए. नीलकंठ शास्त्री | : | **दक्षिण भारत का इतिहास** |
| जी.डी. शर्मा | : | **मध्यकालीन भारतीय सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक संस्थाएं** |
| ए.जे. कैसर | : | **इंडियन रेस्पांस टु यूरोपियन टैक्नॉलोजी** |
| पर्सी ब्राउन | : | **इंडियन पेंटिंग्स** |
| एम.बी. बीच | : | **मुगल एंड राजपूत पेंटिंग्स** |
| एस.पी. वर्मा | : | **आर्ट एंड मैटीरियल कल्चर इन द पेंटिंग्स ऑफ अकबर्स कोर्ट।** |


NMDC-268

Uttar Pradesh Rajarshi Tandon
Open University

# UGHY -104 /CSSHY-03

## भारत : 16 वीं से 18 वीं शताब्दी के मध्य तक

खंड

# 4

## 18वीं शताब्दी के मध्य का भारत


इकाई 35
मुगल साम्राज्य का पतन 207

इकाई 36
क्षेत्रीय शक्तियों का उदय 216

इकाई 37
आर्थिक विकास की संभावनाएँ : अवलोकन 225

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें 230

## विशेषज्ञ समिति

प्रो. के.एन. पणिक्कर (अध्यक्ष)
प्रो. बी.डी. चट्टोपाध्याय
प्रो. एस. भट्टाचार्य
इतिहास अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. द्विजेन्द्र त्रिपाठी
भारतीय मैनेजमेंट इंस्टीट्यूट, अहमदाबाद

प्रो. ए.जे. सैयद
इतिहास विभाग
बंबई विश्वविद्यालय, बंबई

प्रो. सुधीर चंद्र
सामाजिक अध्ययन केंद्र, सूरत

प्रो. अनिरुद्ध रे
इस्लामी इतिहास तथा संस्कृति विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता

प्रो. ज्ञान पांडेय
इतिहास विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. आलोका पराशर सेन
इतिहास विभाग
हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

डॉ. अहमद रज़ा खान
इ.गां.रा.मु.वि.

प्रो. कपिल कुमार (संयोजक)
इ.गां.रा.मु.वि.

## पाठ्यक्रम समिति

डा. ए.आर. खां
डा. आभा सिंह } पाठ्यक्रम संयोजक
सुश्री संगीता पांडे

## खंड निर्माण समिति

| इकाई सं. | लेखक | संकाय सदस्य |
|---|---|---|
| 35 | डॉ. सीमा अल्वी<br>सेन्टर फॉर हिस्टौरिकल स्टडीज<br>जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली | इ.गां.रा.मु.वि.<br>डॉ. रविन्द्र कुमार |
| 36 | डॉ. स्वराज बासु<br>सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ<br>इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली | डॉ. आभा सिंह |
| 37 | प्रो. ए. जान कैसर<br>इतिहास विभाग<br>अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ | डॉ. ए.आर. खाँ |

**पाठ्यक्रम संपादक**

प्रो. ए. जान कैसर
इतिहास विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

## अनुवाद

श्रीमती सीमा कुमारी

संकाय सदस्य
इ.गां.रा.मु.वि.
अहमद रज़ा खाँ
डॉ. आभा सिंह
सुश्री संगीता पांडे

## सामग्री निर्माण

प्रोफेसर पांडव नायक
निदेशक
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

*मई, 1998 (पुनः मुद्रित)*
*© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1989*

ISBN 81-7263-617-2
*सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन के पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।*

NMDC-268

# खण्ड 9 18वीं शताब्दी के मध्य का भारत

यह आपके ऐच्छिक पाठ्यक्रम-04 का अंतिम खंड है। इसमें केवल तीन इकाइयाँ हैं।

**इकाई 35** में मुगल साम्राज्य के पतन के प्रश्न पर आलोचनात्मक रूप में विचार किया गया है। आप यह महसूस करेंगे कि विद्वान पतन के कारणों को लेकर आपस में सहमत नहीं हैं और पतन के कारणों की विभिन्न दृष्टिकोणों से छानबीन करते हैं। कई विद्वानों ने अपनी वैचारिक सीमाओं और व्यक्तिगत दृष्टिकोण के कारण कई प्रकार के अनुमान विकसित किए हैं। यह एक महत्वपूर्ण विषय है और हमें विश्वास है कि आप इसे पढ़कर लाभप्रद होंगे।

**इकाई 36,** इकाई 35 को आगे बढ़ाती है। इसमें मुगल साम्राज्य की कमजोर होती शक्ति एवं अन्य कारणों के आलोक में क्षेत्रीय शक्तियों के उदय को प्रस्तुत किया गया है।

**इकाई 37** में आपको एक अन्य विवादास्पद विषय से परिचित कराया गया है। इसमें इस बात पर विचार किया गया है कि मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में पूंजीवादी विकास की क्षमता थी या नहीं। दूसरे शब्दों में, क्या मध्यकालीन भारत अपने बलबूते पर सामंतवादी नौकरशाही ढाँचे को एक नए पूंजीवादी सामाजिक संबंधों में परिणत कर सकता था।

NMDC-268

NMDC-268

# इकाई 35 मुगल साम्राज्य का पतन

**इकाई की रूपरेखा**


35.0 उद्देश्य
35.1 प्रस्तावना
35.2 साम्राज्य-केंद्रित दृष्टिकोण
  35.2.1 जागीरदारी संकट
  35.2.2 कृषि व्यवस्था का संकट
  35.2.3 "संकट" का पुनर्परीक्षण
35.3 क्षेत्र-केंद्रित दृष्टिकोण
  35.3.1 केंद्र-क्षेत्र संबंध
  35.3.2 क्षेत्रीय राजनीति का स्वरूप
  35.3.3 अवलोकन
35.4 सारांश
35.5 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 35.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य :

- आपको मुगल साम्राज्य के पतन से संबंधित प्रश्न से समग्र रूप में परिचित कराना है।
- मुगल साम्राज्य के पतन के विषय में मध्यकालीन भारत के विशेषज्ञों के विभिन्न दृष्टिकोणों के विषय में भी आप जान सकेंगे।

## 35.1 प्रस्तावना

लगभग तीन शताब्दियों तक भारत के काफी बड़े भूभाग पर मुगल साम्राज्य का वर्चस्व बना रहा, पर अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इसकी शक्ति और प्रतिष्ठा में तेजी के साथ गिरावट आई। केवल साम्राज्य की राजनैतिक सीमाएँ ही कम नहीं हुई बल्कि अकबर और शाहजहाँ द्वारा परिश्रमपूर्वक खड़ी की गई पूरी प्रशासनिक संरचना भी चरमरा गई। मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही साम्राज्य के सभी भागों में स्वतंत्र राज्यों का उदय हो गया।

मुगल साम्राज्य के पतन और क्षेत्रीय राज्यों के उदय की प्रक्रिया को लेकर इतिहासकारों में खूब बहस चली है। मुगल इतिहास के किसी अन्य पक्ष के मुकाबले इस मुद्दे पर विद्वानों के बीच सबसे ज्यादा मतभेद हैं। मुगल साम्राज्य के पतन संबंधी ऐतिहासिक दृष्टिकोण को दो मुख्य हिस्सों में विभाजित किया जा सकता है। पहला, मुगल केंद्रित दृष्टिकोण,.इसके तहत विद्वान मुगल साम्राज्य के पतन का कारण स्वयं साम्राज्य की संरचना और कार्यपद्धति में ढूंढते हैं। दूसरे दृष्टिकोण को क्षेत्र-केंद्रित दृष्टिकोण कह सकते हैं जिसके तहत साम्राज्य के पतन के कारणों को क्षेत्रीय समस्याओं और साम्राज्य के विभिन्न भागों में फैली अव्यवस्थाओं में ढूंढा जाता है।

NMDC-268

## 35.2 साम्राज्य-केंद्रित दृष्टिकोण

मुगल साम्राज्य के पतन की साम्राज्य केंद्रित व्याख्या का विकास विभिन्न चरणों में हुआ है। आरंभ में विकसित सिद्धांतों में शासकों के व्यक्तित्व और उनकी नीतियों को जिम्मेदार ठहराया गया। विलियम इरविन और जदुनाथ सरकार ने इस काल का पहला विस्तृत इतिहास लिखा (डब्लू. इरविन, **द लैटर मुगल्स,** पुनप्रकाशन, नई दिल्ली 1971, जदुनाथ सरकार, **द फॉल ऑफ मुगल अम्पायर,** कलकत्ता, 1938, **हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब, I-V**, कलकत्ता 1912, 1916, 1919 और 1924)। उन्होंने मुगल शासकों और उनके कुलीनों के चरित्र की गिरावट को मुगल साम्राज्य के पतन का जिम्मेवार ठहराया। सरकार ने इस काल के कानून और व्यवस्था का भी विश्लेषण किया है। इसके लिए उन्होंने औरंगजेब को प्रमुख रूप से दोषी माना है। उनके अनुसार औरंगजेब एक कट्टर धार्मिक व्यक्ति था। उसने धर्म के आधार पर कुलीनों और अधिकारियों के साथ भेदभाव अपनाया। इस नीति के कारण कुलीनों में गहरा असंतोष फैल गया। उनका कहना है कि औरंगजेब के उत्तराधिकारी और उनके कुलीन अपने पूर्वजों की छाया मात्र थे और इस प्रकार वे औरंगजेब के द्वारा की गई गलतियों को सुधारने में असक्षम थे।

### 35.2.1 जागीरदारी संकट

1959 में सतीश चन्द्र की पुस्तक **"पार्टिज एंड पॉलिटिक्स एट द मुगल कोर्ट, 1707-40,** 1959 दिल्ली, 1982, (तीसरा संस्करण)" का प्रकाशन हुआ। इसमें पहली बार मुगल साम्राज्य की संरचना के अध्ययन का गंभीर प्रयास किया गया। साम्राज्य की प्रकृति और इसके पतन को समझने के लिए इसकी कार्यपद्धति और इसकी योजनाओं का परीक्षण किया गया। सतीश चन्द्र ने साम्राज्य की कुछ प्रमुख संस्थाओं का अध्ययन किया। उन्होंने मुख्य रूप से **मनसबदारी** और **जागीरदारी** व्यवस्था की छानबीन की। मुगल साम्राज्य में कुलीन मुख्य राज्य अधिकारी थे। मुगल पदानुक्रम व्यवस्था में उनके स्थान के अनुसार उन्हें पदवी दी जाती थी। इन पदवियों को मनसब कहते थे। **मनसब** प्राप्तकर्ताओं को **मनसबदार** कहा जाता था, उन्हें भूराजस्व (**जागीर**) के माध्यम से वेतन दिया जाता था। अन्य जिम्मेदारियों के अलावा मनसबदारों को एक फौज भी रखनी पड़ती थी। सैनिकों के वेतन की व्यवस्था और फौज का रखरखाव इस **जागीर** की आमदनी से ही होता था। ये सैनिक **मनसबदार** की ताकत के आधार थे और उसे भूराजस्व वसूल करने में भी मदद करते थे। राजस्व की उपलब्धता निर्धारित करना और मुगलों द्वारा उसे वसूल करना इस व्यवस्था के सुचारु रूप से चलाने के लिए अपरिहार्य थे। सतीश चन्द्र के अनुसार औरंगजेब के शासन के अंतिम वर्षों में मुगल प्रशासन **मनसबदार-जागीरदार** व्यवस्था को बनाए रखने में असफल सिद्ध हुआ। जैसे ही यह व्यवस्था अव्यवस्थित होने लगी वैसे ही साम्राज्य का अंत अवश्यंभावी हो गया।

अतहर अली ने 1966 ई. में अठारहवीं शताब्दी के अंत में कुलीन और उनकी राजनीति पर एक पुस्तक लिखी (एम. अतहर अली, **द मुगल नोबिलिटी अंडर औरंगजेब,** बम्बई, 1966, पुन: प्रकाशन, 1970)। इस पुस्तक में दक्खन राज्यों के अधिग्रहण, मुगल कुलीन वर्ग में मराठों और दक्खनियों के समावेश और जागीरों में आई कमी जैसी समस्याओं का विशेष रूप से अध्ययन किया गया है। अतहर अली के अनुसार दक्खन और मराठा राज्य क्षेत्रों में इस साम्राज्य के विस्तार के कारण कुलीनों की संख्या तेजी से बढ़ी और इससे जागीर व्यवस्था की कार्य पद्धति में संकट उत्पन्न हो गया। दक्षिण के कुलीनों के समावेश के कारण जागीरों की कमी पड़ने लगी और अच्छी जागीरें प्राप्त करने के लिए कुलीनों में होड़ लग गई। इससे बहुत हद तक जागीरदारी पर आधारित राजनैतिक संरचना चरमराने लगी।

1969 में प्रकाशित अपने एक महत्वपूर्ण आलेख में प्रो. एस. नुरूल हसन ने बताया कि मुगल शासन के तहत कृषि संबंधों में ऊपर से नीचे तक पिरामिड की शक्ल में एक प्राधिकारी संरचना का विकास हुआ। इस संरचना के तहत विभिन्न प्रकार के अधिकार एक दूसरे के ऊपर अध्यारोपित किए गए। इसके परिणामस्वरूप राज्य की राजस्व मांग का सबसे अधिक बोझ किसानों पर पड़ा। अठारहवीं शताब्दी में मुगल सत्ता के पतन के साथ **जागीरों** पर दबाव बढ़ने लगा और कृषि व्यवस्था पर संकट छा गया।

NMDC-268

नुरूल हसन के अनुसार एक वर्ग के रूप में जमींदार राज्य के प्रति काफी निष्ठावान थे। पर मुगल साम्राज्य में कृषि व्यवस्था का विकास इस रूप में हुआ कि उनके और राज्य के बीच और उनके अपने बीच के संघर्षों को नियंत्रित नहीं किया जा सका। इससे अक्सर कानून और व्यवस्था की समस्या पैदा हुई और राज्य की शक्ति में भी ह्रास हुआ। औरंगजेब की मृत्यु और साम्राज्यी शक्ति के कमजोर होने के बाद यह संतुलन बिगड़ गया। इस स्थिति में जमींदारों को एक ऐसा वर्ग ही नियंत्रित कर सकता था जो जमींदारों की सहायता पर निर्भर नहीं था। इस समय तक ऐसे किसी समुदाय का उदय नहीं हो पाया था अत: कृषीय संबंध भी नहीं बदल सके। ऐसी स्थिति में व्यवस्था का पतन अवश्यंभावी था।

एस. नुरूल हसन, "जमींदार अंडर द मुगल्स" **लैंड कन्ट्रोल एंड सोशल स्ट्रक्चर इन इंडियन हिस्ट्री,** सं. आर. ई. फ्राइकेन बर्ग, मैडिसन, 1969।

## 35.2.2 कृषि व्यवस्था का संकट

सतीश चन्द्र की महत्वपूर्ण पुस्तक के प्रकाशन के बाद अनेक विद्वानों ने साम्राज्य के राजनैतिक पतन के कारणों का पता लगाने के लिए इसकी कार्यपद्धति के विभिन्न पहलुओं पर विचार करना शुरू किया। अब कारणों की खोज व्यक्तियों और शासक की नीतियों के बजाए मुगल साम्राज्य के आधारभूत ढाँचे में की जाने लगी जिस पर मुगल साम्राज्य टिका हुआ था। इरफान हबीब ने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक में साम्राज्य के पतन का गहराई में जाकर विश्लेषण किया। (**द एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इंडिया,** नई दिल्ली, 1963) हबीब के अनुसार मुगलों द्वारा राजस्व की वसूली व्यवस्था में द्वेष अंतर्निहित थे। साम्राज्य की सुरक्षा के लिए बड़ी से बड़ी सेना रखने की कोशिश की जाती थी और इस कारणवश राजस्व की दर भी ऊँची से ऊँची रखे जाने की नीति अपनाई जाती थी। दूसरी तरफ कुलीन अपनी जागीरों से ज्यादा से ज्यादा प्राप्त करना चाहते थे। उन्हें किसानों की बरबादी की कोई चिंता नहीं होती थी। उन्हें इस बात की भी परवाह नहीं होती थी कि क्षेत्र विशेष में अत्यधिक वसूली करने से कृषक बर्बाद हो सकते हैं और उस क्षेत्र से राजस्व वसूली की संभावना पूरी तरह समाप्त हो सकती है। कुलीनों का एक जागीर से दूसरी जागीर में स्थानांतरण होता रहता था, इस कारण वे कृषि संबंधी दूरगामी सुधारों में भी रुचि नहीं लेते थे। किसानों पर बोझ बढ़ता गया और उन्हें जीवनयापन की मूलभूत आवश्यकताओं से भी वंचित होना पड़ा। इस अतिशय शोषण की प्रतिक्रिया में किसानों के पास विरोध के अलावा और कोई चारा नहीं रहा। मध्यकालीन भारत में इस प्रकार के ग्रामीण विरोधों के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। कई स्थानों पर किसान खेत छोड़कर भाग गए। दूसरे गांवों या शहरों में चले जाने के कारण पूरा का पूरा गांव वीरान हो जाता था। कभी-कभी किसान राजस्व देने से मना कर देते थे और मुगल सत्ता के खिलाफ उठ खड़े होते थे। हबीब के अनुसार इन किसान विरोधों के कारण साम्राज्य के राजनैतिक और सामाजिक तंतु कमजोर हुए।

## 35.2.3 संकट का पुनर्परीक्षण

जे. एफ. रिचार्डस, एम. एन. पियरसन और पी. हार्डी भी साम्राज्य के पतन के कारणों में दक्खन और मराठों के मामलों में मुगलों के उलझने को एक महत्वपूर्ण स्थान देते थे। (**जर्नल ऑफ एशियन स्टडीज़,** वर्ष 35, अंक 2, फरवरी 1976, पृ. 221-63)। पर साम्राज्य की प्रकृति के संबंध में अलीगढ़ के इतिहासकारों से उनका मतभेद है। पियरसन के अनुसार, मुगल शासन अप्रत्यक्ष था। लोगों का जीवन स्थानीय संबंधों और विधि विधाओं से संचालित होता था न कि राज्य नियंत्रण से। केवल कुलीनों की दृष्टि में ही मुगल साम्राज्य अन्य "आदिम जुड़ावों" से मुक्त था। ये कुलीन केवल संरक्षण के कारण ही साम्राज्य से जुड़े हुए थे और यह जुड़ाव सम्राट की "निरंतर सैन्य सफलता" पर आधारित होता था। पियरसन का मानना है कि मुगल राज्य में गैर व्यक्तिपरक नौकरशाही का अभाव था और यह स्थिति उसके लिए बहुत आशावादी नहीं थी। जैसे ही मुगल सेना की शक्ति कमजोर पड़ने लगी और साम्राज्य का विस्तार रुकने लगा साथ ही अधिक राजस्व प्रदान करने वाली जागीरों की कमी पड़ने लगी और मुगल साम्राज्य की व्यक्तिपरक नौकरशाही में दरार पड़ने लगी। निश्चित रूप से इससे मुगल व्यवस्था के लिए खतरा उत्पन्न हो गया।

NMDC-268

1970 के आसपास जे. एफ. रिचार्ड्स ने मुगल पतन के इन सिद्धांतों पर नई दृष्टि से विचार किया जो **बेजागीरी** (जागीरों की अनुपस्थिति) को मुगल साम्राज्य के पतन का मूल कारण मानते हैं। गोलकुंडा के अभिलेखागार से प्राप्त अनेक दस्तावेजों के आधार पर उन्होंने इस मत का खंडन किया है कि दक्खन में जागीरों की कमी थी जिसके कारण **बेजागीरी** उत्पन्न हुई और मुगल साम्राज्य का पतन हुआ।

रिचर्डस के अनुसार जागीरदारी संकट प्रमुख रूप से प्रशासकीय और प्रबंधकीय स्तर का था। उनका मानना है कि औरंगजेब के शासन काल के उत्तरार्द्ध में दक्खन राज्यों के अधिग्रहण से साम्राज्य के राजस्व स्रोतों में बढ़ोत्तरी अवश्य हुई पर इससे कहीं ज्यादा कुलीनों की संख्या बढ़ गई। कर्नाटक और मराठों के विरुद्ध निरंतर युद्ध के खर्च को पूरा करने के लिए औरंगजेब ने अधिकांश समृद्ध **जागीरों** को **खालसा** भूमि में परिणत कर दिया। इसके कारण **पायबाकी जागीरों** (वह भूमि जो जागीर में दिये जाने के लिये आरक्षित रखी जाती थी) की कमी हो गई। अत: यह संकट प्रशासनिक था और **बेजागीरी** के कारण उत्पन्न नहीं हुआ था। 1980 के आसपास सतीश चंद्र ने अपने शोध द्वारा **बेजागीरी** की समस्या को कुछ हद तक सुलझाया। उन्होंने कुछ नए स्रोतों और दस्तावेजों के आधार पर **बेजागीरी** और **जागीरदारी** में संकट के बीच स्पष्ट अंतर स्थापित किया। उनके मतानुसार शासकीय वर्ग के बढ़ने और जागीर से होने वाली आय में निरंतर गिरावट के कारण **जागीर** व्यवस्था का संकट पैदा नहीं हुआ। वस्तुत: सुचारु रूप से कार्य न कर पाने के कारण ही **जागीर** व्यवस्था में संकट पैदा हुआ। सतीश चन्द्र के अनुसार **जागीरदारी** के सुचारु रूप से कार्य न कर सकने की पृष्ठभूमि पर विचार करने के पूर्व मध्यकालीन भारतीय समाज को समझना आवश्यक है।

किसानों, जमींदारों और **मनसबदार/जागीरदार** के त्रिध्रुवीय संबंधों पर मुगल साम्राज्य का आधार टिका हुआ था। **मनसबदार/जागीरदार** द्वारा जमींदारों से भूराजस्व वसूल करने और किसानों या **रैय्यत** को खेती में संलग्न रखने में जागीर व्यवस्था की सफलता निहित थी। इस कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए **जागीरदार** के पास अच्छी फौज होनी चाहिए थी। इस फौज के रखरखाव के लिए उसमें अपनी **जागीर** से आवश्यक राजस्व और संसाधन जुटाने की क्षमता होनी चाहिए थी। **जागीरदार-जमींदार-किसान** के इस नाजुक संतुलन को अव्यवस्थित करने वाला कोई भी कारण साम्राज्य को पतन की ओर ले जा सकता था।

सतीश चन्द्र के अनुसार 17वीं शताब्दी में व्याप्त सामाजिक संघर्षों को मुगल अपने वर्गीय संबंधों के बृहद् ढाँचे के अंदर सुलझा न सके और इसके कारण वित्तीय संकट उत्पन्न हुआ और जागीर व्यवस्था में भी संकट बढ़ा क्योंकि ये एक दूसरे से जुड़े हुए थे। साम्राज्य के इतिहास के आरंभ में ही इस जागीर व्यवस्था में संकट के लक्षण उत्पन्न होने लगे थे। जहांगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में गंगा-यमुना दोआब के उपजाऊ क्षेत्र के बाहर साम्राज्य के विस्तार होने से यह संकट उभर कर सामने आ गया। शाहजहां के शासनकाल के अंत में जागीर भूमि के **जमा** (आकलित राजस्व) और **हासिल** (वास्तविक रूप में वसूला गया राजस्व) का अंतर सुस्पष्ट हो गया था। अगर कोई **मनसबदार** अपनी **जागीर** से एक वर्ष के राजस्व में से पांच महीने के बराबर का राजस्व वसूल कर लेता था तो वह भाग्यवान समझा जाता था। इसी वसूली के अनुसार उसे सवारों की संख्या भी घटानी पड़ती थी। दक्खन में यह वसूली और भी कम थी। वहां तीन महीने के बराबर का राजस्व वसूल हो पाता था और इसी तरह वहां के **जागीरदार** का प्रभाव भी कम था। जैसे ही **जागीरदार** की सैन्य शक्ति में कमी आई वैसे ही त्रिध्रुवीय संबंध छिन्न भिन्न हो गया और इस पर आधारित साम्राज्य भरभराकर गिर गया।

सतीश चंद्र के अनुसार **जागीरदारी** व्यवस्था का यह संकट कृषि और गैर कृषि अर्थव्यवस्था को तेजी से विकसित करके रोका जा सकता था। शासकों और कुलीनों के लिए व्यापार अतिरिक्त आय का साधन था। यहां हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि क्या कुलीन अपने संचित धन को नियमित रूप से व्यापार में निवेशित करते थे या कुछ अमीर लोग वैभव की जिंदगी बसर करने के लिए कभी कभी व्यापार कर लेते थे? मुगल कालीन व्यापारियों और राजनीति पर हुए अध्ययनों से यह जानकारी मिलती है कि अखिल भारतीय स्तर पर एक वर्ग के रूप में व्यापारी इतने शक्तिशाली नहीं थे कि वे राज्य सत्ता में हिस्सेदारी का दावा कर सकें। मुगल भारत में कमोवेश व्यापार और राजनीति अलग-अलग क्षेत्र रहे। कृषि क्षेत्र में हुआ विकास भी इससे बहुत भिन्न नहीं था। कई कारणों से राज्य ने छोटे किसानों की

NMDC-268

अर्थव्यवस्था को ही प्रोत्साहन दिया। अत: **खुद काश्त** भूमि धारकों (समृद्ध किसानों) को भाड़े के मजदूरों की सहायता से खेती नहीं करने दी जाती थी तथा **पाही** किसानों (मध्य स्तर के किसान जिनके पास अपनी भूमि नहीं होती थी और ये अपने उत्पादन के औजारों के साथ एक गांव से दूसरे गांव जाते थे) को हटाकर अपनी खेती का विस्तार नहीं करने दिया गया। कुछ अमीर किसान सूद पर कर्ज दिया करते थे या गरीब किसानों की जमीन को बंधक रखकर उन्हें बटाईदार बना देते थे। अत: ये समृद्ध किसान बिचौलिए जमींदार या महाजन (अनाज व्यापारी तथा ऋणदाता) बनकर अपनी स्थिति सुधार सकते थे। इन कारणों से संभवत: कृषि अर्थव्यवस्था का विकास धीमा रहा और यह **जागीरदारी** संकट को टालने में असमर्थ रही। सतीश चन्द्र पुन: कहते हैं कि **जागीरदारी** संकट का मूलभूत आधार उस मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था में निहित है जिसके कारण कृषि का विकास सीमित रहा। इसी संरचना पर प्रशासनिक व्यवस्था आधारित थी और दोनों के बीच क्रिया प्रतिक्रिया होती रहती थी। इसके अलावा शासकीय वर्ग का बढ़ता आकार, कुलीनों की जीवन शैली में बढ़ता आडंबर परिणामस्वरूप उत्पादन के विस्तार के लिए उपलब्ध अधिशेष में कमी और इसके कारण धीमा आर्थिक विकास आदि इस संकट को विकट बनाने में पूरक तत्व का कार्य कर रहे थे। (सतीश चन्द्र, **मेडिवल इंडिया : सोसाइटी द जागीरदारी क्राइसिस एंड द विलेज,** दिल्ली, 1982)।

मुगल साम्राज्य के पतन के कारणों पर विचार करते हुए यह भी कहा गया है कि परम्परागत रूप से गैर राजनैतिक समझा जाने वाला समुदाय अठारहवीं शताब्दी में राजनीति में हिस्सा लेने लगा। कैरन लियोनार्ड के अनुसार "देशी बैंकिंग संस्थाएँ मुगल राज्य के अपरिहार्य मित्र थे, तथा प्रमुख कुलीन जरूरत से ज्यादा इन संस्थाओं पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर थे।" 1650-1750 के काल में जब इन बैंकिंग संस्थाओं ने "अपने आर्थिक और राजनैतिक सहयोग की दिशा" क्षेत्रीय राजनीति और शासकों के साथ साथ बंगाल में इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर मोड़ दी तो दिवालिएपन की स्थिति उत्पन्न हो गई, राजनैतिक संकटों का सिलसिला शुरू हो गया और साम्राज्य का पतन हो गया (कैरन लियोनार्ड, 'द "ग्रेट फर्म" थ्योरी ऑफ द डिक्लाइन ऑफ द मुगल अम्पायर', **कम्पेरेटिव स्टडीज इन सोसाइटी एंड हिस्ट्री,** वर्ष 21 अंक 2, अप्रैल 1979, पृ. 161-7)

मुगल राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं के वर्तमान उपलब्ध अध्ययन लियानार्ड के निष्कर्ष को कोई खास समर्थन प्रदान नहीं करते। फिलिप कैलकिन्स और एम. एन. पियर्सन ने क्रमश: बंगाल और गुजरात पर शोध करते हुए राजनीति में व्यापारियों के हिस्सा लेने के कुछ प्रमाण प्रस्तुत किए हैं (फिलिप सी कैलकिन्स, "द फॉर्मेशन ऑफ ए रीजनली ओरिएंटेड रूलिंग ग्रुप इन बंगाल", **जरनल ऑफ एशियन स्टडीज,** वर्ष 29 अंक 4, अगस्त 1970, एम. एन. पियर्सन, **मर्चेन्ट्स एंड रूलर्स इन गुजरात,** कैलिफोर्निया, 1976)। पर पियर्सन खुलकर यह नहीं कहता है कि मुगल वित्तीय व्यवस्था व्यापारियों के ऋण पर आधारित थी। कैलकिन्स ने एक खास काल और क्षेत्र तक अपने को सीमित रखकर अपनी सामान्य धारणा प्रतिपादित की थी। लियोनार्ड ने भी कैलकिन्स और पियर्सन द्वारा उपयोग में लाए गए स्रोतों का ही इस्तेमाल किया था। लियोनार्ड का निष्कर्ष बहुत स्वीकार्य नहीं लगता क्योंकि इस संदर्भ में कोई नये प्रमाण नहीं मिलते हैं।

**बोध प्रश्न 1**

1) मुगल साम्राज्य के पतन के कारण के रूप में जागीरदारी संकट का आधारभूत तर्क क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

NMDC-268

2) "कृषि व्यवस्था के संकट" पर चार पंक्तियाँ लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) जागीरदारी संकट के संदर्भ में जे. एफ. रिचार्ड्स के मुख्य तर्क का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 35.3 क्षेत्र-केंद्रित दृष्टिकोण

मुजफ्फर आलम और चेतन सिंह ने अपनी कृतियों में मुगल साम्राज्य के पतन की व्याख्या करते हुए क्षेत्र केंद्रित दृष्टिकोण अपनाया है। (एम. आलम, **द क्राइसिस ऑफ अम्पायर इन मुगल नार्थ इंडिया, अवध एंड द पंजाब 1707-1748,** नई दिल्ली 1986; चेतन सिंह, **रीजन एंड एम्पायर, पंजाब इन द सेवेंटींथ सेंचुरी,** नई दिल्ली 1991)। मुजफ्फर आलम ने मुगल काल के पंजाब और अवध के सूबों में हुई गतिविधियों का तुलनात्मक अध्ययन किया है जबकि चेतन सिंह ने 17वीं शताब्दी के पंजाब के क्षेत्रीय इतिहास का गहराई से अध्ययन किया है।

ये अध्ययन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इनमें मुगल साम्राज्य की प्रकृति और इसके लगातार कमजोर होते जाने की प्रक्रिया और अंतत: 17वीं के अन्त और आरंभिक 18वीं शताब्दी में इसके पतन पर प्रकाश डाला गया है।

### 35.3.1 केंद्र-क्षेत्र संबंध

आलम ने **सूबा** अवध को मुगल राज्य का क्षेत्रीय प्रारूप मानकर मुगल साम्राज्य के पतन के कारणों की तलाश करने की कोशिश की है। आलम बताते हैं कि मुगल साम्राज्य विभिन्न स्तरों पर संघर्षरत समुदायों और विभिन्न देशी सामाजिक राजनैतिक व्यवस्थाओं के बीच समन्वय स्थापित करने वाली एजेंसी के रूप में कार्य करता था। एक अर्थ में साम्राज्य का आधार निषेधात्मक था, इसकी शक्ति स्थानीय समुदायों की अपने सीमित क्षेत्रों से बाहर बढ़कर स्वयं को संगठित करने की असमर्थता से प्रभावित होती थी। मुगलकालीन भारत में हुए राजनैतिक एकीकरण में एक हद तक कई दोष अंतर्निहित थे विभिन्न सामाजिक समुदायों का नेतृत्व करने वाले स्थानीय नेता अपने स्वार्थों और राजनैतिक समीकरण के लिए काफी हद तक कुछ शर्तों के साथ केंद्र से जुड़े हुए थे। ये स्थानीय नेता यह जानते थे कि वे अपने बल पर कुछ नहीं कर सकते थे। इसी कारण से कुलीन अपनी शक्ति और पद के लिए सीधे सम्राट से जुड़े हुए थे और स्वयं सम्राट सीधे उनकी नियुक्ति करता था। उनके पास कोई अनुवांशिक सम्पदा और अधिकार नहीं थे और वे अपने उत्तराधिकारियों के लिए भी कुछ छोड़ने की स्थिति में नहीं थे। साम्राज्य उनके संसाधनों की जांच और नियमन करता था। वे एक प्रकार से मुगल सम्राट के प्रतिनिधि होते थे। **जागीर** स्थानांतरण की नीति का मुख्य उद्देश्य उन पर नियंत्रण रखना और साम्राज्यी संगठन को मजबूत करना था। पर इससे कुलीनों को असुविधा हुआ करती थी और वे इसका विरोध करते थे। 17वीं शताब्दी

के दौरान मुगल साम्राज्य के कई क्षेत्रों में इस व्यवस्था का भली प्रकार कार्यान्वयन नहीं हो सका। स्थानीय संभ्रांत (जमींदार) और कुलीन, ग्राम और कस्बा आधारित **मदद ए माश** प्राप्तकर्ता (ऐसे विद्वजन जिन्हें मुगल सम्राटों द्वारा राजस्व मुक्त भूमि प्रदान की जाती थी) और विभिन्न क्षेत्रों और स्थानीय समुदायों से बड़ी संख्या में आए निचले स्तर के अधिकारी साम्राज्य के ढाँचे में एक दूसरे से गहरे रूप में जुड़े हुए थे। **मदद ए माश** भूमि विभिन्न जमींदारी क्षेत्रों में फैली हुई थी। इसका उद्देश्य साम्राज्य के दूर दराज के ग्रामीण इलाकों तक साम्राज्य के लिए कुछ प्रभाव क्षेत्रों का निर्माण करना था। सम्राटों का यह मानना था कि **मदद ए माश** प्राप्तकर्ता विद्रोही जमींदारों की शक्ति पर नियंत्रण रखने में सहायता कर सकेंगे और इस प्रकार साम्राज्य की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था में संतुलन बना रहेगा।

आलम का मानना है कि आरंभिक 18वीं शताब्दी में मुगल व्यवस्था ज़मींदारों, **जागीरदारों, मदद ए माश** प्राप्तकर्ताओं और अवध के **शेखजादों** जैसे स्थानीय प्रभावशाली तत्वों पर निगाह और नियंत्रण न रख सकी और परिणामस्वरूप मुगल साम्राज्य का पतन हो गया। 18वीं शताब्दी के आरंभ में अपना अस्तित्व स्थापित करने के लिए कुलीनों में जमींदारों से स्वतंत्र राजनैतिक गठबंधन करने की प्रवृत्ति बढ़ी। इसके अलावा मुगल सत्ता के विभिन्न भागीदार (जमींदार, **मदद ए माश** प्राप्तकर्ता आदि) एक दूसरे के अधिकारों और इलाकों को हड़पने का प्रयत्न करने लगे। इस प्रकार की घटनाएँ बिल्कुल नई नहीं थीं परंतु साम्राज्य के उत्कर्ष की अवधि में यह नियंत्रण में रहे। इन्हें नियंत्रण में रखने के लिए कभी सैन्य बल की सहायता ली जाती थी और कभी कभी एक समुदाय के बीच दूसरे समुदाय को बसा दिया जाता था (उदाहरणस्वरूप अवध की जमींदारों के आस-पास **मदद ए माश** प्राप्तकर्ताओं को राजस्व का आवंटन)।

आलम मुख्य रूप से यह विश्लेषित करना चाहते हैं कि 18वीं शताब्दी के आरंभ में सामाजिक और राजनैतिक संतुलन किस प्रकार बिगड़ गया? दूसरे शब्दों में किन कारणों से 18वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य का पतन हो गया। उनका मानना है कि 17वीं शताब्दी के अन्त और 18वीं शताब्दी के आरंभ में अवध और पंजाब में निश्चित आर्थिक विकास देखने को मिलता है। आलम का अध्ययन सतीश चंद्र और अन्य विद्वानों के अठाहरवीं शताब्दी के अंत के वित्तीय संकट के विचार के बिल्कुल विपरीत दृश्य उपस्थित करता है। मुगल सत्ता से जुड़े और साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान करने वाले सामाजिक समुदाय इन क्षेत्रों में हुई आर्थिक प्रगति से लाभ उठाने लगे। उनमें से कई लोगों ने इसकी सहायता से अपनी ताकत बढ़ाई और दूसरों के अधिकारों और विशेषाधिकारों को हड़पने का प्रयत्न करने लगे। इन गतिविधियों से साम्राज्य का राजनैतिक ढाँचा ढहने लगा। निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए मुजफ्फर आलम कहते है कि अवध और पंजाब में हुए एक प्रकार के राजनैतिक रूपांतरण और एक नई सूबेदारी के तत्वों के उदय और विन्यास में मुगल साम्राज्य के पतन के बीज मौजूद थे। वस्तुत: यह उस पतन की अभिव्यक्तियाँ थीं। इन दोनों प्रांतों में स्वतंत्र क्षेत्रीय इकाइयों के रूप में उदय होने के सभी तत्व मौजूद थे। पर पंजाब में इससे अव्यवस्था फैली पर अवध में एक स्थाई शासन की नींव रखी गई।

## 35.3.2 क्षेत्रीय राजनीति का स्वरूप

मुगल साम्राज्य के पतन की व्याख्या करने के लिए मुजफ्फर आलम ने 18वीं शताब्दी की क्षेत्रीय गतिविधियों पर नजर डाली। यही दृष्टिकोण चेतन सिंह ने भी अपनाया। उनकी पुस्तक **रीजन एंड एम्पायर** में मुगलकालीन उत्तर भारत के क्षेत्रीय इतिहास पर एक नई दृष्टि डाली गई है। इसमें मुगल राजनीति के साथ-साथ समग्र पश्चिम एशिया में आए व्यापक राजनैतिक बदलाव के संदर्भ में मुगलकालीन पंजाब सूबा के इतिहास का अध्ययन किया गया है। उनका मानना है कि निस्संदेह मुगलकालीन प्रशासनिक ढाँचा क्षेत्रों को मुगल प्रशासन से जोड़ता था पर इस प्रकार के परम्परागत एकीकरण की अपनी कुछ समस्याएँ थीं। स्थानीय समाज और राजनीति में कई प्रकार के तनाव होते थे और इससे निपटने के लिए प्रशासनिक व्यवस्था द्वारा मुगल सरकारी व्यवस्था के बनेबनाए प्रशासनिक विभाजनों और उपविभाजनों का अतिक्रमण भी कर लिया जाता था। आम प्रशासन और राजस्व प्रशासन दोनों क्षेत्रों में व्यावहारिक जरूरतों के कारण ऐसा करना पड़ता था। स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों की कार्यपद्धति तथा राजस्व व्यवस्था पर स्थानीयता का असर होता था। समय बीतने के साथ-साथ राजस्व प्रशासन में कुछ प्रथाएँ और रिवाज मान्य हो गए और उनसे नियम और कानून विकसित हुए जिन्होंने मुगल साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान किया।

चेतन सिंह के अनुसार 17वीं शताब्दी के अंत में सिंधु नदी में गाद जमा होने से पंजाब का जल मार्ग बुरी तरह बाधित हुआ। इससे पंजाब की वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था पर बहुत बुरा असर पड़ा। समकालीन तुर्की में राजनैतिक उथलपुथल, इरान के शाह का कांधार पर कब्जा और मुगलों द्वारा इसे प्राप्त करने के प्रयत्न के कारण थल मार्ग भी अवरुद्ध हो गया। इसी समय उत्तर-पश्चिम पंजाब में यूसूफजई विद्रोह (1667) और आफ़रीदी विद्रोह (1678) भी हुआ। सिंह का मानना है कि इन राजनैतिक गड़बड़ियों का असर पंजाब के समाज और अर्थव्यवस्था पर पड़ा। इनसे व्यापार बाधित हुआ और धीरे-धीरे वाणिज्यिक कृषि पर आधारित पंजाब की अर्थव्यवस्था नष्ट हो गई।

पंजाब में सामाजिक आर्थिक ढाँचे के कमजोर पड़ते ही सामाजिक विक्षोभ पैदा होने लगा। हालांकि सिंह का मानना है कि पंजाब में हर जगह आर्थिक विकास एक समान नहीं था अत: आर्थिक दृष्टि से विकसित और सम्पन्न इलाकों में ही आंदोलन हुए क्योंकि व्यापार के ह्रास से इन्हीं इलाकों पर सीधा प्रभाव पड़ा था। इन्हीं इलाकों में सिख विद्रोह अधिक हुए। अत: उनका निष्कर्ष है कि पंजाब में उत्पन्न सामाजिक विक्षोभ और अंतत: साम्राज्य से उसका संबंध विच्छेद एक लंबी प्रक्रिया का परिणाम था। 18वीं शताब्दी के पहले से, जब मुगल साम्राज्य राजनैतिक रूप से कमजोर होना शुरू नहीं हुआ था, ये प्रक्रियाएँ धीरे धीरे एक निश्चित गति से अग्रसर हो रही थीं।

यहीं पर साम्राज्य के संकट के जटिल प्रश्न को सिंह के अध्ययन ने एक नया आयाम दिया। मुजफ्फर आलम मुगल प्रांत अवध और पंजाब का मुगल साम्राज्य से संबंध विच्छेद की प्रक्रिया का आरंभ 18वीं शताब्दी की शुरुआत से मानते हैं जबकि सिंह का मानना है कि यह प्रक्रिया साम्राज्य के उत्कर्ष काल में भी चल रही थी। इस प्रकार पंजाब के क्षेत्रीय इतिहास के दृष्टिकोण से साम्राज्य के पतन को देखने पर अलग तस्वीर उभर कर आती है। विभिन्न सूबों ने केवल विभिन्न कारणों से ही साम्राज्य से अपने को अलग नहीं कर लिया बल्कि अक्सर यह संबंध विच्छेद राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों से उत्पन्न होता था जिस पर मुगल साम्राज्य का कोई नियंत्रण नहीं था।

## 35.3.3 अवलोकन

मुगल साम्राज्य के विभिन्न प्रांतों और क्षेत्रों में व्याप्त समस्याओं की एक व्याख्या प्रस्तुत करना कठिन है। इन्हीं कारणों से मुगल साम्राज्य के पतन का कोई एक कारण नहीं बताया जा सकता है। मुगल साम्राज्य के विभिन्न हिस्सों में मुगल साम्राज्य के पतन संबंधी किसी एक दृष्टिकोण को ग्रहण करना कठिन है। मुगल साम्राज्य केंद्र और क्षेत्र के आपसी संबंध पर टिका हुआ था। 18वीं शताब्दी के आरंभ में यह समझौता टूटने लगा। साम्राज्य के कई हिस्से अपने विकास के मार्ग स्वयं प्रशस्त करने लगे। अठारहवीं शताब्दी के क्षेत्रीय इतिहास से पता चलता है कि वर्तमान सामाजिक ढाँचे के अंदर ही विकास की संभावनाओं की खोज शुरू हो गई थी। स्पष्ट रूप से मुगल साम्राज्य के पतन का क्षेत्रीय इतिहास का दृष्टिकोण सम्पूर्ण भारत में मुगल साम्राज्य के पतन का कोई एक कारण नहीं मानता है। मुगल साम्राज्य केंद्र और क्षेत्रीय इलाकों के समझौते पर आधारित था। ये क्षेत्र मुगल साम्राज्य से केवल प्रशासनिक तौर पर नहीं जुड़े हुए थे। विजेता और विजित के बीच आर्थिक और सांस्कृतिक सम्मिलन भी हुआ था। इसी आर्थिक और सांस्कृतिक सहयोग पर मुगल ढाँचा आधारित था।

विभिन्न क्षेत्र मुगल साम्राज्य से इन कई बंधनों से जुड़े हुए थे। 17वीं शताब्दी के दौरान मुगलकालीन भारत में सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन आने से इस गठबंधन पर प्रभाव पड़ना अपरिहार्य था। विभिन्न क्षेत्रों पर विभिन्न तरीकों से प्रभाव पड़ा। कुछ क्षेत्रों ने अपने संबंध मुगल केंद्रीय सत्ता से तोड़ लिए जबकि अन्य ने यह बनाए रखे। यह बात तर्क संगत प्रतीत होती है कि मुगल साम्राज्य के विकेन्द्रीकरण के समय विभिन्न क्षेत्रीय शक्तियों ने केंद्र से पृथक होने के अलग-अलग तरीके अपनाए। निश्चित रूप से साम्राज्य के पतन की मुगल केंद्रित विचारधारा के विपरीत, मुगल साम्राज्य का ह्रास एक अधिक जटिल प्रक्रिया थी।

NMDC-268

**बोध प्रश्न 2**

1) मुगल साम्राज्य के पतन के विषय में मुजफ्फर आलम के विचारों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में सिन्धु नदी के जल मार्ग के बन्द होने का पंजाब की आर्थिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा?

.....

.....

.....

.....

.....

## 35.4 सारांश

प्रारंभ में यह मत स्वीकार्य था कि मुगल साम्राज्य के पतन में प्रशासनिक अव्यवस्था एक प्रमुख कारण था। इस अव्यवस्था ने **जागीर** व्यवस्था में संकट को जन्म दिया जो अंतत: क्षेत्रीय शक्तियों के उदय में सहायक हुआ। बाद में आर्थिक ढाँचे के अध्ययन से यह मत सामने आया कि साम्राज्य कृषि व्यवस्था के संकट की ओर बढ़ रहा था और इससे आर्थिक ढाँचा प्रभावित हो रहा था। इससे जाटों, सतनामियों और सिखों का विद्रोह सामने आया जिसने साम्राज्य की नींव हिला दी। पर मुगल साम्राज्य के पतन के संदर्भ में कोई ऐसी व्याख्या नहीं विकसित की जा सकी है जो सभी प्रांतों और क्षेत्रों में लागू हो सके। अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में संभवत: मुगल व्यवस्था को संभालकर रखने वाला संतुलन बिगड़ गया। इसके बाद इस व्यवस्था के विभिन्न अंगों का पुनर्गठन होने की प्रक्रिया शुरू हो गई जिसके परिणामस्वरूप साम्राज्य का अंत और क्षेत्रीय शक्तियों का उदय हुआ।

## 35.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) **जागीरों** की संख्या में कमी होने के कारण नये कुलीन वर्ग के बीच इन्हें आवंटित करने की समस्या पैदा हो गई। विवरण के लिए 35.2.1

2) देखिए उपभाग 35.2.2

3) देखिए उपभाग 35.2.3

**बोध प्रश्न 2**

1) उनका मानना था कि राज्य के विभिन्न सुविधाभोगियों मसलन **जमींदार जागीदार, शेखजादा** आदि के आपसी संतुलन और नियंत्रण को बनाए रखने में मुगल राज्य असक्षम हो गया था। इसी कारण से मुगल साम्राज्य का पतन हुआ। विस्तार के लिए उपभाग 35.3.1 देखिए।

2) देखिए उपभाग 35.3.2

NMDC-268

# इकाई 36 क्षेत्रीय शक्तियों का उदय

**इकाई की रूपरेखा**


36.0 उद्देश्य
36.1 प्रस्तावना
36.2 क्षेत्रीय शक्तियों के उदय संबंधी ऐतिहासिक दृष्टिकोण
36.3 उत्तराधिकारी राज्य
  36.3.1 अवध
  36.3.2 बंगाल
  36.3.3 हैदराबाद
36.4 नये राज्य
  36.4.1 मराठा
  36.4.2 पंजाब
  36.4.3 जाट राज्य
36.5 स्वतंत्र राज्य
  36.5.1 मैसूर
  36.5.2 राजपूत राज्य
  36.5.3 केरल
36.6 क्षेत्रीय शक्तियों की प्रकृति
36.7 सारांश
36.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 36.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- क्षेत्रीय राजनैतिक शक्तियों के उत्कर्ष के पूर्व की परिस्थितियों का उल्लेख कर सकेंगे;
- मुगल साम्राज्य के पतन के बाद उभरने वाले विभिन्न प्रकार के राज्यों पर प्रकाश डाल सकेंगे; और
- क्षेत्रीय शक्तियों की कार्यपद्धति और कमजोरियों को रेखांकित कर सकेंगे।

## 36.1 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई में हम 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मुगल साम्राज्य के पतन की चर्चा कर चुके हैं। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद स्वतंत्र क्षेत्रीय राज्यों का उदय इस काल की महत्वपूर्ण घटना है। हालांकि समकालीन फारसी कृतियों और आरंभिक अंग्रेज इतिहासकारों में इस पहलू को नजरअंदाज करने की प्रवृत्ति मिलती है। उनका उद्देश्य मुगल साम्राज्य के पतन को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाना और ब्रिटिश शासन की स्थापना का गुणगान करना है। 18वीं शताब्दी पर हुए समकालीन शोधों से इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ कि 18वीं शताब्दी के भारत का अध्ययन एक साम्राज्य के पतन या औपनिवेशिक शासन के आरंभ के रूप में नहीं किया जाना चाहिए बल्कि इस काल पर इनसे हटकर विचार किया

NMDC-268

जाना चाहिए। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए इस इकाई में अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में क्षेत्रीय राजनैतिक शक्तियों के उदय के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया जाएगा।

## 36.2 क्षेत्रीय शक्तियों के उदय संबंधी ऐतिहासिक दृष्टिकोण

मुगल प्रशासनिक व्यवस्था पर विचार करते हुए (खंड 4) हमने मुगलकालीन प्रांतीय प्रशासन व्यवस्था की व्याख्या की थी। स्वतंत्र क्षेत्रीय शक्तियों के विकास के संदर्भ में 18वीं शताब्दी के दौरान मुगल प्रांतीय राजनैतिक व्यवस्था की बनावट को समझना आवश्यक है। इससे हमें क्षेत्रीय शक्तियों के उदय की प्रवृत्ति और इस प्रकृति को पहचानने में मदद मिलेगी। मुगल शासन की प्रकृति केंद्रान्मुख थी। कुलीनों, जमींदारों, जागीरदारों और प्रांतीय पदाधिकारियों को अधीनस्थ रखने में ही सम्राट और साम्राज्य की सफलता निहित थी। वस्तुत: यहां सम्राट (जो हमेशा मजबूत स्थिति में होता था) और अन्य शक्तियों के बीच हितों और आकांक्षाओं का संतुलन और समन्वय होता था। यह कहा जाता है कि औरंगजेब की मृत्यु के बाद स्थिति में परिवर्तन होने लगा। कई कारणों से मुगल सम्राट की शक्ति क्षीण होती गई।

**दीवान** (राजस्व प्रशासन का प्रमुख) और **नाजिम** (सूबेदार या कार्यकारी प्रधान) दो सर्वप्रमुख अधिकारी थे। दोनों को सीधे सम्राट नियुक्त करता था और उनके द्वारा प्रांतों पर नियंत्रण रखा जाता था। इसके अतिरिक्त **आमिल, फौजदार, कोतवाल,** आदि जैसे पदाधिकारी भी सम्राट द्वारा ही नियुक्त किए जाते थे। प्रांतीय गवर्नर भी सम्राट की कृपा पर ही अपने पद पर बने रहते थे। इस प्रकार नियुक्तियों पर नियंत्रण रख सम्राट अप्रत्यक्ष रूप से प्रांतीय प्रशासन पर नियंत्रण रखता था।

दुर्भाग्यवश केंद्रीय प्रशासन में हमेशा वित्तीय संकट बना रहा और कुलीन आपसी गुटों के संघर्षों में उलझे रहे। इस परिस्थिति में सम्राट इस संकट को रोक नहीं पाए। वह प्रांतीय गवर्नरों को अपेक्षित संरक्षण प्रदान करने में भी नाकाम रहे। इसके परिणामस्वरूप 18वीं शताब्दी के आरंभ में ये प्रांतीय गवर्नर अपनी स्वतंत्र शक्ति विकसित करने का आधार खोजने लगे। इस प्रवृत्ति का संकेत इस तथ्य से मिलता है कि वे सम्राट की पूर्व अनुमति के बिना ही स्थानीय नियुक्तियाँ करने लगे थे और प्रांतों में वंशगत शासन की स्थापना का प्रयत्न करने लगे। इस काल के दौरान मुगल सम्राट के प्रति वे सैद्धांतिक रूप से समर्पित रहे और नजराने भेजते रहे पर इन प्रांतीय गवर्नरों ने वस्तुत: प्रांतों पर अपनी स्वतंत्र सत्ता कायम कर ली थी। यहां तक कि दक्खन, राजपूताना, आदि जैसे स्वायत्त राज्यों (जो मुगलों के सीधे नियंत्रण में नहीं थे पर मुगल सत्ता को स्वीकार करते थे) ने भी साम्राज्य से संबंध विच्छेद कर लिया। 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मुगलों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियंत्रण वाले प्रांतों में स्वतंत्रता की आकांक्षा स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रही थी। इस काल में उदित होने वाले राज्यों को मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :

- मुगल साम्राज्य से अपने को पृथक कर के बने स्वतंत्र राज्य;
- मुगलों के खिलाफ विद्रोहियों द्वारा स्थापित नए राज्य; और
- स्वतंत्र राज्य।

आगे आने वाले भागों में हम इन राज्यों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

## 36.3 उत्तराधिकारी राज्य

अवध, बंगाल और हैदराबाद उत्तराधिकारी राज्य की श्रेणी में आते हैं। ये तीनों प्रांत प्रत्यक्ष रूप में मुगल प्रशासन के नियंत्रण में थे। इन राज्यों ने मुगल सम्राट की प्रभुसत्ता को चुनौती नहीं दी पर इनके गवर्नरों

NMDC-268

ने व्यावहारिक तौर पर स्वतंत्र और वंशगत सत्ता की स्थापना की और उस क्षेत्र के सभी पद और अधिकारी उसके नियंत्रण में आ गए। यह सब इन राज्यों में स्वायत्त राजनैतिक शक्तियों के उदय की ही अभिव्यक्ति थी। वृहद् मुगल संस्थागत ढाँचे के तहत एक नई राजनैतिक व्यवस्था का उदय हुआ।

## 36.3.1 अवध

सआदत खाँ 1722 ई. में अवध का **सूबेदार** बना। वह साम्राज्य की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने की आकांक्षा रखता था। अपनी इस योजना में असफल होने के बाद उसने अवध को स्वतंत्र राजनैतिक शक्ति के रूप में उभारना शुरू किया। मुगल साम्राज्य की शक्ति के ह्रास से उसे अपनी इच्छा पूरी करने का मौका मिल गया। अवध का **सूबेदार** बनने के बाद उसे अवध के स्थानीय सरदारों और राजाओं के विद्रोहों का सामना करना पड़ा। अपनी स्थिति मजबूज करने के लिए उसने निम्नलिखित कदम उठाए :

- स्थानीय **जमींदारों** और स्वायत्त सरदारों के विद्रोहों को दबाना;
- **मदद-ए माश** प्राप्तकर्ताओं की शक्ति और अधिकारों में कमी करना;
- राजस्व वसूली को नियमित करना; तथा
- कुछ स्थानीय **जमींदारों** के साथ समझौता।

स्थानीय पदाधिकारियों को नियुक्त करते समय उसने केवल उनकी व्यक्तिगत वफादारी को ध्यान में रखा। जैसे ही उसने सम्राट की पूर्व अनुमति के बिना अपने दामाद सफदर जंग को उप-गवर्नर नियुक्त किया वैसे ही उसका उद्देश्य स्पष्ट हो गया।

सआदत खाँ के बाद सफदर जंग ने उसके पथ का अनुगमन किया ताकि प्रांतीय प्रशासन संभालने के लिए उसे सम्राट की तरफ न देखना पड़े। यहां तक कि दिल्ली को भेजा जाने वाला राजस्व भी अनियमित हो गया। अभी भी मुगल सम्राट के प्रति समर्पण का भाव मौजूद था पर 1739 और 1764 के बीच वस्तुत: अवध एक स्वायत्त राज्य के रूप में उभरकर सामने आया। सफदर जंग ने अपना नियंत्रण गंगा के मैदानी इलाकों तक बढ़ा लिया और रोहतास और चुनार के किलों पर नियंत्रण के साथ-साथ इलाहाबाद की **सूबेदारी** भी हासिल कर ली। केंद्रीय **दीवान** का पद समाप्त कर दिया गया। उसके उत्तराधिकारी शुजाउद्दौला ने भी अवध में स्वायत्त राजनैतिक व्यवस्था का आधार मजबूत करने का प्रयत्न किया। स्वायत्त राज्य की स्थापना के क्रम में एक उल्लेखनीय घटना यह घटी कि अवध के शासक के प्रति निष्ठा रखने वाले लोग समृद्ध हुए, जबकि मुगल सम्राट के प्रति निष्ठा रखने वाले लोगों की स्थिति खराब रही।

## 36.3.2 बंगाल

बंगाल में मुर्शीद कुली खाँ ने स्वायत्तता की प्रक्रिया शुरू की। उसे पहले **दीवान** नियुक्त किया गया पर बाद में राजस्व प्रशासन में उसकी सफलता और औरंगजेब की मृत्यु के बाद फैली अनिश्चितता के कारण उसे बंगाल की **सूबेदारी** प्राप्त हो गई। मुर्शीद कुली खां ने **दीवान** और **नाजिम** का पद मिलाकर एक कर दिया। उसने सबसे पहले राजस्व प्रशासन पर ध्यान दिया और इसे सुधारने के लिए निम्नलिखित कदम उठाए :

- छोटे बिचौलिए **जमींदारों** का खात्मा;
- विद्रोही **जमींदारों** और **जागीरदारों** का उड़ीसा के सीमांत प्रांतों में निष्कासन;
- राजस्व वसूल करने और भुगतान करने का उत्तरदायित्व ग्रहण करने वाले बड़े **जमींदारों** को प्रोत्साहन; और
- **खालिसा** भूमि का विस्तार।

NMDC-268

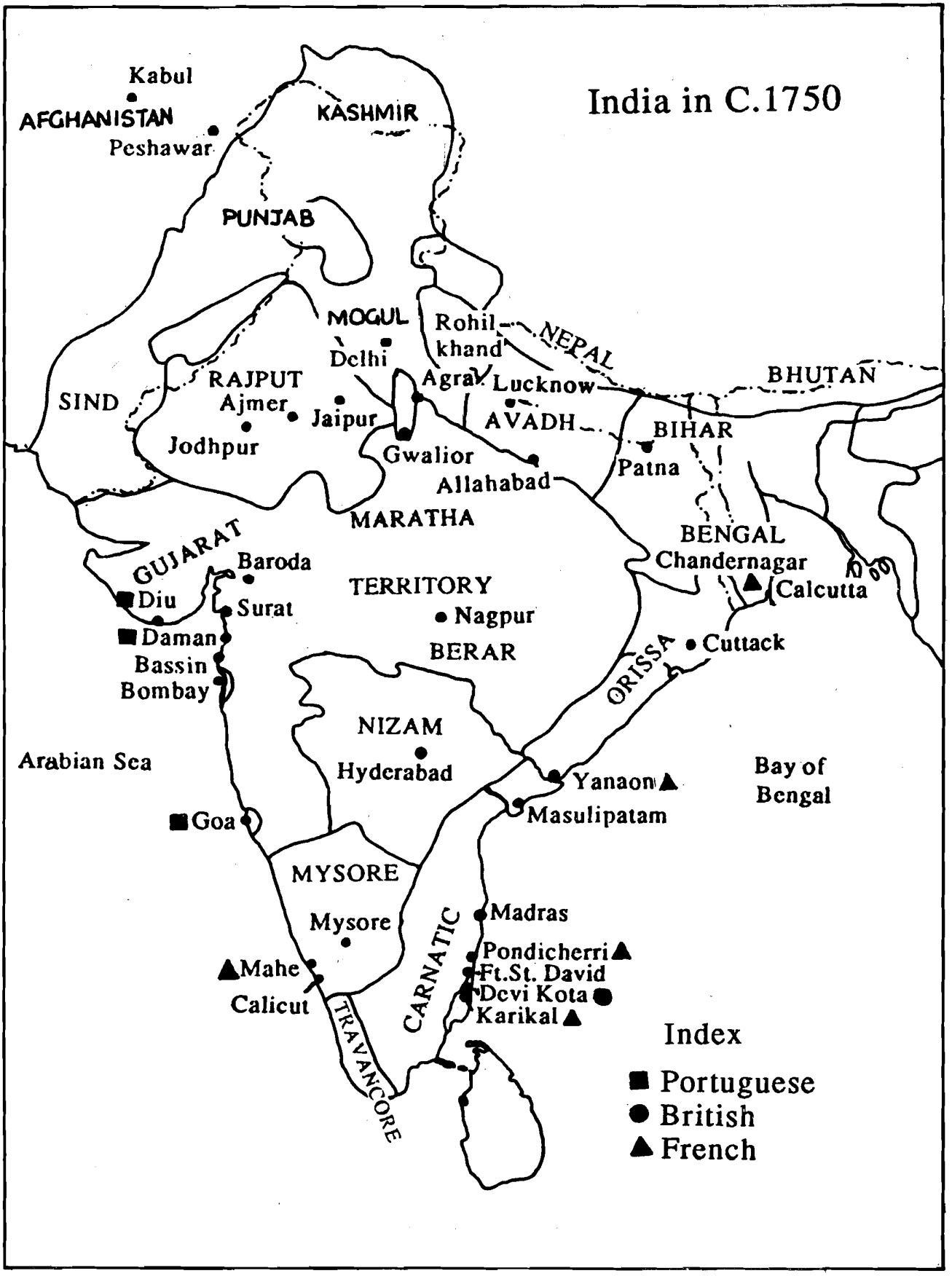
India in C.1750
Kabul
AFGHANISTAN
Peshawar
KASHMIR
PUNJAB
MOGUL
Delhi
Rohil-
khand
NEPAL
BHUTAN
SIND
RAJPUT
Ajmer
Jaipur
Jodhpur
Agra
Lucknow
AVADH
BIHAR
Patna
Gwalior
Allahabad
MARATHA
TERRITORY
GUJARAT
Baroda
Diu
Surat
Daman
Bassin
Bombay
Nagpur
BERAR
BENGAL
Chandernagar
Calcutta
ORISSA
Cuttack
NIZAM
Hyderabad
Arabian Sea
Bay of
Bengal
Yanaon
Masulipatam
Goa
MYSORE
Mysore
Madras
Pondicherri
Ft.St. David
Devi Kota
Karikal
CARNATIC
Mahe
Calicut
TRAVANCORE
Index
Portuguese
British
French

NMDC-268

अपने इन कार्यों से मुर्शीद कुली ने इन **जमींदारों** को प्रांत में एक शक्तिशाली राजनैतिक शक्ति के रूप में उभरने का मौका दिया। इसी प्रकार धनी और व्यापारी वर्ग को नवाब से प्रोत्साहन मिला और स्थानीय राजनीति में उन्होंने अपनी पहचान स्थापित कर ली। ये सभी गतिविधियां मुर्शीद कुली खां द्वारा बंगाल में अपना प्रभुत्व स्थापित करने की कुछ अभिव्यक्तियाँ थी। उसने अपने नाती सरफराज को अपना उत्तराधिकारी भी मनोनीत कर दिया। इस प्रकार उसने बंगाल में वंशगत शासन की परम्परा की शुरुआत कर दी। सरफराज को उसके पिता शुजाउद्दीन मौहम्मद खां ने पदच्युत कर दिया। शुजाउद्दीन ने मुर्शीद कुली द्वारा विकसित व्यवस्था का ही पालन किया और स्थानीय शक्ति समूहों के साथ व्यक्तिगत निष्ठा के संबंध बनाने का प्रयत्न किया। दिल्ली से उसका संबंध नजराना भेजने तक ही सीमित रह गया। दूसरे शासक अलीवर्दी खां ने सरफराज खां को मारकर गद्दी हथिया ली। अलीवर्दी के शासनकाल में स्वायत्तता और बढ़ी। मुगल शासक की परवाह न करते हुए वह प्रांतीय स्तर पर महत्वपूर्ण नियुक्तियां करने लगा। उसने अपने विश्वस्त व्यक्तियों को पटना, कटक और ढाका का उपनवाब नियुक्त किया। उसने राजस्व प्रशासन में बड़ी संख्या में हिंदुओं को नियुक्त किया और एक मजबूत सैन्य शक्ति का निर्माण किया। दिल्ली को भेजा जाने वाला नजराना भी अनियमित हो गया। अलीवर्दी के समय तक बंगाल, बिहार और उड़ीसा को मिलाकर एक प्रशासनिक व्यवस्था कायम हुई जिसने दिल्ली दरबार से अपना संबंध कम कर लिया और इस प्रकार पूर्वी भारत में एक स्वतंत्र राज्य का उदय हुआ।

### 36.3.3 हैदराबाद

अवध और बंगाल की तरह हैदराबाद में भी मुगल साम्राज्य की केंद्रीय सत्ता के कमजोर पड़ते ही दक्खन के **सूबेदार** को स्वायत्त राज्य स्थापित करने का आधार प्राप्त हो गया। निजाम उल मुल्क ने मुगलों द्वारा नियुक्त पदाधिकारियों को हटाकर और अपने आदमियों को नियुक्त कर हैदराबाद पर नियंत्रण स्थापित किया। उसने संधि और युद्ध करने तथा मनसब और उपाधियां देने का अधिकार प्राप्त कर लिया। अब मुगल सत्ता के नाम पर मात्र प्रतीकात्मक खुतबा पढ़ा जाता था। इस काल के दौरान राजस्व व्यवस्था में सुधार लाया गया, **जमींदारों** को दबाया गया और हिंदुओं के प्रति सहिष्णुता का भाव अपनाया गया। हैदराबाद में जमीन से जुड़े बिचौलियों को प्रोत्साहित किया गया और उन्होंने राज्य की राजनीति में प्रमुख भूमिका अदा की। राजनैतिक संतुलन स्थापित करने में बैंकरों, ऋणदाताओं और सैनिक अधिकारियों की महत्वपूर्ण भूमिका थी क्योंकि वे ही अनिवार्य वित्तीय और सैनिक सेवाएँ प्रदान करते थे। इस प्रकार निजामउलमुल्क के शासनकाल में हैदराबाद एक स्वतंत्र राज्य के रूप में विकसित हुआ और सम्राट के साथ नाममात्र का संबंध रह गया। उसके उत्तराधिकारियों को मराठों और यूरोपीय कम्पनियों से कड़ा संघर्ष करना पड़ा और वे ज्यादा दिन तक अपनी स्वायत्तता कायम न रख सके।

## 36.4 नये राज्य

क्षेत्रीय राज्यों की दूसरी श्रेणी में ऐसे नए राज्य शामिल हैं जिन्होंने मुगल सत्ता का विरोध कर अपने को स्थापित किया।

### 36.4.1 मराठा

इस काल में उभरने वाले प्रांतीय राज्यों में मराठा राज्य का स्थान प्रमुख है। मराठों का उदय एक तरफ मुगल केंद्रीकरण के विरुद्ध क्षेत्रीय प्रतिक्रिया का परिणाम था तो दूसरी ओर यह विशेष वर्गों और जातियों की उच्च वर्गों में अपने उच्चस्थ बढ़ोतरी की इच्छा का परिणाम। मराठों के केन्द्रीय क्षेत्र पर कभी भी मुगलों का पूर्ण नियंत्रण स्थापित नहीं हो सका। पेशवा बाला जी विश्वनाथ के समय पेशवा का पद बहुत शक्तिशाली हो गया और मराठा राज्य को प्रमुख विस्तारवादी राज्य का दर्जा प्राप्त हो गया। बाला जी विश्वनाथ से लेकर बालाजी राव के शासनकाल तक मराठा शक्ति अपने उत्कर्ष पर पहुंच गयी और मराठा उत्तर, दक्षिण, पूर्व और मध्य भारत चारों ओर फैल गए। पानीपत की तीसरी लड़ाई में 1761 ई. में अफगानों ने मराठों को हरा दिया। इससे मराठा शक्ति को गहरा धक्का पहुंचा और उनका विजय अभियान रुक गया। प्रशासनिक दृष्टि से पूरा क्षेत्र नियंत्रित और गैर-नियंत्रित इलाकों में बंटा था।

गैर-नियंत्रित इलाकों में **जमींदारों** और सरदारों को प्रशासन चलाने की छूट मिली हुई थी पर उन्हें पेशवा को नियमित रूप से नजराना पेश करना होता था। नियंत्रित इलाकों पर मराठों का प्रत्यक्ष नियंत्रण था। इन इलाकों में भू-राजस्व के मूल्याकंन, प्रबंधन और वसूली व्यवस्था का विकास किया गया। नई व्यवस्था में **वतन** व्यवस्था सर्वप्रमुख थी। **वतनदार** का भूमि पर वंशगत अधिकार होता था और यह अधिकार किसी एक व्यक्ति के पास नहीं बल्कि पूरे कुटुम्ब के पास होता था (विस्तार के लिए इकाई 19 पढ़िए)। मराठों ने मुगल प्रशासनिक व्यवस्था के कुछ हिस्सों को ग्रहण किया। उनका मुख्य ध्यान अधिशेष की प्राप्ति पर केंद्रित होता था। सुपरिभाषित प्रांतीय सत्ता के अभाव में वे अपने प्रभाव को सुदृढ़ करने में असफल रहे।

## 36.4.2 पंजाब

पंजाब का विकास अन्य क्षेत्रों से अलग ढंग पर हुआ। लाहौर के गवर्नर जकरिया खाँ ने पंजाब में स्वतंत्र राजनैतिक व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न किया। पर सिखों के स्वतंत्र राजनैतिक सत्ता के लिए संघर्ष के कारण वह असफल रहा। सिख आंदोलन की शुरुआत गुरूनानक ने की थी। आरंभ में यह धार्मिक विश्वासों में सुधार और सिख समुदाय में बंधुत्व की भावना को मजबूत करने तक सीमित था, पर 18वीं शताब्दी के दौरान यह राजनैतिक आंदोलन में बदल गया। सिखों ने अपने को छोटे और तीव्रगामी जत्थों में संगठित किया और मुगल साम्राज्य के लिए गंभीर चुनौती पैदा कर दी। विदेशी आक्रमण (ईरानी और अफगान), मराठा आक्रमण और प्रांतीय प्रशासन के आंतरिक तनावों के कारण पंजाब की हालत काफी अनिश्चित हो गई और इससे सिखों को अपना आधार मजबूत करने की छूट मिली। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विभिन्न **सिख** समुदायों ने कई स्थानीय सरदारों के नेतृत्व में अपने को 12 बड़े संघों या **मिस्लों** में पुनर्गठित किया। 19वीं शताब्दी के आरंभ में रंजीत सिंह के नेतृत्व में एक स्वायत्त सिख राज्य की स्थापना की प्रक्रिया पूरी हुई।

## 36.4.3 जाट राज्य

जाट कृषक जाति के थे और दिल्ली तथा आगरा क्षेत्र के निवासी थे। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुगल साम्राज्य को कई कृषि आधारित वर्गों के विद्रोहों का सामना करना पड़ा था, उनमें जाटों का आंदोलन महत्वपूर्ण था। समकालीन प्रवृत्ति का अनुगमन करते हुए जाटों ने भी अपने स्वतंत्र क्षेत्र या राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया। चूड़ामन और बदन सिंह ने इसमें पहल की पर सूरजमल ने 1756 और 1763 के बीच भरतपुर में जाट राज्य की स्थापना कर इसे मजबूती प्रदान की। यह राज्य पूर्व में गंगा, दक्षिण में चम्बल, उत्तर में दिल्ली और पश्चिम में आगरा तक फैला हुआ था। राज्य की प्रकृति सामंती थी और प्रशासनिक तथा राजस्व मामलों पर **जमींदारों** का पूर्ण नियंत्रण था। सूरजमल की मृत्यु के बाद यह राज्य ज्यादा दिन तक टिक नहीं पाया।

**बोध प्रश्न 1**

1) निम्नलिखित का मिलान कीजिए :

| | | | |
|---|---|---|---|
| i) | सआदत खाँ | (1) | बंगाल |
| ii) | जकरिया खाँ | (2) | हैदराबाद |
| iii) | मुर्शीद कुली खाँ | (3) | भरतपुर |
| iv) | सूरजमल | (4) | अवध |
| v) | निजाम उल मुल्क | (5) | पंजाब |

2) निम्नलिखित को परिभाषित कीजिए :

**जत्था** .....

**मिस्ल** .....

**वतनदार** .....

NMDC-268

## 36.5 स्वतंत्र राज्य

राज्यों की तीसरी कोटि में स्वतंत्र राज्यों का स्थान आता है। मूलत: इन राज्यों का उदय केंद्रीय सत्ता के कमजोर होने और क्षेत्रीय राज्यों पर इनकी पकड़ ढ़ीली होने के कारण हुआ।

### 36.5.1 मैसूर

मैसूर राज्य हैदराबाद के दक्षिण में अवस्थित था। हैदराबाद की तरह मैसूर मुगलों के सीधे नियंत्रण में नहीं था। मैसूर पहले विजयनगर साम्राज्य का अधीनस्थ राज्य था, बाद में वोडियार राजवंश ने यहां स्वायत्त राज्य की स्थापना की। 18वीं शताब्दी के दौरान हैदरअली और टीपू सुल्तान ने वोडयार शासकों को पदच्युत कर राज्य की स्वायत्तता को मजबूत किया। आरंभ में मैसूर पर एक तरफ मराठों का खतरा मंडरा रहा था और दूसरी तरफ हैदराबाद और कर्नाटक की तरफ से संकट थे, अंग्रेज भी मौके की तलाश में बैठे हुए थे। मैसूर सेना के कनिष्ठ पदाधिकारी के रूप में अपना जीवन शुरू करके हैदरअली इसका कुशल सेनानायक बन गया। उसने आधुनिक सेना के महत्व को ठीक से पहचाना और यूरोपीय सेना के ढंग पर मैसूर की सेना का आधुनिकीकरण किया। फ्रांसीसियों की सहायता से उसने सेना में संगठनात्मक अनुशासन स्थापित करने की कोशिश की। 1761 ई. तक उसने मैसूर राज्य के वास्तविक सत्ताधारी, मंत्री ननराज को पदच्युत कर दिया। उसने मैसूर की सीमा में विस्तार किया और मराठों, हैदराबाद और अंग्रेजों की दुश्मनी मोल ली। 1769 ई. में ब्रिटिश सेना ने हैदर को पराजित कर दिया। पर संघर्ष जारी रहा। 1782 ई. में उसकी मृत्यु के बाद 18वीं शताब्दी के अंत तक टीपू सुल्तान ने अपने पिता के संघर्ष को जारी रखा।

### 36.5.2 राजपूत राज्य

राजपूत शासकों ने भी अपनी स्वतंत्र राजनैतिक सत्ता स्थापित करने की कोशिश की। पड़ौसियों का राज्य हड़पकर उन्होंने अपने राज्य का विस्तार किया। मेवाड़, मारवाड़ और आमेर, जैसे राजपूत राज्यों ने मुगल साम्राज्य के खिलाफ गठबंधन कर लिया। पर राजपूतों की आपसी लड़ाई के कारण उनकी शक्ति कमजोर हुई। राजपूत राजाओं में जोधपुर के अजीत सिंह और जयपुर के जयसिंह सर्वप्रमुख हैं।

### 36.5.3 केरल

18वीं शताब्दी के आरंभ में केरल स्थानीय सरदारों और राजाओं के अधीन छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। पर 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह सब केरल, कोचीन, ट्रावणकोर और कालिकट जैसे महत्वपूर्ण राज्यों में समाहित हो गए। हैदरअली के अधीन मैसूर के विस्तार के कारण केरल मुश्किल परिस्थिति में पड़ गया। हैदरअली ने वस्तुत: मालाबार और कालिकट को अपने राज्य में मिला लिया। हैदरअली के आक्रमण से ट्रावणकोर बचा रहा। यह एक महत्वपूर्ण राज्य था। इसके राजा मार्तण्ड वर्मा ने ट्रावणकोर राज्य की सीमा कन्याकुमारी से कोचीन तक फैला दी। उसने पश्चिम के ढंग पर सेना को संगठित करने का प्रयास किया और राज्य के विकास के लिए कई प्रकार के प्रशासनिक कदम उठाए।

## 36.6 क्षेत्रीय शक्तियों की प्रकृति

विभिन्न क्षेत्रों में स्वायत्त राजनैतिक व्यवस्था का अलग-अलग ढंग से विकास हुआ। कुछ इलाकों में मुगल गवर्नरों ने अपने नियंत्रण क्षेत्र में स्वायत्त सत्ता की स्थापना की (जैसे बंगाल, अवध और हैदराबाद)। मराठा, सिख और जाट राज्यों की स्थापना मुगल साम्राज्य की सत्ता के विरुद्ध संघर्ष का नतीजा थी। मैसूर, राजपूताना और केरल पहले से ही अर्द्ध-स्वतंत्र थे। इन राज्यों का विकास जैसे भी हुआ हो, इन सबने अपनी अलग प्रशासनिक व्यवस्था कायम करने का प्रयत्न किया। उदाहरण के लिए हैदराबाद और मैसूर दोनों दक्षिण में स्थित थे, पर हैदराबाद सीधे मुगलों के नियंत्रण में था और मैसूर पर वोडियार

शासकों का नियंत्रण था। दोनों राज्यों में स्वायत्त प्रशासनिक व्यवस्था का विकास हुआ पर उनकी कार्यपद्धति अलग थी। मैसूर में सेना के संगठन को मजबूत करने पर बल दिया गया और स्थानीय सरदारों के नियंत्रण और शक्ति को दबाकर राज्य की वित्तीय स्थिति सुधारने की कोशिश की गई। पर हैदराबाद में स्थानीय सरदारों को नहीं छेड़ा गया। सेना के संगठन और राज्य के लिए राजस्व वसूल करने के तरीकों में भी अंतर था। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रीय शक्तियों ने भी अपने संस्थागत ढांचे खड़े किए और प्रशासन चलाने के लिए कई स्थानीय संस्थाओं का उपयोग किया। इन विभिन्नताओं के बावजूद 18वीं शताब्दी के दौरान क्षेत्रीय शक्तियों की कार्यपद्धति में कुछ समान विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

प्रांतों में उभरनेवाली स्वतंत्र राजनैतिक व्यवस्था ने मुगल सत्ता से अपना संबंध बनाए रखा। हालांकि मुगल सम्राट का प्रांतीय प्रशासन पर कोई नियंत्रण नहीं रह गया था। पर अभी यह प्रांतीय राज्यों के लिए छत्रछाया के रूप में कार्य कर रहा था। नव उदित क्षेत्रीय शक्तियों ने उसके इस महत्व को स्वीकार किया। यहां तक कि मराठों और सिखों के विद्रोही सरदारों ने भी कभी-कभी मुगल सम्राट को सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार किया। निस्संदेह प्रत्येक राज्य ने अपनी प्रशासनिक व्यवस्था और सेना को अपनी जरूरत के अनुसार पुनर्व्यवस्थित किया, पर इन राज्यों ने मुगल प्रशासनिक व्यवस्था को ही ग्रहण किया। बंगाल, अवध और हैदराबाद में मुगल गवर्नरों द्वारा स्वतंत्र सत्ता कायम की गयी थी। अत: यहां स्वाभाविक रूप से मुगल प्रशासनिक व्यवस्था का पालन किया गया। यहां तक कि मराठा राज्यों ने भी प्रशासन में मुगल पद्धति ही अपनाई। हालांकि इस संदर्भ में यह ध्यान रखना चाहिए कि कई मुगल संस्थायें तो जारी रहीं परंतु मुगल राजनैतिक व्यवस्था का अंत हो गया। 18वीं शताब्दी में विकसित राजनैतिक व्यवस्था अपनी प्रकृति में क्षेत्रीय थी। इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता है जिससे यह कहा जा सके कि इन क्षेत्रीय राजनैतिक व्यवस्थाओं की मूलभूत विशेषताएँ मुगलों से भिन्न थीं।

18वीं शताब्दी में उभरी क्षेत्रीय राजनैतिक व्यवस्था ने **जमींदारों,** व्यापारियों, स्थानीय कुलीनों और सरदारों, जैसे विभिन्न स्थानीय समूहों के साथ मिलकर कार्य किया। 18वीं शताब्दी में केन्द्रीय सत्ता कमजोर पड़ने और मुगल राजकोष के खाली हो जाने पर व्यापारियों ने क्षेत्रीय राजनैतिक व्यवस्था के उदय और कार्य संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने कुलीनों और शासकों को आवश्यक वित्तीय सहायता प्रदान की और इस प्रकार प्रशासन में उनका स्थान महत्वपूर्ण हो गया। उदाहरण के लिए बनारस के अग्रवाल बैंकर राजस्व मामलों पर नियंत्रण रखते थे। इसी प्रकार बंगाल में जगत सेठ घसने ने सत्ता की राजनीति में निर्णायक भूमिका निभाई। केन्द्रीय सत्ता के अभाव में व्यापारियों के समान **जमींदार** और स्थानीय सरदार अपने क्षेत्र की जनता के संरक्षक के रूप में उभरे। अपने अपने नियंत्रण क्षेत्र में **जमींदार** राजस्व और न्यायिक दोनों प्रशासन देखते थे। आम आदमी इन **जमींदारों** की कृपा पर निर्भर था। स्वाभाविक रूप में इस नव निर्मित क्षेत्रीय राजनैतिक व्यवस्था में इन **जमींदारों** को जबरदस्त स्थानीय आधार प्राप्त था। अपनी शक्ति को बनाये रखने के लिए ये प्रांतीय शासक इन कतिपय स्थानीय हितों का ध्यान रखते थे। कुछ अपवाद भी मौजूद थे। उदाहरण के लिए मैसूर के शासक स्थानीय सरदारों को महत्व नहीं देते थे और अपनी मजबूत सेना और राजस्व पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर उन्होंने इन्हें पूर्णत: दरकिनार कर दिया। पर आमतौर पर 18वीं शताब्दी के दौरान क्षेत्रीय राजनैतिक व्यवस्था के प्रशासन में इन स्थानीय समुदायों की निर्णायक भूमिका रही है। इसे क्षेत्रीय राजनैतिक व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण कमजोरी के रूप में देखा जा सकता है। इससे पता चलता है कि प्रांतीय शासक सुदृढ़ वित्तीय, प्रशासनिक और सैन्य संगठन की स्थापना नहीं कर पाए थे। अत: उन्हें स्थानीय समुदायों के सहयोग और सहायता पर निर्भर रहना पड़ता था। यह क्षेत्रीय राजनैतिक व्यवस्था के प्रशासन की सबसे बड़ी कमजोरी थी और इसी कारण यहाँ स्थाई राजैनतिक व्यवस्था कायम न हो सकी। इसके अलावा ये क्षेत्रीय राज्य हमेशा अपने पड़ौसी राज्यों से लड़ते रहते थे। खासकर मराठों और दक्षिणी राज्यों के बीच अपने राज्यों की सीमाओं के विस्तार के लिए होड़ लगी रहती थी। इससे क्षेत्रीय शक्तियों के बीच तनाव पैदा हुआ और अंतत: इनमें से कोई किसी पर वर्चस्व स्थापित न कर सका। क्षेत्रीय शक्तियों के बीच एकता न रहने से बाहरी शक्तियों को भारत में पैर जमाने का मौका मिल गया।

NMDC-268

**बोध प्रश्न 2**

1) 18वीं शताब्दी के आरंभ में स्वायत्त राज्यों के उदय की पद्धति का विश्लेषण कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) 18वीं शताब्दी के आरंभ में क्षेत्रीय राजनीति की प्रकृति का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 36.7 सारांश

इस इकाई में अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में क्षेत्रीय शक्तियों के उदय पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रक्रिया को समझने के लिए पहले हमने मुगल साम्राज्य के पतन से उत्पन्न स्थिति पर विचार किया। इसके बाद उत्तराधिकारी राज्यों, नये राज्यों और स्वतंत्र राज्यों के अधीन क्षेत्रीय राज्यों की तीन श्रेणियों पर विचार किया गया। इन राज्यों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित की पर वे मुगल सत्ता से पूर्णत: अपना संबंध विच्छेद न कर सके। अत: ये क्षेत्रीय राज्य अखिल भारतीय स्तर पर एक ऐसी नई राजनैतिक व्यवस्था का निर्माण न कर सके जो मुगल व्यवस्था का विकल्प बन सके। यूरोपीय शक्तियों ने इस कमजोरी का फायदा उठाकर भारत में अपने पैर जमा लिए।

## 36.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) i) 4, ii) 5, iii) 1, iv) 3, v) 2.
2) देखिए उपभाग 36.4.1, 36.4.2

**बोध प्रश्न 2**

1) देखिए उपभाग 36.2, 36.3, 36.4, 36.5 बताइए कि क्षेत्रीय राजनैतिक शक्तियों का उदय एक समान नहीं हुआ। कुछ उत्तराधिकारी राज्य थे, और कुछ बिल्कुल स्वतंत्र रूप में उदित हुए।
2) भाग 36.6 पढ़िए। क्षेत्रीय राजनैतिक व्यवस्था की मूलभूत विशेषताओं पर विचार कीजिए और यह बताइए कि यह केन्द्र की प्रकृति से किस हद तक मिलती थी।

NMDC-268

# इकाई 37 आर्थिक विकास की संभावनाएँ : अवलोकन

यह इस पाठ्यक्रम (ई.एच.आई.-04) की अंतिम इकाई है। अब तक आप 16-18वीं शताब्दी के मध्यकालीन भारत के कई पक्षों से परिचित हो चुके हैं। यहाँ हम पिछले खंडों में चर्चित विषयों को दुहराने नहीं जा रहे हैं। वस्तुत: हम यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करने जा रहे हैं। यहाँ हमने इस इकाई को बनी बनाई संरचना में नहीं ढाला है ताकि आप एक लय में पूरे तर्क को समझ सकें। यहाँ हम मध्यकालीन भारत की आर्थिक संरचना के प्रश्न पर विचार करने जा रहे हैं।

एक सवाल अक्सर पूछा जाता है कि ब्रिटिश आक्रमण के पूर्व भारत में औद्योगीकरण और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का विकास क्यों नहीं हुआ? दूसरे शब्दों में, क्या यूरोप की तर्ज पर मुगलकालीन भारत में पूंजीवाद के विकास की संभावनाएँ थीं? इस प्रश्न पर डब्ल्यू. एच. मोरलैंड (**इंडिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर, लंदन, 1929, फ्रॉम अकबर टू औरंगजेब, लंदन, 1923**) और ब्रज नारायण (**इंडियन एकोनॉमिक लाइफ, पास्ट एंड प्रेजेंट, लाहौर, 1929**) ने सरसरी तौर पर विचार किया है। हालांकि 1960 के बाद से मौरिस डी. मौरिस (1963), टोरू मतसुइ, विपिन चंद्र और तपन राय चौधरी (1968) ने लगातार इस प्रश्न पर बहस की है। पर वे मुख्य रूप से 19वीं शताब्दी के भारत की बात करते हैं। हमारे लिए मुगल अर्थव्यवस्था की स्थिति पर अपने को केन्द्रित करना अधिक उपयोगी होगा। इस संदर्भ में इरफान हबीब ने काम किया है और मुगलकालीन भारत की अर्थव्यवस्था में पूंजीवादी विकास की संभावनाओं का पता लगाया है (**अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक इतिहास कांग्रेस, ब्लूमिंग्टन, 1968 में प्रस्तुत और एन्क्वायरी, न्यू सीरीज, वर्ष-111, अंक 3, 1971, पृ. 1-56 में प्रकाशित**)। इसके बाद ए. आई. शिश्किन ने अपनी कृति "**इंडिया : एकोनॉमिक डेवलपमेंट इन द 16-18 सैंचुरी, मास्को, 1971**" में इस पर विचार किया है। (आप **द इंडियन हिस्टॉरिकल रिव्यू, वर्ष 1, अंक-2, सितंबर 1974, पृ. 240-46 में प्रकाशित ए. जान कैसर का "द रोल ऑफ ब्रोकर्स इन मेडिवल इंडिया"** का भी अध्ययन कर सकते हैं)।

यहाँ हम इस तथ्य की खोज करने के लिए प्रयत्नशील नहीं हैं कि मुगलकाल में पूंजीवादी ढांचा क्यों नही खड़ा हो सका, हमारा मुख्य उद्देश्य यह पता लगाना है कि मुगल अर्थव्यवस्था से पूंजीवादी विकास के संकेत मिलते रहे थे या नहीं ? महत्वपूर्ण बात यह है कि 17वीं शताब्दी में यूरोप पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से नहीं गुजर रहा था। उदाहरण के लिए इंग्लैंड में 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जाकर पूंजीवाद का उदय आरंभ होने लगा था। इस समय इंग्लैंड में मुख्य रूप से व्यापारिक पूंजीवाद का विकास हो रहा था, औद्योगिक पूंजीवाद का नहीं।

सबसे पहले यह स्पष्ट कर लें कि पूंजीवाद शब्द का तात्पर्य क्या है ? इसके बाद ही हम मुगल अर्थव्यवस्था में इसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति की बात कर सकते हैं। आइए, आरंभिक पूंजीवाद की महत्वपूर्ण विशेषताओं को सूचीबद्ध किया जाए :

i) उत्पादन-प्रक्रिया पर पूंजी का नियंत्रण;

ii) मुद्रा या बाज़ार संबंध;

iii) "वस्तुओं की अतिशय जमावट" (कार्ल मार्क्स); और

iv) उत्पादन तकनीक में नयापन।

इस बात में कोई शक नहीं है कि मध्यकालीन भारत में व्यापारियों के पास काफी पूंजी थी। यूरोपीय दस्तावेजों में उनके धन का आकलन किया गया है। बताया जाता है कि 1663 ई. में सूरत के कुछ व्यापारियों के पास 50-60 लाख रुपये से ज्यादा धन राशि थी। सूरत के मुल्ला अब्दुल गफूर के पास 80 लाख रुपये से भी ज्यादा की सम्पदा थी। उसके पास बीस जहाज थे (प्रत्येक का वजन 300 और 800 टन के बीच था)। अंग्रेज कारखानेदार बताते हैं कि उसका व्यापारिक लेन-देन कम्पनी से किसी भी प्रकार कम नहीं था। सूरत के अन्य व्यापारी के पास कहा जाता है कि 80 लाख रुपये से ज्यादा की सम्पदा थी। मैनरिक (1630) आगरा के व्यापारियों की अपार सम्पत्ति देखकर चकित था, उसने कुछ व्यापारियों के घर में "अनाज की तरह भरा" हुआ धन देखा था।

NMDC-268

इसके अलावा व्यापारी अपने धन को व्यापार में लगाते रहते थे। गैर-व्यापारिक समुदायों का धन भी व्यापारिक गतिविधियों में लगाया जाता था। मुगल सम्राट, राजघराने की महिलाएं, राजकुमार और कुलीन अपना धन व्यापार में लगाते थे और कइयों के पास अपने जहाज भी थे। यह सही है कि उनका निवेश व्यापारियों के मुकाबले कम था पर महत्वपूर्ण बात यह है कि उनकी भागीदारी से "मुद्रा बाजार" का आकार अपने ढंग से बढ़ा।

मुगलकालीन भारत में ऋण और बैंकिंग व्यवस्था पूर्ण विकसित थी। आप सर्राफ की भूमिका और कार्यों के बारे में पहले ही पढ़ चुके हैं। सर्राफ एक प्रकार का बैंकर था जो मुद्रा का लेन-देन करता था और हुंडी नामक विनिमय पत्र जारी करता था। (खंड 6 इकाई 24)। सर्राफ व्यापारियों की हुंडियों पर कमीशन लेता था और इस प्रकार वाणिज्य के लिए उपलब्ध मुद्रा में विस्तार होता था। इसके अलावा मार्ग (थल और जल दोनों) में माल के बीमे से सम्बद्ध वित्तीय प्रथा भी काफी विकसित थी। इसके अतिरिक्त ऋण दाता संस्थाएँ भी विकसित थीं जो सूद पर और बंधक रखकर ऋण दिया करती थीं। इस प्रकार 17वीं और 18वीं शताब्दियों के दौरान आधारभूत वित्तीय और आर्थिक संस्थाएँ स्पष्ट रूप में मौजूद थीं। ये संस्थाएँ मध्यकालीन अर्थव्यवस्था को पूंजीवाद के मार्ग पर ले जा सकती थीं।

इसके अलावा वस्तुओं मसलन कपड़ा, शोरा, नील आदि का उत्पादन बड़े पैमाने पर हो रहा था। दलाली की संस्था के माध्यम से भारतीय और विदेशी व्यापारियों तक माल आसानी से पहुँच जाया करता था। मध्यकालीन तकनीकी सीमाओं को देखते हुए यातायात के साधन भी अच्छे खासे विकसित थे। उत्पादन प्रक्रिया पर पूंजी के वर्चस्व और नियंत्रण से ही सही अर्थों में पूंजीवादी संबंधों का विकास हो सकता है। औद्योगिक और व्यापारिक पूंजी में यही मुख्य अंतर है। व्यापारिक पूंजी का उत्पादन से सीधा संबंध नहीं होता है। दूसरे शब्दों में व्यापारियों का उत्पादन पर नियंत्रण नहीं होता था। इसमें उत्पादन का कार्य स्वतंत्र रूप से कारीगर स्वयं करता था। वह स्वयं कच्चा माल खरीदता था, अपने घर पर काम करता था (घरेलू उत्पादन व्यवस्था), माल तैयार करता था और उस माल को बाजार में जाकर बेचता था। पूंजीवाद में ये सारी विशेषताएँ समाप्त हो जाती हैं और स्वतंत्र कारीगर एक मजदूर बनकर रह जाता है। धीरे-धीरे औद्योगिक पूंजी का उत्पादन के साधनों पर अधिकार हो गया और इसने सम्पूर्ण व्यवस्था पर नियंत्रण स्थापित कर लिया। पर व्यापारिक से औद्योगिक पूंजीवाद में परिवर्तन अचानक एकाएक नहीं हो गया। व्यापारिक पूंजीवाद में ही एक संक्रमण काल आया। इसे "पुटिंग आउट" व्यवस्था कहा जाता है (आपने इसके बारे में खंड 6 की इकाई 22 में पढ़ा होगा)।

इस संक्रमण काल के चरित्र तथा विस्तार को समझना आवश्यक है। इसके अंतर्गत धीरे-धीरे उत्पादन तथा कारीगरों पर पूंजी का नियंत्रण हो गया। भारत में 17वीं शताब्दी से भी पहले से सीमित पैमाने पर इस प्रकार की व्यवस्था मौजूद थी जिसे ददनी के नाम से जाना जाता था। इसी समय दलालों का जन्म हुआ क्योंकि उन्हीं के माध्यम से व्यापारी प्राथमिक उत्पादकर्ता तक अग्रिम राशि पहुंचाते थे। आइए पहले "पुटिंग आउट व्यवस्था" की आर्थिक संरचना निर्धारित कर लें। 17वीं शताब्दी के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था माल बेचने वाले (उत्पादन कर्ताओं) के पक्ष में थी। मांग की कोई कमी नहीं थी और बाजार में खरीददारों के बीच प्रतियोगिता लगी रहती थी। अत: व्यापारियों की दृष्टि में, खासकर जो विदेशी व्यापार में लगे हुए थे, "पुटिंग आउट व्यवस्था" के जरिए वे अपने प्रतिद्वंद्वियों को दूर रखते थे और अपनी मनपसंद चीज जरूरत के हिसाब से प्राप्त करते थे, दर पहले से तय होती थी। दूसरी तरफ प्राथमिक उत्पादक को अग्रिम राशि मिल जाती थी। उसे काफी मात्रा में उत्पादन करना होता था और वह इस राशि का उपयोग कच्चा माल खरीदने के लिए करता था। (दूसरे चरण में कच्चे माल की भी आपूर्ति की गई)। इस प्रकार "पुटिंग आउट व्यवस्था" के कारण आर्थिक दृष्टि से व्यापारियों और कारीगरों दोनों का भला हुआ। इस संदर्भ में, उत्पादन प्रक्रिया में "पुटिंग आउट व्यवस्था" के जरिए व्यापारिक पूंजी के प्रवेश को समझने के लिए यह जानना जरूरी होगा कि क्या कारीगरों को व्यापारी अग्रिम राशि या कच्चा माल (या दोनों) और उत्पादन के औजार भी उपलब्ध कराते थे। कपड़ा निर्माण उद्योग में इस बात के काफी प्रमाण हैं कि नकद रूप में अग्रिम राशि दी जाती थी। अत: यह कहा जा सकता है कि उस समय अग्रिम के रूप में नगद देने का प्रावधान था। पर कच्चा माल देने की प्रथा कम थी और उत्पादन के औजार उपलब्ध कराने की प्रथा लगभग नहीं के बराबर थी।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि बुनकरों को कच्चा माल (धागा) देने की प्रथा इस कारण चल पड़ी क्योंकि यह समझा जाता था कि नकदी देने पर भी बुनकर अक्सर घटिया कोटि का माल लगाया करते

NMDC-268

थे। ऐसा लगता है कि जब बुनकर स्वयं धागा या कच्चा रेशम खरीदता था तो उसे कुछ फायदा हो जाता था और व्यापारीगण उसकी गुणवत्ता पर प्रश्नचिह्न लगाया करते थे। अत: यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कारीगर व्यापारियों द्वारा कच्चे माल की आपूर्ति पसंद नहीं करते होंगे क्योंकि इससे उनका मुनाफा घट जाता होगा। इसी प्रवृत्ति के कारण इस प्रथा यानि कच्चे माल की आपूर्ति संबंधी कोई सटीक आंकड़ा नहीं प्राप्त होता है।

इस प्रकार "पुटिंग आउट व्यवस्था" यहां नगदी अग्रिम देने तक सीमित थी। 17वीं शताब्दी के अंतिम दशकों के बंगाल पर टिप्पणी करते हुए स्ट्रेनशम मास्टर कहते हैं :

> ढाका में मलमल, सूती वस्त्र आदि के लिए अग्रिम राशि देने का सही मौसम जनवरी का महीना होता है। इनकी आपूर्ति के लिए दलाल या मध्यस्थ चार महीने का समय लेते हैं और छह महीने के भीतर बुनकरों से अपरिष्कृत भूरे रंग का कपड़ा लाते हैं।
>
> ये दलाल पैसा लेकर पैकारों को देते हैं जो इसे एक शहर से दूसरे शहर ले जाकर कारीगरों तक पहुंचाता है . . ।

यहां मास्टर धागे की आपूर्ति की बिल्कुल चर्चा नहीं करता है। अन्य स्रोत भी हमें इसी निष्कर्ष पर पहुंचाते हैं। हमें कच्चे रेशम की आपूर्ति के संबंध में इंग्लिश फैक्टरी के दस्तावेजों में एक संदर्भ का उल्लेख मिलता हैं। यहां यह कारण बताया गया है कि गरीबी के कारण बुनकर अपेक्षित गुणवत्ता का रेशम नहीं खरीद पाते थे।

गुजरात में यह प्रथा (अग्रिम नगद राशि देना) बंगाल से ज्यादा व्यापक पैमाने पर फैली हुई थी। पर यहां भी यह प्रथा विकसित "पुटिंग आउट व्यवस्था" में विकसित न हो सकी। यहां तक कि शिचेरोव भी जो पूंजीवादी संबंधों के विकास का प्रबल समर्थक है, कारीगर को दिए जाने वाले कच्चे माल यानि धागे की आपूर्ति से संबंधित आंकड़े की कमी से स्तब्ध हो जाता है। वह स्वयं बताता है कि ग्रामीण इलाकों में "कच्चे माल की आपूर्ति की समस्या कभी नहीं रही क्योंकि कपास की खेती बृहत् पैमाने पर और कुछ इलाकों मे हर जगह होती थी, यह भारत की खास आर्थिक भौगोलिक विशेषता थी, कपास सभी खेतों में उपजाया जा सकता था या नजदीक के बाजार से खरीदा जा सकता था।" आगे पुन: वे बताते हैं कि "कताई का काम केवल बुनकर ही अपने घरों में नहीं करते थे बल्कि आम किसान भी यह काम करता था, इस प्रकार बुनकरों को लगातार और बड़ी मात्रा में कच्चा माल मिलता रहता था।" अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 17वीं शताब्दी के दौरान "पुटिंग आउट व्यवस्था" के तहत अग्रिम नगद राशि देने का प्रावधान था।

अब हम उत्पादन के संबंधों में बदलाव लाने में नगद अग्रिम की प्रथा की भूमिका की चर्चा कर सकते हैं। व्यापारी कारीगरों को अग्रिम राशि दिया करते थे पर वे उत्पादन प्रक्रिया में कोई खास हस्तक्षेप नहीं करते थे और इससे उत्पादन के संबंधों में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ। यह सही है कि एक अर्थ में उत्पादनकर्ता व्यापारी से अपने वादे से "बंधा" होता था, उसे खास समय में, नियत दर पर, खास मात्रा में और व्यापारी के आदेश के मुताबिक उत्पादन करना पड़ता था। पर कारीगर अभी भी उत्पादन के औजारों का मालिक था और कच्चा माल भी स्वयं उपलब्ध करता था। अंतर इतना ही हुआ कि वह अपना उत्पाद अग्रिम राशि देने वाले को ही बेच सकता था। व्यापारियों से इस प्रकार का आदेश प्राप्त करने में उसकी कोई विशेष आर्थिक मजबूरी (गरीबी के अलावा) नहीं थी। दूसरी तरफ व्यापारियों ने भी इसे स्वीकार कराने के लिए अन्य हथकंडे नहीं अपनाये। वस्तुत: व्यापारियों को अपने हित में कारीगरों से अग्रिम राशि लेने का अनुरोध करना पड़ता था। उदाहरण स्वरूप 1665 में अंग्रेज कारखानेदार सूरत से लिखता है :

डच आदि सूती कपड़ा खरीद लिया करते थे। अत: हमें कारीगरों से प्रार्थना करनी पड़ती थी और हम बुनकरों को जो कुछ भी बन पड़ता था देते थे। हम उन्हें 8-10 महीने पहले राशि दे दिया करते थे। वे हमसे बस इसी कारण जुड़े हुए थे।

यहां बुनकरों द्वारा अग्रिम राशि स्वीकार किए जाने पर व्यापारी अपने को उपकृत मानते थे। पर यह बंधन" भी बहुत मजबूत नहीं था। 1647 में थाट्टा स्थित अंग्रेज कारखानेदार ने सूरत फैक्ट्री को लिखा :

NMDC-268

> इसके अलावा ये बुनकर अपने वादे के पक्के नहीं हैं, हम उन्हें अग्रिम राशि देते हैं, यह राशि हम वर्ष के आरंभ में देते हैं जब उन्हें पैसे की बहुत जरूरत होती है पर जैसे ही उनके पास कोई फेरी वाला कपड़ा व्यापारी या पैकार खरीददारी के लिए पहुंच जाता था वे हमारा साथ छोड़कर उनके लिए काम करने लगते थे, वह अग्रिम राशि भी नहीं देते थे, हमारे कपड़े बुनने में उन्हें अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है और उनके कपड़े आसानी से बुन लिए जाते हैं।

1622 ई. में वे भड़ौंच से फिर लिखते हैं : "हमें अग्रिम राशि काफी पहले देनी होती थी पर तैयार माल का मिलना बुनकर और दलाल की मर्जी पर आधारित होता था"।

ऊपर कही गई बात असंगत है क्योंकि 17वीं शताब्दी के दौरान व्यापारी और उत्पादक के बीच के संबंध पर विचार करते हुए शिचेरोव "आर्थिक बंधन", "आर्थिक निर्भरता", "शारीरिक प्रताड़ना" और "व्यापारी एकाधिकार" की बात करता है। अब कारीगर स्वतंत्र उत्पादक न रहकर "ठेके का उत्पादक" बन गया था। यह सही है कि वह अपने उत्पाद का मालिक नहीं रहा, पर अभी भी उसे कच्चे माल और उत्पादन के औजार के स्वामित्व से अलग नहीं किया जा सकता था।

कारीगर जब तक घरेलू उत्पादन प्रक्रिया से जुड़े थे तब तक उत्पादन के सही अर्थ में पूंजीवादी संबंध विकसित नहीं हो सकते थे। अग्रिम राशि लेकर उत्पादन करने की प्रथा में भी उत्पादक का औजार और कच्चे माल पर अधिकार बना हुआ था। इससे पता चलता है कि श्रम पर व्यापारिक पूंजी की पकड़ बहुत कमजोर थी। जब तक इनसे कारीगरों का अलगाव नहीं होता और ये एक साथ एक छत के नीचे बैठकर किसी एक वरिष्ठ पूंजीपति के निर्देश पर बड़ी संख्या में उत्पादन नहीं करते तब तक पूंजीवादी प्रवृत्ति का विकास नहीं होता। पर इस स्थिति में पुटिंग आउट व्यवस्था तथा दलाली व्यवस्था अंततः लुप्त हो सकती है और इसका स्थान उत्पादन के नए संबंध लेते हैं।

दूसरी तरफ हमें 17वीं शताब्दी में अधिशेष मूल्य अर्जित करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है जिसमें मजदूरी कम करके ज्यादा काम लेकर कुछ श्रम समय की बचत हो सके। अगर व्यापारी गैर-आर्थिक हथकंडे अपनाते तो घरेलू व्यवस्था के अंतर्गत कार्य कर रहे इन कारीगरों का इतने लंबे समय तक उत्पादन के साधनों पर अधिकार न रहता। औजारों को बनाना या खरीदना आसान और सस्ता था और किसी प्रकार के तकनीकी परिवर्तन न होने से वे न मंहगे हुए और न कारीगरों की पहुंच के बाहर थे और इस प्रकार इन पर उनका अधिकार बना रहा। यहां मार्क्स के कथन का उल्लेख प्रासंगिक होगा :

> इस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था के विकास की प्रक्रिया में उत्पादन के साधनों पर मजदूर का अधिकार छीन लिया जाता है, इस प्रक्रिया द्वारा एक तरफ जीवनयापन के सामाजिक साधन बदल जाते हैं और उत्पादन में पूंजी का वर्चस्व हो जाता है, दूसरी तरफ उत्पादक मजदूर बन जाता है।

यहां हम यह नहीं कहना चाहते हैं कि व्यापारिक पूंजी का उत्पादन के संगठन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। "पुटिंग आउट व्यवस्था" ने उत्पादक के "स्वतंत्र" अस्तित्व को "ठेके के मजदूर" में बदल दिया। यह उसे बाजार से भी काट देता है। यह प्रक्रिया स्वयं इस व्यवस्था में अंतर्निहित होती है। इसके अलावा बंगाल और गुजरात में विदेशी व्यापारियों द्वारा स्थापित कुछ कारखानों का हवाला मिलता है तथा कपड़ों की रंगाई और शोरे आदि के शोधन के लिए स्थापित इकाइयों का वर्णन 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मिलता है। यह परिवर्तन की दशा में एक कदम था। पर ये परिवर्तन इतने आधारभूत और व्यापक नहीं थे कि सही अर्थों में पूंजीवादी संबंधों का विकास कर सके। असल में ये सभी परिवर्तन उत्पादन की मौजूदा व्यवस्था के तहत ही हो रहे थे जहां उत्पादन की प्रक्रिया पर व्यापारिक पूंजी की पकड़ काफी कमजोर थी। इस प्रकार यह कहना गलत होगा कि भारत में 17वीं शताब्दी के दौरान व्यापारिक पूंजी ने "उत्पादन के परम्परागत सूत्रों" को तोड़ दिया था। यह बहुत छोटे भाग तक सीमित था और इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

यह सवाल अपने आप में महत्वपूर्ण है कि "पुटिंग आउट व्यवस्था" के जरिए क्रियाशील होने के बावजूद व्यापारिक पूंजी श्रम पर नियंत्रण क्यों नहीं स्थापित कर सकी ? इरफान हबीब ने परीक्षण करके बताया है कि व्यापारिक पूंजी के विकास का अभाव इस असफलता का कारण नहीं है। हम पहले ही बता चुके हैं

NMDC-268

कि यहां मांग का अभाव नहीं था और बाजार प्रतियोगी खरीददारों से भरा पड़ा था और उत्पादक लाभ की स्थिति में थे, कारीगरों पर कोई विशेष आर्थिक दबाव नहीं था और न ही उन्हें गैर आर्थिक तरीकों से प्रताड़ित किया जा रहा था और वह अपनी मर्जी से सौदा करता था। इसके अलावा "पुटिंग आउट व्यवस्था" के तहत कार्य कर रहे "ठेके के मजदूरों" के अलावा कारीगर स्वतंत्र रूप से भी उत्पादन कर रहे थे। ऐसे कारीगरों की संख्या ज्यादा नहीं तो बराबर अवश्य थी। इसके अलावा कारीगर एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में चले जाते थे और अपना पेशा भी बदल लेते थे अत: गरीबी के दबाव में वे किसी "आर्थिक बंधन" या "निर्भरता" के जाल में नहीं फंसते थे। शिचेरोव ने कारीगरों की गरीबी पर बहुत जोर डाला है। अंतत: जैसा कि हम पहले बता चुके हैं कि दलाल और व्यापारी के हित हमेशा एक से नहीं होते। दलाल येन केन प्रकारेण गलत ढंग से धन कमाने की युक्ति लगाता रहता था, उत्पादक और व्यापारी दोनों इसके शिकार बनते थे। अत: हमेशा व्यापारिक पूंजी के हित में काम नहीं करता था, कभी-कभी वह कारीगरों से भी गठबंधन किया करता था।

ये सभी तथ्य वस्तुत: मार्क्स के दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं :

> व्यापारिक पूंजी के रूप में पूंजी के स्वतंत्र और प्रबल विकास में उत्पादन पूंजी के अधीन नहीं होता है, और इस प्रकार उत्पादन के नवीन तरीके के आधार पर विकसित हो रही पूंजी से उसका अस्तित्व अलग होता है। इस प्रकार व्यापारिक पूंजी का स्वतंत्र विकास समाज के आम आर्थिक विकास से मेल नहीं खाता है।

संभवत: उत्पादन प्रक्रिया से सबसे नजदीक से जुड़े कुछ व्यापारियों, खासकर "दलाल ठेकेदारों" (मध्यस्थ व्यापारियों) के लिए उत्पादक उद्यम का विकास करना कठिन काम नहीं होता। मुगल सम्राटों, कुलीनों और कुछ यूरोपीय कम्पनियों के कारखाने इसके उदाहरण हैं। पर तकनीकी में आधारभूत बदलाव के अभाव में केवल उत्पादन के संगठन में परिवर्तन से कोई मूलभूत परिवर्तन न हो सका।

NMDC-268

# इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें


| | | |
|---|---|---|
| इरफान हबीब | : | **मुगलकालीन भारत की कृषि व्यवस्था (1556-1707)** |
| इरफान हबीब | : | **मध्यकालीन भारत (भाग 1)** |
| जी. डी. शर्मा | : | **राजपूत राज्य व्यवस्था** |
| अतहर अली | : | **मुगल अमीर वर्ग** |
| सतीश चन्द्र | : | **पार्टी एण्ड पॉलिटिक्स एट द मुगल कोर्ट (1707-1740)** (हिन्दी-अनुवाद) |
| मुज़फ्फर आलम | : | **द क्राइसिस ऑफ एम्पायर इन मुगल नार्थ इंडिया : अवध एण्ड पंजाब (1707-1748)** |
| चेतन सिंह | : | **पंजाब इन द 17th सैंचुरी** |
| रिचर्ड बारनेट | : | **नॉर्थ इंडिया बिटवीन द एम्पायर्स** |


NMDC-268

# NOTES

NMDC-268

# NOTES

NMDC-268